छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समीक्षा प्रतिमान

हिन्दी समीक्षा के उद्भव और विकास के संदर्भ मे

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद की डी० लिट्० [हिन्दी] हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता · (डॉ०) हंसराज त्रिपाठी
एम० ए०, पी-एच० डी०
वरिष्ठ प्रवक्ता
हिन्दी विभाग
मुनीश्वर दत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ (अवध)

परामर्शदाता : प्रो० मोहन अवस्थी
एम० ए०, डी० फिल्० डी० लिट्०

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
१९९०

छायावादोत्तर युग-

विगत अर्द्धशताब्दी की काव्यसर्जना

के शलाका पुरुष

अज्ञेय

एवं

हिन्दी समीक्षा के पुरोधा,

सौष्ठववादी कृति के जनक

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

को

श्रद्धापूर्वक

समर्पित

- हंसराज त्रिपाठी

अनुक्रमणिका

पूर्व – कथन

छायावादोत्तर हिन्दी कविता समीक्षा मूल्यांकन एवं प्रतिमानीकरण की दृष्टि से विवादित, चर्चित तथा द्वन्द्व एवं द्विधा से युक्त है। 'नया साहित्य : नये प्रश्न,' 'रस-सिद्धान्त : नये संदर्भ,' 'नया हिन्दी काव्य,' 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,' 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध,' 'त्रिशंकु', 'अद्यतन हिन्दी कविता,' 'नयी कविता : स्वरूप और विकास,' 'नयी कविता : सीमायें- सम्भावनायें' 'हिन्दी नवलेखन,' 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' 'भाषा और संवेदना,' 'नई कविता,' 'अस्तित्ववाद और नयी कविता,' 'प्रतिक्रियायें,' 'फिलहाल,' आदि समीक्षा कृतियों में छायावादोत्तर काल की कविता का प्रतिमानीकरण विविध सन्दर्भों में किया गया है। 'हंस' 'रूपाम' उत्कर्ष, 'कृति' प्रतीक, आलोचना, तार सप्तक (भूमिका) 'क-ख-ग' नयी कविता, आदि पत्रिकाओं के माध्यम से समसामयिक कविता पर लिखी गयी समीक्षाओं में किसी न किसी प्रतिमान अथवा मूल्य को रेखांकित किया जाता रहा है। हिन्दुस्तानी, विश्वभारती, सम्मेलन पत्रिका, माध्यम, दस्तावेज, समीक्षा आदि साहित्यिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त हिन्दुस्तान, धर्मयुग आदि में भी नये साहित्य तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं को विगत २५ वर्षों से उठाया जाता रहा है। विगत अर्द्धशताब्दी की कविता तथा समीक्षा के इसी सन्दर्भित क्षेत्र को छायावादोत्तर हिन्दी कविता के 'समीक्षा प्रतिमान' का आधार बनाया गया है जहाँ से प्रस्तुत विषय के सूत्र ग्रहण कर 'कविता' 'समीक्षा' तथा 'प्रतिमान' के तीन बिन्दुओं के त्रिआयामी धरातल पर शोध-प्रबन्ध की निर्मिति हुई है। बीसवीं शताब्दी के छठें दशक तक प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, साठोत्तरी कविता के युग की स्वीकृति 'नये प्रतिमान पुराने निकष' 'नयी कविता के प्रतिमान' 'कविता के नये प्रतिमान' आदि कृतियों में हो चुकी है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की कृति पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए डा० नामवर सिंह ने जो स्थापनायें कीं उसकी अनुगूँज विभिन्न साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं और गोष्ठियों में सुनी जाती रही है। 'छायावाद का पतन' 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' '[illegible] हिन्दी

कविता पर एक बहस " " छायावादोत्तर हिन्दी कविता : मूल्यांकन की समस्या " आदि कृतियों और निबन्धों में " नयी कविता के प्रतिमान " बनाम "कविता के नये प्रतिमान " का जो क्रम आरम्भ हुआ, उसके केन्द्र में छायावादोत्तर हिन्दी कविता के प्रतिमानीकरण की समस्या रही है जिसके विवादित क्षेत्र में प्रवेश करके एक अध्येता की तरह कुछ कहना तथा पूर्व स्थापित प्रतिमानों को ठोंक बजाकर ग्रहण करना प्रस्तुत शोध-कार्य का लक्ष्य है।

हिन्दी के ख्याति लब्ध समीक्षकों तथा सर्जकों द्वारा समकालीन कविता के ग्रहण-आस्वादन एवं मूल्यांकन के लिए किये गये सार्थक प्रयास तथा आग्रही दृष्टि में से प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री का अनुसन्धान यहां योजनाबद्ध रूप में प्रस्तुत है जिसमें "परिमल " एवं " आलोचना " के तत्कालीन सम्पादक मण्डल से डा० रामविलास शर्मा एवं अन्य प्रगतिवादियों के विवाद के अतिरिक्त 'अज्ञेय और नगेन्द्र', आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० रघुवंश, डा० जगदीश गुप्त, डा० नामवर सिंह, मुक्तिबोध आदि के परस्पर टकराव की झलक विद्यमान है। "भारतीय साहित्यशास्त्र " तथा " हिन्दी आलोचना के उद्भव और विकास " के आलोक में छायावादोत्तर "काव्य-समीक्षा " का पुनर्मूल्यांकन इस कार्य का लक्ष्य है जिसकी पहल " आचार्य बाजपेयी " ने कई निबन्धों के माध्यम से की थी तथा डा० राममूर्ति त्रिपाठी, डा० शिवकुमार मिश्र, डा० प्रेमशंकर आदि समीक्षकों ने इन प्रश्नों को उठाते हुए आगे विस्तार दिया है। " भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज " तथा " भारतीय काव्यशास्त्र की नयी व्याख्या " में प्रतिपादित सम्भावनाओं को पाथेय बनाकर " अब रस नहीं मिलेगा " के विपरीत पुनः सौन्दर्य एवं रसध्वनि की खोज का प्रयास इस शोधप्रबन्ध में किया गया है।

प्रस्तुत विषय के शीर्षक "समीक्षा-प्रतिमान " में काव्यभाषा, प्रतीक, बिम्ब, अप्रस्तुत विधान, रसात्मकता, साधारणीकरण, सह-अनुभूति आदि के समायोजन के अतिरिक्त "सृजन और संघर्ष " संवेदना और शिल्प " अभिव्यक्ति की ईमानदारी "" अनुभूति की प्रामाणिकता " आदि समकालीन सन्दर्भों से भी जोड़ने का प्रयास किया गया है। "शैलीविज्ञान ; "शिल्पविधि, " रूप-विधान "

"अभिव्यंजना," "रीति-सिद्धान्त," तथा "साहित्य का समाजशास्त्र" एवं "रूप और कलावाद" सदृश अत्याधुनिक विषयों का सापेक्ष्य दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन एवं विश्लेषण शोध-प्रबन्ध के प्रणयन का उद्देश्य है। "आधुनिक हिन्दी कविता : आलोचना की चुनौती" तथा "आधुनिक हिन्दी समीक्षा" पर केन्द्रित विगत अर्द्धशताब्दी की कविता और उसके अनुशीलन को विभिन्न कोणों से जांचने और परखने की प्रक्रिया "छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समीक्षा प्रतिमान" का विषय है।

आधुनिक "हिन्दी कविता" तथा "समीक्षा" के केन्द्र में "छायावाद" एवं "छायावादोत्तर" ऐसी अभिधायें हैं जिनके विवेचन के साथ हिन्दी के पाठकों, सुधी समीक्षकों, अध्येताओं तथा विज्ञ आचार्यों के समक्ष प्रस्तुत प्रबन्ध स्वयं अपनी गुणदोषमयी सार्थकता लिए प्रस्तुत है।

इस विषय का शीर्षक तीन प्रमुख बिन्दुओं की ओर संकेत करता है- (१) छायावादोत्तर हिन्दी कविता, (२) कविता की समीक्षा, (३) समीक्षा के प्रतिमान। उपर्युक्त तीनों बिन्दुओं को एक दूसरे से मिलाकर प्रमेय रूप में छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा तथा सृजन को परखा किया गया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की सशक्त विधा "समीक्षा" को "संरचनावाद" या "साहित्य का समाजशास्त्र" जैसे संकुचित अनुशासनों की निरपेक्ष सीमा से बाहर करके कविता आदि अन्यान्य विधाओं के साथ ही "आधुनिक हिन्दी समीक्षा" की विकास-यात्रा पर भी दृष्टि डाली गई है। सुधी कृतिकारों और समीक्षकों की उपलब्धियों के सहारे प्रस्तुत विषय की विवादित भूमि में प्रवेश करना शोधकर्ता का दायित्व रहा है जिसकी परिणति है यह प्रबन्ध।

"छायावादोत्तर हिन्दी कविता" से तात्पर्य केवल प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, या साठोत्तरी कविता से नहीं अपितु छायावादी संस्कारों से मुक्त, गैर रोमाण्टिकता, "नव रहस्यवाद" स्वच्छन्दता, पलायनता, तटस्थता, निर्वैयक्तिकता तथा बनावट और बुनावट से है। कुण्ठा, त्रास, आत्मसंघर्ष, विसंगति और विडम्बना, अनास्था तथा "अस्मिता" के विरुद्ध किया जाने वाला संघर्ष भी इसके अन्तर्गत आता है। साहित्यशास्त्र के विभिन्नवाद तथा दर्शन, राजनीति,

मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि के विषयों के सहारे समीक्षा प्रतिमानों के निर्धारण का जो क्रम समसामयिक युग में प्रचलित हुआ है, अनुसन्धाता ने उनसे भी यथासम्भव सहायता ली है। शोध-प्रबन्ध को दो उपखण्डों में विभक्त कर प्रथम खण्ड की सीमा पूर्वपीठिका के अतिरिक्त सैद्धान्तिक प्रतिमानों के तीन अध्यायों तक विवृत की गई है। `काव्य` और `शास्त्र` के समन्वित अनुशासन से शोध-प्रबन्ध आरम्भ करके शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुशीलन हेतु रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य सिद्धान्तों की प्रासंगिकता पर भी दृष्टिपात किया गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा में समाहित सौन्दर्यशास्त्र की तुलनात्मक दृष्टि को इसी क्रम में उपयोग में लाया गया है। छायावादोत्तर हिन्दी कविता के प्रतिमानीकरण के सन्दर्भ में रस के प्रतिमान को प्रसंगानुकूलता, `अनुभूति,` `सह-अनुभूति`, `काव्यानुभूति` साधारणीकरण आदि की तात्विक दृष्टि से परखने के लिए शास्त्र की छायाओं को सायास उपस्थित किया गया है तथा शास्त्रीय प्रतिमानों को `आउटडेटेड` न मानकर इन्हें अब भी `प्रासंगिक` बताने का प्रयास इसमें सन्निहित है।

द्वितीय परिच्छेद मध्ययुगीन रीतिशास्त्र तथा कविता की अन्योन्याश्रित परम्परा से सम्बन्धित है। परम्परा और प्रयोग की समीक्ष्य धारा को उद्घाटित करके पूर्व मध्यकालीन हिन्दी कविता में प्रतिमानों की अमूर्त भूमिका तथा उत्तर मध्यकालीन कविता में युग और संस्कृति के दबाव से मूर्त रीतिशास्त्र को रेखांकित किया गया है। हिन्दी `रीतिशास्त्र` को काव्यशास्त्र का अनुकरण न मानकर इसे `कवि` तथा रसिकों की भूमिका के आलोक में विवेचित करना भी एक लक्ष्य है।

`समीक्षा प्रतिमानों की विवृत्ति आवृत्ति एवं पुनर्मूल्यांकन` से सम्बन्धित तृतीय अनुच्छेद में हिन्दी आलोचना के उद्गम और विकास पर सम्यक् दृष्टि डालकर भारतेन्दु युग से छायावाद युग तक की प्रायोगिक आलोचना को केन्द्र में रखा गया है। हिन्दी साहित्य में आगत `नवजागरण` तथा आधुनिकता के साथ `शुक्ल`, `प्रेमचन्द` `प्रसाद` युग की चिन्तधारा का प्रभाव छायावाद के साथ संवादी भूमिका निर्मित करता है जिसमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षकों के योगदान को इसी अध्याय में रेखांकित किया गया है।

द्वितीय खण्ड के ' चतुर्थ परिच्छेद ' से समीक्षा प्रतिमानों के संदर्भित प्रकरण की मुख्य समस्या आरम्भ की गई है। संदर्भित समीक्षा का ' वाद ' एवं ' आधुनिकता ' का प्रश्न तथा काव्यशास्त्र में काव्य के स्थान पर प्रगति, प्रयोग नयी कविता, लक्षण या शास्त्र के स्थान पर वाद की आवृत्ति भी अध्याय के अन्तर्गत एक विकास-यात्रा के रूप में देखी गई है। समकालीन समीक्षा की संवादी मुद्रा, द्वैत एवं द्विधा की संक्रान्ति को सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से प्रेरित मानकर नयी कविता के आंतरिक उपादानों का मूल्यांकन इसी अध्याय में किया गया है। प्रगतिवाद के साथ ही आगत पक्षधरता, स्वदेशीयता, तटस्थता तथा साहित्य की समाजशास्त्रीय परिणतियों का आकलन इसी प्रकरण में है। 'प्रयोग और प्रेषणीयता,' प्रगतिशीलता, आत्मसंघर्ष एवं संवेदनात्मक स्वर की पहचान इसी क्रम में है।

शोधप्रबन्ध के पाँचवें अध्याय में अभिव्यंजनाश्रित प्रतिमान काव्यभाषा, रूप और शिल्प तथा कलाविधान सम्बन्धी स्थापनाओं का अनुशीलन तथा प्रतीक, बिम्ब, मिथक, एवं फन्टेसी की पहचान भी इसी अध्याय में है। गीतात्मकता, नाटकीयता, गद्यात्मक-प्रयोग तथा अन्य भाषायी प्रयोगों की प्रतिमानगत अवधारणा को इसी के साथ विचार-बिन्दु बनाया गया है। छठें अध्याय का विवेच्य विषय नयी-समीक्षा : नये प्रतिमान, साहित्य का समाजशास्त्र, रूप एवं कलावाद, रीतिविज्ञान शैलीविज्ञान से सम्बन्धित है।

सातवाँ अध्याय नयी कविता की उपलब्धियाँ तथा समीक्षा और प्रतिमान के अन्तर्सम्बन्ध से युक्त है। ' नया ' क्या है तथा कविता क्या है कि प्रस्तावित समस्या को अन्तिम अध्याय में लाकर विगत अर्द्धशताब्दी की कविता-यात्रा पर एक दृष्टि पुनः डाली गई है। अन्त में ' समीक्षा प्रतिमानों के उपसंहार के साथ ही शोध-प्रबन्ध का समाहार किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के रूप में जो कुछ प्रस्तुत है उसका श्रेय विद्वान कृतिकारों तथा आचार्य गुरुजनों को है जिनकी कृतियों से सहायता लेकर अनुसन्धान, पुनर्मूल्यांकन, अध्ययन-मनन, अनुशीलन द्वारा विषय-स्थापन किया गया है। ' शोध-कार्य ' की विषय

स्वीकृति का श्रेय "अज्ञेय" डा० नामवर सिंह, डा० बच्चन सिंह, डा० देवराज, डा० निर्मला जैन, डा० रमेश कुन्तल मेघ तथा डा० जगदीश गुप्त को है। डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० रघुवंश से सुझाव परामर्श तथा मार्गदर्शन मिला है एतदर्थ उन सभी प्रणम्य विद्वज्जन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना शोधार्थी का परम कर्तव्य है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सर्वश्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, नरेश मेहता, मार्कण्डेय आदि ने समय-समय पर प्रतिमानों से सम्बन्धित कृतिकारों की अवधारणा से अवगत कराया है अत: इन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

शोध-कार्य के सत्परामर्शी प्रो० मोहन अवस्थी के प्रति आभार या कृतज्ञता-ज्ञापन "शिष्य की तुच्छता होगी क्योंकि वे केवल मार्गदर्शक ही नहीं अपितु प्रेरक, मंगल के आगार, उत्साहवर्धक एवं पितृवत शुभेच्छु भी हैं। अत: ऐसे प्रातःस्मरणीय गुरुदेव के प्रति पुन: पुन: नमन एवं वन्दन करना ही शिष्य की सीमा में है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर राजेन्द्रकुमार वर्मा, डा० योगेन्द्रप्रताप सिंह, दूधनाथ सिंह, डा० सत्यप्रकाश मिश्र, डा० रामकमल राय, डा० किशोरी लाल, डा० रामकिशोर आदि से प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन के अतिरिक्त अमूल्य सहयोग मिला है अत: उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना "अभिव्यक्ति की ईमानदारी है।

शोध-कार्य में भटकाव की स्थिति में डा० केदारनाथ सिंह, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, डा० प्रेमशंकर, आचार्य त्रिलोचन शास्त्री, डा० भगीरथमिश्र, डा० रामचन्द्र तिवारी, आचार्य विष्णुकान्त शास्त्रीसे मार्गदर्शन मिला है। अत: इस समय इनके प्रति भी आभार प्रदर्शन शोधकर्ता का पुनीत कर्तव्य है। इनके अतिरिक्त उन सभी विद्वानों के प्रति नमन वन्दन एवं आभार प्रदर्शन आवश्यक है जिनकी विचारधारा उनके निबन्धों से ग्रहण की गई है। मातृपीठ इलाहाबाद विश्वविद्यालय के "हिन्दी भवन" एवं पुस्तकालय की परिक्रमाओं का स्मरण होना इस समय स्वाभाविक है जहाँ प्रतिदिन प्रातःकाल से जाकर साधना सम्पन्न की गई है। गर्मी की छुट्टियाँ तथा अवकाश के समय में भी इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय के जिन कर्मचारियों ने सहयोग किया तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग के संग्रहालय का भी उपयोग इस शोध-कार्य के लिए किया गया वह वहाँ के लोगों की उदारमनस्कता का परिचायक है।

मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय के (निवर्तमान) प्राचार्य डा० जीवित उपाध्याय 'आशुतोष' की महती अनुकम्पा से ही एक वर्ष का सवेतनिक अध्ययन अवकाश मिला है जिससे यह गुरुतर कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है ऐसे विद्वान् मनीषी के प्रति किन शब्दों से कृतज्ञता ज्ञापित की जाय ? महाविद्यालय प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष पण्डित श्यामशंकर मिश्र का भी लेखक आभारी है जिन्होंने अवकाश स्वीकृति के अतिरिक्त पुस्तकालय में सामग्रियाँ उपलब्ध कराया है। अपने महाविद्यालय के हिन्दी विभाग के सभी वरिष्ठ एवं कनिष्ठ सहयोगियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के अतिरिक्त अपने शोध-छात्रों, स्नातकोत्तर कक्षा के छात्र एवं छात्राओं के प्रति भी साधुवाद एवं शुभकामना है जिनसे कुछ प्रश्न एवं सोचने की समस्यायें मिलती रही हैं। धर्मपत्नी- पुत्र- पुत्रियों एवं मित्रगण के प्रति भी हार्दिक साधुवाद के साथ--

—(डा०) हंसराज त्रिपाठी
प्रवक्ता हिन्दी विभाग
मुनीश्वरदत्त डिग्री कॉलेज, प्रतापगढ़

प्रतापगढ़ : बुद्धपूर्णिमा, बुधवार
९ मई १९९० ई०

पूर्वपीठिका

`छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समीक्षा प्रतिमान` विषय का मुख्य अभिधेय `छायावादोत्तर` में निहित है जो एक ओर समीक्षा से ग्रहण की गई प्रतिमानीकरण की अवस्था है तो दूसरी ओर हिन्दी कविता के शाश्वत रूप से समीक्ष्य युग की कविता और उसके प्रतिमानों में निहित नवीनता । `छायावाद` तथा `छायावादोत्तर` को पृथक करने वाले कविता में निहित प्रतिमान हैं जिनके अनुशीलन के लिए प्रस्तावित विषय को तीन बिन्दुओं की सीमा में व्यवस्थित रूप से देखने की योजना है।

(क) कविता और उसकी समीक्षा ।
(ख) समीक्षा के प्रतिमान ।
(ग) इन प्रतिमानों के आधार पर छायावादोत्तर युग की हिन्दी कविता का मूल्यांकन ।

प्रस्तावित विषय की समस्या को इस तरह भी लिया जा सकता है —

`छायावादोत्तर युग की हिन्दी कविता` की समीक्षा के लिए अपनाये जाने वाले प्रतिमानों का अनुशीलन । पूरी समस्या में मुख्यत: `कविता`, `समीक्षा`, प्रतिमान` की व्याख्या अपेक्षित है तथा इस विवेचन का आधार `छायावादोत्तर कविता` को बनाना है । छायावादोत्तर युग की कविता तथा उसकी समीक्षा प्रतिमानों की दृष्टि से इस तरह मिल गई है कि कभी प्रतिमान निर्मित करते हैं कविता को और कभी कविता जन्म देती है प्रतिमान को । अत: विषय का आरम्भ `काव्य-जिज्ञासा` से करना समीचीन है ।

`हिन्दी कविता और उसकी समीक्षा` परीक्षण मूल्यांकन अनुशीलन चिन्तन आदि क्रियाओं का व्यावहारिक रूप है जिसमें एक ओर शास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि की सैद्धान्तिक दृष्टियाँ हैं तो दूसरी ओर कला, संस्कृति आदि से गृहीत सौन्दर्य तत्व का समन्वय । `नाट्य शास्त्र`, `काव्यालंकार`, `काव्यादर्श`

`साहित्य दर्पण `, `काव्य-प्रकाश`, आदि ग्रन्थों के नाम में `काव्य` तथा उसके शास्त्रीय प्रतिमान का बिम्ब सन्निहित है जो परवर्ती कृतियों के लिए आदर्श तथा आवश्यकतानुसार `काव्यानुशासन` का भी आधार बना । उपर्युक्त नामों में नाट्य, काव्य तथा साहित्य लगभग समानार्थी हैं तथा आदर्श, शास्त्र, अलंकार, प्रकाश आदि सैद्धान्तिक मान्यताओं को द्योतित करते हैं । शास्त्रीय अनुशासन, उपयोगिता, प्रभावोत्पादकता, प्रयोजन एवं हेतु के अतिरिक्त इन ग्रन्थों में इसका भी संकेत है कि कविता क्या नहीं है अर्थात् `अदोषौ शब्दार्थौ ` या `दोष रहित होना ` ही गुण या अलंकृति की प्रथम अवस्था है जिसके बिना कविता कविता नहीं हो सकती ।

सामान्यत: `काव्य ` को साहित्य (वाङ्मय) का तत्त्व कहा जाता है जिसकी अस्मिता इसके गुण, प्रभावोत्पादकता, रसात्मकता तथा व्यंजनाश्रित शब्दों के प्रयोग के कारण सुरक्षित है । काव्य के इन्हीं तत्त्वों में से किसी एक को मुख्य तत्त्व कह कर शेष `तत्त्वों ` को उसी में समाहित करने की परम्परा भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा है जिसके सहारे `कविता` की परिभाषा तथा उसके लक्षणों का निर्धारण होता रहा है । काव्य-शास्त्र का प्रणयन, काव्यानुशासन का निर्धारण तथा `कविता क्या है ` की परम्परा अन्योन्याश्रित है । काव्य-शास्त्र का वर्तमान संदर्भित आरम्भ आचार्य भामह से मानना चाहिए । भामह ने काव्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए काव्य के प्रमुख तत्त्व `गुण ` की स्थापना की[1] किन्तु `सौन्दर्य `, `वक्रोक्ति` तथा अलंकार को उन्होंने इस प्रकार एकमेक कर दिया कि वह रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा काव्य के गुण धर्म-प्राण का समन्वित तत्त्व हो गया । `काव्यालंकार ` की इस स्थापना से यह भी स्पष्ट है कि सामान्य उक्ति काव्य नहीं है, वक्राभिधेय शब्दों की उक्ति जो सौन्दर्य से युक्त हो वह काव्य है, जिसमें वाणी का काम्य `अलंकार` विद्यमान हो[2] । `अलं ` का

१- शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । -काव्यालंकार, भामह, १-१६

२- वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति: । - वही ,, , १-३६

अर्थ होता है पर्याप्त । व्याकरण शास्त्र का `अल्` प्रत्याहार अइउण्-ऋलृक् आदि के `अ` से आरम्भ होकर अंत में `ल्` हल् पर्यन्त समस्त वर्ण भगवान शंकर की प्रदत्त मेधा के परिणाम हैं जिन्हें प्रदान करने वाले गुण को `अलंकार` कहा जाता है । आचार्य वामन ने सौन्दर्य को ही अलंकार बताते हुए कहा है कि `काव्य को अलंकार अर्थ में ग्रहण करना चाहिए तथा जिस शास्त्र या रीति द्वारा काव्य में सौन्दर्य का आधान होता है वह `रीति` ही काव्य की आत्मा है[1]। उन्होंने यह भी बताया है कि सामान्य पद के विपरीत `विशिष्ट पदों की रचना रीति है` तथा विशिष्टता गुणात्मकता है[2]। भामह, वामन, दण्डी, रुय्यक तथा रुद्रट आदि अलंकारवादी ( सौन्दर्यवादी) आचार्यों द्वारा काव्य-सौन्दर्य के सूक्ष्म विवेचन किये गये, जिन्हें `रीति सम्प्रदाय` तथा `गुण सम्प्रदाय` के रूप में भी उदित किया जाता है । आचार्य दण्डी ने गुणों को निरपेक्ष रूप में काव्य की आत्मा स्वीकार कर अलंकार को महत्त्व दिया । उन्होंने `गुण` और अलंकार में भेद करते हुए अलंकारों को `काव्य शोभा कारक धर्म (गुण) कहा[3]। रुद्रट की दृष्टि अधिक समन्वयवादी थी जिन्होंने अलंकार और `रस` का समन्वय किया । आचार्य उद्भट ने गुण और अलंकार को चारुत्व का हेतु कहा, इनके अनुसार गुण संघटना रीति के आश्रित है तो अलंकार शब्दार्थ के[4]। साहित्य शास्त्र की परम्परा में `वामन` को रीतिवादी कहा जाता है किन्तु काव्य का काव्यत्व अलंकार में, तथा सौन्दर्य ही अलंकार है जो विशिष्ट पदों की रचना रीति द्वारा कविता में आता है, ऐसे कथन द्वारा उन्होंने अलंकारों को सहज सौन्दर्य में अभिवृद्धि कारक कहा[5]।

अलंकारवादियों की इन परिभाषाओं के अन्तर्गत बाह्य सौन्दर्य,

१- काव्यालंकार सूत्राणि - (वामन) सं० केवल भाग २- (६,७,८) सं० २०३३

२- विशेषो गुणात्मा - काव्यालंकारसूत्र - (वामन) - (२-८)

३- काव्य शोभा करान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते - काव्यादर्श - (दण्डी)

४- भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा - सं० डा० नगेन्द्र

५- (i) रीतिरात्मा काव्यस्य,(ii) विशिष्टा पद रचना रीतिः,
(iii) विशेषो गुणात्मा - काव्यालंकारसूत्र-(वामन)

'चमत्कृति', 'शोभाकारक गुण धर्म' तथा 'विशिष्ट पदों की रचना' को महत्व दिया गया है। आचार्य भरतमुनि के 'रसदर्शन' को बाह्य-सौन्दर्य से जोड़कर अलंकार और रीतिवादी आचार्यों ने 'वक्रोक्ति' के लिए मार्ग प्रशस्त किया। 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि'[1] द्वारा आचार्य कुन्तक ने भामह की 'वक्रोक्ति' को व्यापकता प्रदान कर 'उक्तिवैचित्र्य' में रस अलंकार, रीति, सौन्दर्य आदि अवयवों को समाहित कर लिया। काव्य प्रकाशकार मम्मट की 'अनलंकृती पुन: क्वापि' स्थापना में दोष रहित गुण युक्त शब्दार्थमयी रचना को काव्य कहा गया।[2] आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'[3] तथा पण्डितराज जगन्नाथ की 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाली' परिभाषा में 'वाक्य' तथा 'रमणीयता' में 'काव्य' का 'तत्व' निहित कहा गया। 'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' ने विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहा। 'ध्वनि' तथा 'रस' का समाहार करते हुए 'वस्तुध्वनि', 'रस-ध्वनि', तथा 'अलंकार-ध्वनि' की व्याख्या के साथ ही आनन्दवर्द्धन की स्थापना तथा अभिनवगुप्त की प्रतीयमान अर्थ की अवधारणा काव्य-लक्षण तथा परिभाषा की दृष्टि से क्रान्तिकारी कदम है। काव्य-प्रकाशकार मम्मट तथा रसगंगाधर के प्रणेता पंडितराज जगन्नाथ ने 'कविता' की गुणात्मक व्याख्या द्वारा काव्य को समय सापेक्ष तथा काल सापेक्ष बनाया।

नाट्य (दृश्य काव्य) से आरम्भ होकर काव्य (श्रव्य काव्य) तक चलने वाली भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा के परवर्ती चरण में 'वक्रोक्ति' ध्वनि तथा साधारणीकरण की नवीन व्याख्यायें की गई हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र की व्याख्या तथा 'कविता' की जिज्ञासा में प्रधानता सहृदय, प्रमाता या प्रेक्षक को दी गई है। पाश्चात्य समीक्षा का आरम्भ भी 'दृश्यकाव्य' की

१- वक्रोक्ति जीवितम् - (कुन्तक)

२- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि - काव्य-प्रकाश- (मम्मट)

३- साहित्यदर्पण - (विश्वनाथ)।

समाज सापेक्षता से हुआ जिसके केन्द्र में सर्जक या प्रेषिता है ।

हिन्दी समालोचना के उद्भव काल से `काव्य-जिज्ञासा` को युग जीवन एवं सहृदयजन से जोड़ने के लिए साहित्य शास्त्र और `रीति विज्ञान` से मुक्त कर दिया गया । (सुकवि किंकर) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शास्त्रीय जटिलता से उबारने के लिए `कवि कर्तव्य` तथा `कवि और कविता` शीर्षक निबंध लिखे जो आचार्य शुक्ल जी के अनुसार `कविता के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातों का सामंजस्य है` जबकि उनका निबन्ध `कविता क्या है` भी उसी समय १९०९ ई० में सरस्वती में छपा था[1]। शुक्ल जी द्वारा अलंकार, चमत्कृति तथा कल्पना की उड़ान का विरोध पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा का प्रतिफल है । आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा था कि `गद्य और पद्य कविता का लक्षण नहीं है` तथा सब छन्दोबद्ध रचना कविता नहीं होती[2]। आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि में `कविता क्या है` पर परिष्कृत निबन्ध लिखने के अतिरिक्त `काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था` साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद` आदि निबन्धों द्वारा कविता` के लक्षण समझाने का प्रयास किया । `भाव दशा`, `रस दशा` तथा `ज्ञान दशा` के सहारे कविता के भावलोक को कर्मलोक के समकक्ष लाकर आचार्य शुक्ल ने `मनुष्य की वाणी के शब्द-विधान को कविता` कहा तथा शब्द-विधान का उद्देश्य `रस दशा` की अभिव्यक्ति बताया[3]। आचार्य शुक्ल ने `हृदय की मुक्तावस्था` द्वारा रस के आनन्द पक्ष पर बल दिया किन्तु उनका 'विरुद्धों का सामंजस्य" वाला मत `दु:ख सुखात्मको रस:` के निकट लगता है । पाश्चात्य `अभिव्यंजनावादी क्रोचे` की मान्यता `अभिव्यंजना की आन्तरिक प्रक्रिया` के विरुद्ध शुक्ल जी ने `सहृदयात्मिका`, `रस-दशा` को मान्यता दी है[4]। डा०

१- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० सं० २०८, सं० १९८६ ।

२- कवि कर्तव्य - `साहित्य निबन्ध` सं० डॉ० गौरीशंकर मिश्र तथा डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ०सं० ५२, सं० - वही ।

३- चिन्तामणि - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (कविता क्या है) ।

४- " " "

नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल को `स्वच्छन्दतावाद` का पृष्ठ पोषक कहा है[1]। आचार्य शुक्ल की परिभाषा में विलियम वर्ड्सवर्थ का `स्पान्टेनस ओवर फ्लो` `हृदय की मुक्तावस्था` तथा भाव-दशा `फ्राम इमोशन` तुलनीय है। इसी प्रकार `रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्वेलिटी` भी छायावादी कवि प्रसाद की परिभाषा में गूँजता है[2]। `आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति` जिसका सम्बन्ध `विश्लेषण` विकल्प या विज्ञान में नहीं है वह एक `श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा` है[3]। इस परिभाषा में `श्रेय-प्रेय` उपनिषद् काल का परवर्ती रसचिन्तन है। `आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति` `आत्मा की मुक्तावस्था` के सम तुल्य है। सुमित्रानन्दन पन्त ने भी `कविता को पूर्ण क्षणों की वाणी` कहा। उत्कृष्ट क्षणों में जीवन का छन्दमय प्रवाह (आह से उपज कर गीत बन जाता है)। `उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है[4]।` `छाया` को अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर मानने के साथ-साथ ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता सौन्दर्य का प्रतीक विधान `उपचार वक्रता` स्वानुभूति की विवृत्ति ऐसी विशेषताओं द्वारा काव्य के भाव पक्ष, कलापक्ष, मूर्तविधान तथा प्रभावोत्पादकता पर प्रकाश डाला गया है।

छायावाद युग में `कविता क्या है` से आगे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने `काव्यानुभूति`, `रसानुभूति` तथा कल्पना में आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी भावात्मकता को समेटते हुए आचार्य शुक्ल के बन्धन को ढीला करने का प्रयास किया है। वाजपेयी जी ने कहा कि `काव्य का महत्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है किसी बाहरी वस्तु में नहीं[5]।` काव्य और साहित्य की

१- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, पृ० ३३, सं० १९८२

२- `पोयेट्री इज स्पॉन्टेनस ओवर फ्लो आफ पावरफुल फीलिंग्स। इट टेक्स इट्स ओरिजिन फ्राम इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्वेलिटी`

३- काव्य कला और अन्य निबन्ध - प्रसाद (छायावाद और यथार्थवाद)

४- पल्लव - भूमिका, पृ० २१, सं० २००५

५- हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ९०, सं० १९७७।

स्वतंत्र सत्ता नकारते हुए भी वाजपेयी जी ने आगे कहा कि `काव्य तो मानव जीवन की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है ।`[1] `उद्भावनात्मक` या सर्जनात्मक शक्ति (क्रियेटिविटी) को महत्व देने का कारण है, शुक्ल जी द्वारा छायावाद पर लगाये गये आरोप से `प्रसाद` को मुक्त करना । शुक्ल जी ने आध्यात्मिक रहस्यवादी तथा चमत्कारपूर्ण काव्य को श्रेष्ठ काव्य की श्रेणी में नहीं रखा था किन्तु वाजपेयी जी ने आई० ए० रिचर्ड्स के `कला कला के लिए` सिद्धान्त के निकट लाकर `कविता कविता के लिए` का सिद्धान्त छायावादी युग में प्रतिपादित किया । उनका मत संस्कृत काव्य-शास्त्र के अलंकारवाद के निकट है ।

हिन्दी समीक्षा के उद्भव काल से छायावाद युग तक `कविता क्यों है`की जिज्ञासा के क्रम में समीक्षकों द्वारा समय-समय पर जो विचार किये गये उनमें `युगानुरूप तात्कालिक मूल्यों के अनुरूप कविता की परिभाषा में भी परिवर्तन होते गये । कविता की परिभाषा, लक्षण तथा अनुशासन के लिए जो प्रतिमान प्रयोग में लाये गये उनका उद्गम शास्त्र से नहीं अपितु कविता को युगजीवन से जोड़ने के साथ उसकी युग-सापेक्ष व्याख्या से हुआ । `कविता` पर सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के समष्टि एवं व्यष्टिगत प्रभाव के कारण जैसे-जैसे उसके रूप में परिवर्तन होता गया वैसे वैसे परिभाषा और काव्यानुशासन में भी परिवर्तन हुआ । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के अनुपालन में डॉ० नगेन्द्र ने भी `कविता क्या है` निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने सौन्दर्य, `भाव` तथा `कल्पना` तत्वों के समन्वय को कविता कहा ।[2] डा० नगेन्द्र की इस परिभाषा में भारतीय काव्य-शास्त्र की `वाक्यं रसात्मकं काव्यं` तथा `रमणीयार्थ-प्रतिपादक: शब्द: काव्यं` के समर्थन के साथ ही `रमणीयता` की व्याख्या में कहा गया है कि -`भावों के

१- हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १७, सं० १९७० ।

२- आस्था के चरण - डा० नगेन्द्र, पृ० ११८, संस्करण १९६८ (नेशनल) ।

सभी रूप रमणीय नहीं हो सकते, जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके।[१] कविता की प्रभावोत्पादकता के लिए इन्होंने छन्द आवश्यक बताया तथा रस, रमणीयता, उक्ति वैचित्र्य के समन्वय को कविता के लिए अनिवार्य कहा। छन्दोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थों में कविता है[२]। रस को व्यापक बताकर 'रस सिद्धान्त' की मान्यता की पुष्टि में डा० नगेन्द्र ने 'सौन्दर्यानुभूति' तथा 'कलानुभूति' को काव्य के क्षेत्र में पुन: प्रतिष्ठित किया। उपर्युक्त परिभाषा में अभिनवगुप्त देव पंडितराज जगन्नाथ और आचार्य विश्वनाथ की मान्यताओं का समन्वय तथा अपने प्रमुख कवि 'पन्त' की दृष्टि का समर्थन है।

'छायावाद' युग तक स्वच्छन्द कल्पना 'मृदु रसावेश', 'आह से उपजा गान' तथा 'नव नवी प्रिय रचना' का प्रभाव ऐसा गम्भीर था कि वही डा० नगेन्द्र के काव्यालोचन का आधार बन गया। इन परिभाषाओं के अतिरिक्त डा० जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता' को कविता से पृथक करने के क्रम में कविता की नयी परिभाषा दी जो डा० नामवर सिंह के अनुसार छायावादी परिभाषाओं से अलग नहीं है[३]। इसी क्रम में डा० गुप्त की परिभाषा का उद्धरण देते हुए डा० नामवर सिंह ने 'कविता क्या है'[४] लिखा किन्तु डा० जगदीश गुप्त, डा० नगेन्द्र तथा आचार्य शुक्ल की परिभाषाओं को अपूर्ण बताते हुए नयी-पुरानी कविता-अकविता', 'अच्छी कविता-बुरी कविता' से डा० सिंह ने कविता सम्बन्धी पूरी पैठ और समझ का परिचय देकर भी कविता को परिभाषित करने का खतरा

१- आस्था के चरण - डा० नगेन्द्र, पृ० १२०, संस्करण १९६८

२- ,, ,, पृ० १२१, संस्करण १९६८

नहीं लिया[1]। डा० मोहन अवस्थी की परिभाषा - कविता लय भाव बिम्बित मनोरम वाणी है। वह चित्र मूर्ति संगीत जगत का सूक्ष्म जगत अपने में निहित किये हुए है।[2] डा० अवस्थी का यह दृष्टिकोण कविता का शाश्वत तत्व जानने के लिए सबसे सटीक तथा लय (गेयता) भाव (रस) बिम्बित (अप्रस्तुत विधान) मनोरम (रमणीयता) आदि तत्वों की ओर भी संकेत है।

कविता की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न सम्प्रदाय के समर्थक आचार्यों ने कविता को भी उसी सिद्धान्त के अनुरूप व्याख्यायित और रेखांकित किया है। परिभाषा चाहे संस्कृत के आचार्यों की हो अथवा हिन्दी या अंग्रेजी समीक्षकों की किन्तु कल्पना, सौन्दर्य, प्रभावोत्पादकता, रसात्मकता, ध्वनि `वक्रोक्ति` गेयता या लय विधान आदि को किसी न किसी रूप में मान्यता मिलती रही। कभी छन्द की पायल उतारने वाली `नयी` को सराहा गया तो कभी `खुल गये छन्द के बन्ध गय क्या छुई स्वरों की पातें` कह कर किसी की कमजोरी छिपात की गई। मत-मतान्तर, वाद-प्रतिवाद और खण्डन-मण्डन जीवन्तता का लक्षण है। `कविता` को शाश्वत मानकर उसी सीमा में उसकी परिभाषा करने तथा कविता के तत्वों को परखने की भी प्रतिभा समीक्षकों में देखी जाती है किन्तु `क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः` युक्त कविता की `छवी लिखने वाले` जगत के चतुर चितेरे` आने वाली पीढ़ी के समीक्षकों के लिए दूर होते रहे।

कविता प्रेषणीय हो, प्रेषणीयता अभिव्यंजना तथा लयात्मकता के कारण होती है, अभिव्यंजना का सौन्दर्य-युक्त होना भी हर युग में कविता का गुण माना गया है। सौन्दर्य, सरलता, अलंकृति, प्रभावोत्पादकता तथा ज्ञान और

तर्क की अपेक्षा भाव तथा जीवन संदर्भों से युक्त होना भी काव्य का शाश्वत लक्षण रहा है । इस प्रकार मन की अनुभूतियों की लयात्मक अभिव्यंजना प्रेषणीयता से युक्त होकर कविता कहलाती है । गद्य अथवा काव्य की भाषा में नयी समीक्षा में कोई अन्तर न करके नयी कविता की भाषा को सपाटबयानी से युक्त कहा गया है किन्तु `काव्य-भाषा` होने के बाद गद्यात्मक-भाषा गद्यात्मक नहीं रह जाती है । जिस प्रकार `अकविता` भी कविता की परम्परा से ही जोड़कर पढ़ी जांची और परखी जाती है उसी प्रकार कविता की भाषा निश्चय ही कविता के गुणों से युक्त होनी चाहिए । सारांश यह कि `कविता` तभी कविता हो सकती है जब वह अन्य विधाओं की तुलना में सशक्त तथा प्रभावोत्पादक हो । मित कथन कविता की अनिवार्य शर्त है तथा कविता कोरे फतवे भारे तथा घोषणाओं से भी बाचाल होने से बची रहनी चाहिए ।

कविता और उसकी समीक्षा

काव्य-सर्जना तथा समीक्षा का सम्बन्ध -

कविता की दी जाने वाली परिभाषाओं और काव्य-लक्षणों का सम्बन्ध काव्य-सर्जना से होता है। सृजन में आने वाला विधान तथा निर्मिति के बाद शिल्पविधि के रूप में की गई अभिव्यंजना का सम्बन्ध रचनाकार के बाह्य और अन्तर्जगत से होता है। कला के रूप में स्वीकृत कविता के दो पक्ष होते हैं। प्रथम पक्ष कविता के तत्वों से सम्बन्धित होता है। जिसके अन्तर्गत अनुभूति-अभिव्यक्ति, तथा भाव रसादि आते हैं। दूसरा पक्ष कविता का रूपात्मक पक्ष है जिसमें रीति, शैली, अलंकार विधान, अप्रस्तुत योजना, बिम्ब एवं प्रतीक योजना का ग्रहण एवं मूल्यांकन होता है। इसी रूपात्मक पक्ष को काव्य-शिल्प कहा जाता है। कविता के तंत्र एवं शिल्प पक्ष का ग्रहण, विवेचन मूल्यांकन तथा जीवनगत उपयोगिता-गुण दोष विवेचन आदि समीक्षण कहा जाता है। कविता की भावगत तथा रूप एवं शिल्पगत समीक्षा दूसरी प्रक्रिया है जिसके द्वारा कृति के गर्भ में विद्यमान तत्वों से साक्षात्कार किया जाता है।

`समीक्षा`, `समीक्षण` शब्द का स्त्रीलिंग है जिसकी व्युत्पत्ति है - सम् (पूर्व + ईक्ष (देखना) ल्युट् (प्रत्यय),. जिसका शाब्दिक अर्थ है भलीभांति देखना[1] इसी से मिलता जुलता शब्द परि + ईक्षण = `परीक्षण` है जिसका अर्थ होता है परीक्षा करना, परखना या जांचना। अंग्रेजी में इसे `क्रिटिसिज्म` कहा जाता है। `समीक्षा` से मिलता-जुलता अन्य शब्द `आलोचना` तथा `समालोचना` है। सम् (पूर्व)+ लुच् (देखना) + ल्युट् (प्रत्यय) से `समालोचन` शब्द बनता है, जिसे स्त्रीलिंग में समालोचना शब्द बना है। आलोचना इसी समालोचना से विकसित शब्द है जिसका पूर्व प्रयुक्त `सम्` लुप्त हो गया है। `समीक्षा` तथा `समालोचना` शब्द में स्थित घटक (मेदक) तत्वों में प्रमुखता लुच्-लोच = देखना अथवा ईक्ष - आँख से देखने की है। दृश् धातु से दर्शन, लोच् से

१- सम् (पूर्व) ईक्षणम् (स्त्री.) ईक्ष भावे ल्युट् - दर्शन

अवलोकन, पुनरावलोकन आदि शब्द भी बनते हैं जो देखने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। काव्य दर्शन या काव्यालोचन की प्रक्रिया सौन्दर्यानुभव की प्रक्रिया है जिसमें सर्जना के किसी एक तत्व का अवलोकन नहीं किया जाता। कुछ शब्द पद या किसी तत्व विशेष— रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि से गृहीत अर्थ या रमणीयता से साक्षात्कार समालोचना नहीं है। कृति के विभिन्न तत्वों को प्रमाता या समालोचक (सहृदय) अपने मानस में टुकड़े, अंश या भाग में देखकर उनको जोड़ कर सम्पूर्ण की परिकल्पना करता है। कृति की बनावट या बुनावट पर ध्यान केन्द्रित कर उसका विवेचन समालोचना की प्रक्रिया है।

'आलोचना' तथा 'समालोचना' में उपयुक्त शब्द समालोचना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य काल की विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत 'समालोचना' का प्रयोग किया है। 'आलोचना' किसी रचनात्मक विधा के बौद्धिक एवं समीक्षात्मक विश्लेषण की ऐसी संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसमें कृति के सन्दर्भ में उद्भुत रचनात्मकता और मूल्यवत्ता का युगपत् विवेचन किया जाता है[१]।

सर्जना की समीक्षा या आलोचना के लिए अपनाया जाने वाला अन्य शब्द 'मूल्यांकन' है। मूल्यांकन और समीक्षण में अन्तर करते हुए डा० राममूर्ति त्रिपाठी तथा आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा है कि समीक्षण में कृति के समस्त रचनात्मक एवं सौन्दर्य तत्वों का साक्षात्कार किया जाता है, जबकि मूल्यांकन में किसी उद्देश्य या लक्ष्य विशेष के लिए कृति का अवलोकन या ग्रहण किया जाता है। जैसे आचार्य शुक्ल ने तुलसी के काव्य की तुलना में सूर के काव्य का मूल्यांकन किया है न कि समीक्षण।

समीक्षा के साथ-साथ चलने वाली क्रिया मूल्यांकन है। मूल्य शब्द अंग्रेजी के 'वैल्यू' से अनुवादित है। किसी वस्तु या कृति की मूल्यवत्ता उसकी

१- आलोचक और आलोचना - डा० बच्चन सिंह, पृ० २०३, सं० १९७७।

उपयोगिता, प्रभावोत्पादकता, सुन्दरता तथा पूर्णता में होती है । मुल्य का दूसरा समानार्थी शब्द `मान` भी है जो वर्तमान युग में अर्थशास्त्र में `वर्थ` के अर्थ में प्रयुक्त होता है । मुल्य या मान का अर्थ दार्शनिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में `अर्थ` किया जाता है । महत्व, उपयोगिता `मान` का सम्बन्ध विनिमय या लेन देन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । मुल्य किसी वस्तु या उसकी समानधर्मा वस्तु के लिए मुद्रा में अंकित विनिमय की दर भी होती है[१]। हिन्दी शब्द सागर में मान के लिए मापने तौलने के साधन, अहंकार-गर्व, शेखी - 'यह समझना कि हमारे समान कोई नहीं है' आदि अर्थ दिये गये हैं । श्रीधर भाषा कोश में `मान` का अर्थ अंदाज, माप: परिमाण, तथा घमण्ड करना है और अन्य अर्थों में सामर्थ्य, क्रय शक्ति, क्षमता या अर्थवत्ता है । `सौन्दर्यशास्त्र` में प्रयुक्त होने पर मुल्य या `मान` Value (वेल्यु) का अर्थ हो जाता है कोण, महत्व, अनुभव की योग्यता । फ्रांसीसी भाषा में यह शब्द `हाइयस्ट` के अर्थ में प्रयुक्त होता है । `वेलोर`- अनुपम या सर्वश्रेष्ठता का मानक है । इन अर्थों के अनुरूप जब किसी कलात्मक कृति के मुल्यांकन की चर्चा की जाती है तो इसका अर्थ `आलोचना` या `समालोचना` से ही मिलता जुलता है । `मान` या `मुल्य` की वर्तमान अर्थवत्ता की अभिवृद्धि का श्रेय गणित, अर्थशास्त्र तथा विज्ञान को भी है । दर्शनशास्त्र में प्रचलित शब्द `माता` `मान` `मेय` है, जिसमें `प्र` जोड़कर प्रमाता, किन्तु प्र + मान नहीं अपितु प्रतिमान तथा `प्रमेय` बनते हैं ।

समीक्षा, परीक्षण, आलोचन, मुल्यांकन : `एक अध्ययन` आदि शब्दों की सीमा में प्रवेश करने पर भी सबसे किंचित भिन्न है ≠ `सौन्दर्यानुभव`। समीक्षा के लिए पूर्व प्रचलित शब्द `काव्य-शास्त्र` की तरह 'सौन्दर्य में विज्ञान या दर्शन वाची शब्द `शास्त्र` जोड़कर `सौन्दर्य-शास्त्र` बना है जो कलात्मक कृतियों में निहित सौन्दर्य का (तद्विषयक) सिद्धान्त है । काव्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र` की तुलना करके डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के मत

१- हिन्दी शब्द सागर - सं० डा० श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा

का उल्लेख करते हुए लिखा है कि विचारकों का एक वर्ग . `काव्य शास्त्र ` की तुलना में `सौन्दर्य शास्त्र` को संकुचित मानता है । इस मत के समर्थकों का कहना है कि `काव्य शास्त्र` यदि काव्य का शास्त्र है तो काव्य कला समस्त कलाओं में श्रेष्ठतम कला है । अत: चित्र, मूर्ति, संगीत और स्थापत्य कलाओं से सम्बन्धित सौन्दर्य शास्त्र का आधार है `कृति` का सौन्दर्य या कलात्मक सौन्दर्य । विचारकों का एक वर्ग यह भी मानता है कि `काव्य-शास्त्र` केवल काव्य का शास्त्र है जबकि सौन्दर्य शास्त्र सभी कलाओं का `श्रेष्ठतम` शास्त्र है[1]। `एस्थेटिक्स` के नाम से । अनुवाद करके । कला समीक्षा में लाये गये एक विषय के रूप में भले ही `सौन्दर्य शास्त्र` नया हो किन्तु `सौन्दर्य ` शब्द का पर्यायवाची `रम्य ` वैदिक और लौकिक संस्कृत में `प्राकृतिक` तथा मानवीय ` सुन्दरता के लिए रामायण,महाभारत, आदि कृतियों में आया है । मानवीय अनुभूतियों के क्रम में `प्लेटो ` की रिपब्लिक में `एस्थेटिक इमोशन ` `सौन्दर्यानुभव` शब्द का प्रयोग पुराना है । पाश्चात्य `समीक्षा शास्त्र` में `एस्थेटिक्स` शब्द का प्रयोग काव्य शास्त्र के पर्याय रूप में परवर्तीकाल में आया । साहित्यशास्त्र, काव्य-शास्त्र, समीक्षा ( शास्त्र ), आलोचना ( शास्त्र ) के लिए क्रमश: पोयटिक्स, क्रिटिसिज्म, `क्रिटिकल एप्रीसियेशन` शब्द भी प्रचलित हैं । आधुनिक हिन्दी समीक्षा में व्यवहृत शब्द `आलोचना` या `समालोचना` `काव्य-शास्त्र` या साहित्य-शास्त्र का नवीन नाम है किन्तु जिस प्रकार `साहित्य` व्यापक है और `काव्य` उसका सूक्ष्म तत्व है उसी प्रकार `साहित्य शास्त्र` व्यापक है तथा काव्य-शास्त्र उससे सूक्ष्म एवं दार्शनिक विषय है । `रीति शास्त्र` या `रीतिविज्ञान` काव्य की रीति को साबित करने वाला शब्द है । डा० नगेन्द्र ने उत्तर मध्यकालीन हिन्दी कविता के लिये `रीति काल ` से ग्रहण किये गये `रीति ` शब्द में काव्य जोड़ कर `रीति काव्य ` शब्द बनाया है[2]। जबकि रीति तो काव्य की विशिष्ट पदों

१- भारतीय सौन्दर्य शास्त्र - डा० नगेन्द्र (भूमिका)

२- रीतिकाव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र

की रचना शैली या स्टाइल होती है । जब युग विशेष के क्लासिकल (शास्त्रीय) `सिद्धान्त ` को एक आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो रीति में सिद्धान्त या शास्त्र जोड़कर रीति सिद्धान्त या रीति शास्त्र शब्द बनता है ।

भारतीय काव्य शास्त्र के सन्दर्भ में इस `काव्य-सिद्धान्त` विषय को विभिन्न नामों से जाना गया है । जिस प्रकार संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी युगीन नाम है और इन सब का अर्थ `आर्य-भाषा` ही है उसी प्रकार `साहित्य-शास्त्र`, `काव्य-शास्त्र`, `अलंकार-शास्त्र` `रीति-शास्त्र` रीति-सिद्धान्त, समालोचना, समीक्षा, आलोचना (नयी) समीक्षा ` आदि नाम `पोयेटिक्स ` के अर्थ में प्रयुक्त होने के बाद आज` वेल्यूयेशन` क्रिटिसिज्म,क्रिटिकल एप्रीसियेशन आदि अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं ।

साहित्य शास्त्र, काव्य शास्त्र, अलंकार शास्त्र से आरम्भ होकर समालोचना, आलोचना तथा समीक्षा तक आने वाले इस विषय के नाम से ही स्पष्ट है कि `काव्य` तथा `शास्त्र ` दोनों अन्योन्याश्रित हैं । काव्य यदि रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला कवि कर्म है जो कृति रूप में शब्द और अर्थ के सहयोग से गुणवत्ता प्राप्त करके बनता है तो `शास्त्र` उसी काव्य पर शासन, अनुशासन या नियमन करने वाला दर्शन या `ज्ञान` है । `काव्य ` का प्रतिनिधित्व करने वाली कविता (हिन्दी कविता) तथा शास्त्र का प्रतिनिधित्व करने वाली `समीक्षा` को एक साथ रखकर `कविता की समीक्षा शब्दसमूह प्रस्तुत विषय के लिए प्रयुक्त हुआ है । `काव्य-समीक्षा` प्रयुक्त करने का अन्य उद्देश्य है कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि विधाओं की समीक्षा के व्यापक रूप से `काव्य समीक्षा` का पृथक्करण ।

समीक्षा-शास्त्र या समीक्षा-दर्शन का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक भेद भी सर्व विदित है । सैद्धान्तिक समीक्षा में समीक्षा के तात्त्विक पक्ष का ज्ञान होता है तथा व्यावहारिक समीक्षा में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाज-शास्त्रीय अनुशीलन किया जाता है । हिन्दी समीक्षा या हिन्दी समालोचना आज `शास्त्र ` के सघन पक्षों का परित्याग कर व्यावहारिक

समीक्षा के रूप मे विशेषकर उपयोग में लाई जा रही है ।

`साहित्य शास्त्र` की परम्परा में रस अलंकार-ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य की स्थापना से आज की `समाजशास्त्रीय` तथा रूप एवं कलावादी हिन्दी समीक्षा के काल तक चली आती मान्यताओं के आधार पर कृति (सर्जना) तथा समीक्षा के परस्पर सम्बन्ध तथा उनकी महत्ता पर भी प्रकाश पड़ता है । `सर्जना` का महत्व सर्वोपरि है क्योंकि `कविता` की सर्जना पहले हुई और उसके मूल्यांकन का कार्य बाद में हुआ । भारतीय काव्य शास्त्र के `कतिपय` ग्रन्थ काव्य भी है और शास्त्र भी । यथा `रसगंगाधर`, `काव्यप्रकाश` तथा `साहित्य दर्पण` में कारिका एवं वृत्ति भाग शास्त्र के अंश हैं । उनमे प्रयुक्त उदाहरणों मे काव्य का लालित्य विद्यमान है ।

हिन्दी कविता के उत्तर मध्यकाल में भी केशव, मतिराम, चिन्तामणि, भिखारीदास एवं देव आदि आचार्यों ने काव्य एवं रीति शास्त्र की द्विकारीय सर्जनायें की हैं । आधुनिक काल में आकर `सर्जना` एवं `समीक्षा` दोनों विधायें आमने सामने हो गई है । भारतेन्दु युग तक मात्र `नाटक` पर समीक्षात्मक कृति के प्रकाशित होने के बाद द्विवेदी युग मे नाटक एवं `कथात्मक` कृतियों के परिचय एवं टिप्पणियों के द्वारा `समीक्षा` की दिशा मे व्यापकता आई तथा आधुनिक काल के तीसरे चरण छायावाद युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक आचार्य रूप मे हिन्दी की सम्पूर्ण परम्परा एवं `इतिहास दृष्टि` का ज्ञान रखने पर भी अपने समकालीन `छायावादी काव्य` पर नैतिकता का कठोर अनुशासन लागू करना चाहा । इनके समय में `सैद्धान्तिक` एवं व्यावहारिक समीक्षा का विकास हो चुका था । छायावाद युग के साथ ही हिन्दी समीक्षा में स्वच्छन्दतावादी समीक्षा एवं छायावादोत्तर काल की मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, समाजशास्त्रीय रूप एवं कलावादी तथा अभिव्यंजनावादी शैलियों के आगमन के साथ ही समालोचना भी इतिहास दृष्टि से संयुक्त हुई है । आज की हिन्दी समीक्षा एक व्यापक एवं बहु आयामी विधा है जो किसी अन्य विधा की पराश्रयिनी न होकर वैदिक चेतना से युक्त है ।

हिन्दी समीक्षा की इस अन्तर्यात्रा में कृति की अनुकृता, प्रशंसा, व्याख्या, गुण कथन, दोष संकेत, दोषारोपण तथा तात्विक एवं सैद्धान्तिक अनुशीलन के साथ ही गवेषणात्मक व्याख्या के अतिरिक्त रस, अलंकार, रीति अथवा वक्रोक्ति परक अध्ययन भी किये गये और किये जा रहे हैं । हिन्दी कविता के इस विकास क्रम के आधार पर समीक्षा और सर्जना के परस्पर सम्बन्धों का अनुशीलन एवं अध्ययन किया जा सकता है । कृति का कर्ता या `रचनाकार` सर्जक रूप में महत्वपूर्ण है किन्तु आलोचक या समीक्षक का कार्य भी कम महत्व का नहीं है । कृति के तत्वों का विश्लेषण तथा उसके गर्भ में निहित गुण, अलंकार, सौन्दर्य एवं `कृताभिव्यक्ता` का रेखांकन समीक्षक करता है । काव्यानुशासन तथा उसके माध्यम से रचना के मानक को स्थिर रखकर `सर्जना` को उच्चता तथा श्रेष्ठता प्रदान करने का कार्य भी समीक्षक का होता है । युग अथवा काल खण्ड में कभी सर्जक महत्वपूर्ण हो जाता है तो कभी समीक्षक या आलोचक आधुनिकता के प्रथम चरण में भारतेन्दु के नाम पर `युग` का नामकरण सर्जना के महत्व के कारण है किन्तु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम से `द्विवेदी युग` का नामकरण कृति के नियमन के कारण पड़ा है । सर्जक की तुलना में आचार्य पद श्रेष्ठता का सूचक है ।

भारतेन्दु और द्विवेदी युग के उपरान्त काव्य का तत्व गौड़ तथा `वाद` की प्रधानता के कारण `छायावाद` नाम उपेक्षा एवं विरोध का प्रतिफल है । `प्रगतिवाद` का भी उतना ही विरोध डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तथा अन्य समीक्षकों द्वारा किये जाने के कारण `वाद-वादिता` के साथ ही अंग्रेजी के `इज़्म` की ध्वन्यात्मकता इस काल की कविता में है । `वाद` प्रतिवाद एवं टकराव की पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण `प्रयोग-वाद` में किसी भी पूर्व या उत्तर पद में काव्य का पर्याय नहीं है । सम्भवतः इसीलिए `प्रयोगवादी` रचनाकारों ने अपने को `कविता वादी` कहकर समीक्षकों का आग्रह युक्त विरोध कम करना चाहा । समीक्षकों द्वारा अपने काल में सृजन का मूल्यांकन न होने के कारण अज्ञेय ने अपने समकालीन रचनाकारों को परस्पर समीक्षा करके सर्जना में अन्तर्निहित तत्वों के मूल्यन और शोध की प्रेरणा दी । `मूल्य` का स्थान नयी कविता की समीक्षा में `जीवन मूल्य` ने लिया तथा यथार्थ के स्थान पर अभिव्यक्ति की `नवीन दृष्टि` `कवि दृष्टि` बन गई है ।

`प्रतिमान`

कृति के आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य से साक्षात्कार के लिए उसके रूप एवं तद्गत तत्वों का विश्लेषण समीक्षा है तथा इस समीक्षा का सन्तुलन या विधायक तत्व प्रतिमान है । प्रतिमान सर्जना की मूल्यवत्ता का प्रतिनिधि होने के साथ समीक्षा का तौलक है । `कविता के प्रतिमान` अथवा `समीक्षा के प्रतिमान` भिन्नार्थक होने पर भी सामान्यत समानार्थी माने जाते हैं । `प्रतिमान` के अन्य समानार्थी शब्द मानक, मान-दण्ड, या आदर्श है जो अंग्रेजी के स्टैण्डर्ड के अर्थ में स्वीकार किये जाते हैं । रामायण, महाभारत, ऋग्वेद, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों मे प्रयुक्त इस शब्द के विभिन्न अर्थों को समायोजित कर हलायुध कोशकार ने जो व्युत्पत्ति की है (प्रति (पूर्व + मा (मापन) + ल्युट । उससे मापन, तौलन या प्रतिबिम्बन के उपादान रूप में प्रतिमान का ग्रहण किया जा सकता है[१]। महाभारत मे इस शब्द का प्रयोग हाथी के ललाट के ऊपरी भाग, हाथी के दोनों दांतों के बीच के स्थान तथा प्रतिबिम्ब के लिए हुआ है । ऋग्वेद में सादृश्य, प्रतिनिधि या प्रतिरूप के अर्थ मे `प्रतिमान` का प्रयोग उल्लेखनीय है । श्रीमद्भागवत मे `दृष्टान्त` (उदाहरण) के अर्थ में प्रयोग के अतिरिक्त `याज्ञवल्क्य` स्मृति मे तुला, तुलनीय, समता कारक के अर्थ में यह शब्द आया है । हलायुधकोश के श्लोक सं० `१३०` मे प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप, प्रतिमान, प्रतिकृति, प्रतिच्छन्द (प्रच्छन्न) प्रतिकाम (प्रतिरूप) प्रतिनिधि `प्रतियातना` तथा प्रतिच्छाया शब्दों को पर्यायवाची बताया गया है[२]। `प्रतिमान` शब्द के इन विभिन्न अर्थों की दो कोटियां हो सकती हैं --

---

१- हलायुध कोश : (अभिधान रत्न०) सम्पादक जयशंकर जोशी,
द्वितीय सं० १९६७ में पृ० ९६, तथा ४५५ पर

२- प्रतिबिम्बं प्रतिरूपमु प्रतिमानम्, प्रतिकृतिमु प्रतिच्छन्दम् ।
प्रतिकायं च प्रतिनिधिमाहु` प्रतियातनां प्रतिच्छायाम् ।।
(हलायुध कोश में ही)

प्रथम कोटि-- प्रतिच्छाया, प्रति कृति, प्रतिबिम्ब (ट्रू कापी) यथा तथ्य (प्रतिकृति) (शब्दों) को है । दूसरी कोटि--प्रतिनिधि, तोलक, प्रच्छन्न (तत्व) की है जो तुलाश्रित कहे जा सकते हैं । `हाथी के मस्तक के बीच का भाग` अथवा `तुला का मध्य भाग` जो दण्डों के मध्य होता है, आकार में मिलता जुलता है । यह तुला की दण्डी (स्ट्रेट) सीधी तभी रहेगी जब `तुलने वाली वस्तु तथा तौल करने वाला `बाट` ( वेट ) ठीक समान भार का हो । `दो दांतों के बीच` हाथी कभी-कभी वजनदार वस्तु उठाकर रख लेता है । यह अर्थ अदाज - भार वहन की क्रिया का संकेत करता है । दांतों के बीच का स्थान अमूर्त होने के कारण `प्रतिमान` का अर्थ छिपा-प्रच्छन्न तथा दो मूर्त रूपों के बीच अमूर्त तोलक भी होता है । `प्रतिमान` की उपादेयता `अस्ति` तथा `नास्ति` के बीच विद्यमान रह कर कृति के गुण ( अस्ति ) एवं दोष ( नास्ति ) से भी जुड़ जाती है । संस्कृत अंग्रेजी कोश में प्रतिमान का अर्थ रिसेम्बलेंस, `ऐन इमेज`, `पिक्चर`, `ऐन आइडियल`, `माडल`, `लाइकनेस`, `सिमिलरिटी`, `रिफलेक्शन` तथा `वेट` दिया गया है । इस कोश के सभी शब्द एलायुध कोश के अर्थ से अनूदित लगते हैं क्योंकि `पार्ट बाफ एलीफेन्ट्स हेड`, तथा `बिटवीन दि टस्क या टूथ का प्रयोग एलायुध कोश में भी है`[1]।

अंग्रेजी हिन्दी कोश मे - स्टैण्डर्ड, तथा `वेल्यू` के अर्थ को पृथक-पृथक ग्रहण करके उसके समायोजन से कई अर्थ निकलते है[2] -स्टैण्डर्ड के अर्थ मे झण्डा, ध्वजा, पताका, विद्रोह का झण्डा, ऊंचा करना, मानक, मानदण्ड, आदर्श, स्तर, कोटि, तथा `प्रामाणिक` एवं `टकसाली` स्थायि रूप में आते हैं ।

व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दूसरी दिशा है `प्रति + मान` का अर्थ ग्रहण करने की । प्रति, हिन्दी का अव्यय है जो हर (एक) उल्टा या विपरीतार्थ के लिए यथा उत्तर- प्रति उत्तर, आलोचना - प्रत्यालोचना, बिम्ब-प्रतिबिम्ब । मान शब्द

१- संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, द्वारा प्रो० मोनियर विलियम्स, सं० १९७६
(भाग पब्लिकेशन)पृ० ६८१

२- अंग्रेजी हिन्दी कोश - सम्पादक - फादर कामिल बुल्के ।

का अर्थ मूल्य, सम्मान, वैल्यु, अर्ह के अलावा गणित, अर्थशास्त्र, दर्शन एवं मनोविज्ञान की सीमा में अलग-अलग अर्थ है । दर्शन में मान = परिमाण (तत्व),अर्थशास्त्र में विनिमय क्षमता, अदला-बदली की शक्ति, तथा गणित में `महत्व` (स्थानीय मान इकाई दहाई आदि) होता है । इन दोनों शब्दों के संयोग से बने `प्रतिमान` का अर्थ हुआ `प्रतिमूल्य` मूल्य का मूल्य, `महत्व का महत्व` अर्हता की अर्हता` समानता या कुशलता ।

समकालीन समीक्षा सिद्धान्त में प्रयुक्त `प्रतिमान` शब्द इतने प्रयोगों में किस अर्थ के निकट स्वीकार किया जाय ? यह एक जटिल प्रक्रिया है । `मूल्य` का कारण सौन्दर्य, आकर्षण, प्रभावोत्पादकता है इसमें आह्लादन क्षमता के साथ-साथ जीवन को सम्पन्न बनाने की गुणवत्ता निहित है । सौन्दर्य-शास्त्र, समीक्षा-शास्त्र, काव्य तथा दर्शन में `प्रतिमान` शब्द सौन्दर्यानुभव, आस्वादन के साथ ही नैतिक अर्चना, आध्यात्मिक संस्कार तथा सांस्कृतिक क्रिया से कुछ अंश लेकर बना है इसीलिए डा० बच्चन सिंह `प्रतिमान` की आलोचना का निष्कर्ष करते हैं[१] । आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का भी यही कहना है कि समीक्षा के प्रतिमान स्थायी नहीं होते[२] । महाभारत, श्रीमद्भागवत, ऋग्वेद तथा सायण भाष्य का अर्थ संस्कृत साहित्य में उन उद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाया जाता था । समय के परिवर्तन के साथ आगम, लोप, विस्तार तथा`अर्थापकर्ष` आदि भाषा-वैज्ञानिक क्रियाओं के अनुरूप `प्रतिमान` शब्द के अर्थ में `कलात्मकता` तथा बौद्धिकता निहित हो गई । प्रतिमान कृति में निहित कलात्मकता एवं उसके बौद्धिक पक्ष का दूसरा नाम है[३] । जिसे `समीक्षा-प्रतिमान` रूप में प्रयुक्त करने पर इसका अर्थ हो जाता है `समीक्षण क्रिया में ग्रहण किये जाने वाले मान या मूल्य का प्रतिबिम्ब अथवा कृतित्व की अस्मिता का सूचक जो सर्जना का अनिवार्य तत्व है ।

१- आलोचक और आलोचना - डा० बच्चन सिंह, सं० १९७७

२- रससिद्धान्त की समस्याएँ - आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

३- भारतीय काव्यशास्त्र - नयी व्याख्या - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९८०, पृ० १०२ ।

अज्ञेय ने 'प्रतिमान' को साहित्य के आस्वादन परीक्षण तथा मूल्यांकन का साधन माना है। इनके अनुसार मूल्य अथवा प्रतिमान लगभग समानार्थी है[1]। मूल्यों अथवा प्रतिमानों का संस्कृतियों से गहरा सम्बन्ध होता है। निश्चित प्रतिमानों पर आधारित सर्वतोन्मुखी रचनाशील प्रगति ही तो संस्कृति है -- पर इस सम्बन्ध में एक यह बात निहित है कि 'नये प्रतिमान' सहसा नहीं बन जाते, वे एक सांस्कृतिक परम्परा मांगते हैं।[2]

कृति या रचना में निहित गुण रमणीयता, सौन्दर्य या वक्रता के कारण अनुराग परिवर्तित होने तथा प्रमाता की मन स्थितियों के आश्रित होने के कारण प्रतिमान ग्राह्यता अग्राह्यता, उपयोगिता-अनुपयोगिता के अनुरूप बदलते रहते हैं। इसी कारण कभी रसात्मकता या अनुभूति को प्रतिमान रूप में स्वीकार किया जाता रहा तो कभी अलंकृति या अनलंकृति पुन: तथापि भी प्रतिमान रूप में मान्य रहा। ध्वनि, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य आदि 'प्रतिमान' से ही उद्भूत होकर 'गुण-धर्म' या तत्व कहलाये। इन्हीं के आधार 'काव्यशास्त्र' के विभिन्न सिद्धान्तों (सम्प्रदायों) की परम्परा चली।

--

१- कवि दृष्टि - अज्ञेय, सं० १९८३, पृ० २८।

२- कवि दृष्टि - अज्ञेय सं० १९८३, पृ० २४।

`छायावाद` तथा छायावादोत्तर कविता

काव्य-शास्त्र और समीक्षा के आलोक में `कविता क्या है` की जिज्ञासा पर विचार करने के साथ ही हिन्दी कविता के आधुनिक रूप पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है, क्योंकि प्रतिमानों का निर्धारण तथा `काव्य-समीक्षा` में `वाद` का आगमन इसी काल मे हुआ है। प्रवृत्ति गत मूल्यांकन तथा इतिहास एवं सांस्कृतिक दृष्टि के अलावा मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों से जोड़कर की गई व्याख्या मे `आधुनिक युग` की परवर्ती कविता की समालोचना से सीधे टकराव लेना पड़ा। छायावाद,प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद आदि सभी नामों मे आने वाला `वाद` दर्शन एवं शास्त्र से कविता की प्रवृत्ति के लिए ग्रहण किया गया है। छायावादोत्तर कविता की परम्परा के लिए आधुनिक काल के द्विवेदी युग कौन थे ? क्या हो गये है और क्या होंगे अभी से सम्बन्धित प्रगतिवाद, छायावाद एवं प्रयोगवाद की प्रवृत्ति गत भाव आवश्यक है।

आधुनिक युग के प्रथम चरण भारतेन्दु युग के बाद का दूसरा चरण द्विवेदी युग हिन्दी कविता का `नव-जागरण` है जिसमें राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक उत्थान, सामाजिक उत्थान तथा आदर्शवादी प्रवृत्ति के साथ-साथ ब्रज भाषा के स्थान पर `खड़ी बोली` का प्रयोग एक क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है। भारतेन्दु युग आधुनिकता, राष्ट्रीयता और भावगत प्रवृत्ति का अंकुरण काल है जिसकी बेलि द्विवेदी युग में पल्लवित और विकसित होकर छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि शाखाओं प्रशाखाओं में फैली।[1] `स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती` की ध्वनि हिमालय के आंगन में प्रथम किरणों का उपहार देने के साथ गुंजरित करने का श्रेय छायावाद की आदर्शवादी चेतना को है। भारतेन्दु युग की शैशवावस्था तथा द्विवेदी युग की किशोरावस्था के बाद हिन्दी कविता में नव तरुणाई के रूप में छायावाद का आगमन १९१७-१८ ई० के आस-पास हुआ जब

1- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण - डा० रामविलास शर्मा

`आधुनिका- नई धारा बालिका से वधु बनकर `प्रियतम असीम से मिलने चल पड़ी । `छायावाद युग` के इन आरम्भिक वर्षों में यह नाम उपेक्षा, अस्पष्टता, मधुचर्या, भावुकता एवं कोरी कल्पना विलास का सूचक था[1]। १९२०-२१ में समीक्षा क्षेत्र में `छायावाद` का नाम का प्रचलन हो चुका था जब श्री मुकुटधर पाण्डेय ने जबलपुर की `श्रीशारदा` पत्रिका के चार अंकों जुलाई, सितम्बर, नवम्बर और दिसम्बर १९२० ई० में चार निबंध लिखे । कवि स्वातन्त्र्य, छायावाद क्या है, `हिन्दी में छायावाद` नामक इन निबंधों द्वारा छायावाद की प्रथम समीक्षा होने के साथ ही वर्तमान नाम का भी प्रचलन हुआ जो आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र के लिए प्रेरणा स्रोत बना ।

सुकवि किंकर, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने `छायावादी` प्रतिमान को गोपन रहस्य गूढ़ार्थ आदि के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा था कि `छायावाद से लोगों का क्या मतलब है कुछ समझ में नहीं आता । शायद उनका मतलब है कि किसी कविता में भावों की छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहनी चाहिए[2]। आचार्य द्विवेदी का यह आक्षेप अन्योक्ति पद्धति को ही छायावाद मानने के कारण था । इसी से मिलते जुलते विचार `हिन्दी में छायावाद` नाम के एक संवादात्मक निबन्ध में भी देखने को मिलते हैं[3]। अब तक की नवीनता के लिए `मिस्टीसिज़्म` `रोमान्टीसिज़्म` रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद तथा छायावाद नाम में भी एक पहचान का सिलसिला देखा जा सकता है जो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद नकेनवाद तथा नयी समीक्षा के चार दशक बीत जाने के बाद भी जारी है ।

१- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी (संस्करण १९८६) पृ० १०८ ।

२- आजकल के हिन्दी कवि और कविता - (सुकवि किंकर) - आचार्य द्विवेदी सरस्वती, मई १९२७ ।

३- छायावाद - डा० नामवर सिंह, सं० १९७८ द्वारा उद्धृत

जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के अलावा मुकुटधर पाण्डेय, भगवतीचरण वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, हरवंश राय बच्चन तथा दिनकर के आरम्भिक गीतों में भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। महादेवी वर्मा की प्रथम कृति 'नीहार' की भूमिका 'कविसम्राट' की उपाधि से विभूषित पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने लिखी थी। १९२२ ई० की इस भूमिका द्वारा द्विवेदी युग के एक प्रतिष्ठित रचनाकार द्वारा नई धारा की कविता को स्वीकृति तो मिली किन्तु आरम्भ के पहले दशक तक छायावाद की समीक्षा में जो भी स्थापनायें की गईं उनमें गोपनीयता, कल्पना, रहस्य, रोमान, मधुमयी 'चातकि की चकित पुकारों के सुनने का क्रम तो चला किन्तु 'करुणार्द्र कथा की आंसू से गीली टुकड़ी' को सुनने वाले प्राय 'सुमन नोचते फिरते' कम 'जानी अनजानी' अधिक करते रहे[1]। 'मुकुटधर पाण्डेय के निबन्ध प्रकाशन १९२० से 'काव्य में रहस्यवाद' के प्रकाशन १९२९ ई० तक आधुनिकता की इस कविता के लिए अस्पष्टता दुरुहता, आदि आरोपों के अतिरिक्त 'फैन्टसमैटा' शैली का अनुकरण का भी आक्षेप लगाया गया[2]।' पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास तथा योरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रचलित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कवितायें 'छायावाद' कही जाने लगीं। यह वाद क्या प्रकट हुआ एक बने बनाये रास्ते का दरवाजा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ नये कवि उधर एक बारगी झुक पड़े[3]। 'रस साधारणीकरण, हृदय की मुक्तावस्था-रसदशा, भाव या

१-(क) चातकि की चकित पुकारें, श्यामा ध्वनि तरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की, टुकड़ी आंसू से गीली ॥'

(ख) रो रो कर सिसक सिसक कर कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते फिरते करते जानी अनजानी ॥

- आंसू 'प्रसाद'

२- 'फैन्टस्मैटा' शैली के अनुकरण का आरोप - श्री अवध उपाध्याय द्वारा लगाया गया था। जिसे आचार्य शुक्ल ने भी अपनाया - (लेखक)

३- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

या मनोविकार के साथ ही 'कविता क्या है' के पारखी आचार्य शुक्ल द्विवेदी जी के 'समझ में न आने' का आरोप तो नहीं लगाते किन्तु अपने नैतिकतावादी 'मानक' पर जब नवयुवक कवियों की परख करने का अवसर आने पर उसे वे रामनरेश त्रिपाठी, श्री धर पाठक, मैथिली शरण गुप्त, सिया राम शरण गुप्त की स्वच्छन्दता वादी प्रवृत्ति का विकास मानते हैं। आचार्य शुक्ल छायावाद को 'चित्र-भाषा काव्य शैली' एवं रहस्यवादी शैली' में विभक्त कर खाने खाने में बाट कर ग्रहण करते रहे[1]। डा० मोहन अवस्थी छायावादी कविता को द्विवेदी युग का अनुसर बरण मानते हैं तथा डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी इसे 'शक्ति का काव्य' कहते हैं। डा० चतुर्वेदी का कहना है कि 'शक्ति का मंत्र निराला को - और किसी सीमा तक जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानन्दन पन्त को भी - बंगाल से मिला, पर शक्ति-काव्य मध्यदेश अथवा हिन्दी प्रदेश के इन छायावादी कवियों ने रचा। 'कामायनी' 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा' में शक्ति और मानवीय चेतना का जैसा आख्यान है वैसा बंगला काव्य या स्वयं रवीन्द्र नाथ में नहीं मिलता[2]।' डा० चतुर्वेदी इस स्थापना के माध्यम से 'छायावादी' संस्कार में बंगाल और मध्यदेशीय संस्कृति की 'सहकारिता' देखते हैं जबकि 'शक्ति के विस्फुरण को व्यस्त (प्रसाद) या 'शक्ति की करो कल्पना' (निराला) का स्वर १६२५-२६ के बाद सुना गया। 'छायावाद' का आरम्भिक स्वर 'प्रथम रश्मि' (पन्त), 'शेफालिके (निराला), जुही की कली (निराला), अरी वरुणा की शान्त कछार (प्रसाद) तथा 'निशा की धो देता राकेश' (नीहार - महादेवी) में सुनकर उसकी परीक्षा करना अधिक समीचीन है क्योंकि शुक्ल जी ने आंसू-झरना (प्रसाद), पल्लव गुंजन (पन्त), नीहार-रश्मि (महादेवी) अपरा-गीतिका कृतियों को लेकर जो धारणा छायावाद के सम्बन्ध में बनाई थी उसमें उन्होंने परवर्ती वर्णन में कोई परिवर्तन नहीं किया। आचार्य शुक्ल की छायावादी कविता की समीक्षा

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा

२- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९८६, पृ० १२६।

को डा० नामवर सिंह ने `स्वच्छन्दतावाद` का प्रच्छन्न समर्थन कहा है[1] ।

हिन्दी कविता के किसी भी युग में `नव दृष्टि` अथवा नयी उद्भावना का तटस्थ मूल्यांकन आरम्भ में न होकर तत् युगीन काव्य के परवर्ती चरण में हुआ है । आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी `प्रयोगवाद` के साथ अज्ञेय के विरोधी रूप में आये किन्तु नयी कविता के उत्तरवर्ती चरण में उनकी दृष्टि बदल चुकी थी जब उन्होंने मुक्ति बोध के काव्य में जीवन्तता और सम्भावनाओं की किरण देखी थी[2] । छायावादी समीक्षा के परवर्ती काल में ही डा० नगेन्द्र तथा आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के निबन्ध `पन्त` तथा `प्रसाद` पर लिखे गये थे जो बाद में `हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी` जयशंकर प्रसाद[3] (वाजपेयी) तथा सुमित्रानन्दन पन्त (डा० नगेन्द्र[4]) नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए । `छायावाद` नामक इस `काव्य चेतना` के साथ सही न्याय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ही कर सके हैं ।

उपेक्षा सरलीकरण तथा मधुचर्या के साथ अस्पष्टता का जो आक्षेप छायावाद से किया गया उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया मुकुटधर पाण्डेय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र की समीक्षा कृतियों में देखी गई । डा० शम्भुनाथ सिंह की कृति छायावाद युग तथा दीनानाथ सिंह `शरण` की कृति `छायावाद के गौरव चिन्ह` में भी इन्हीं मान्यताओं का विवेचन किया गया है । डा० नामवर सिंह की कृति छायावाद` ( १९५५ ) के प्रकाशन से अब तक इस कविता के लिए पर्याप्त सुलझी हुई चेतनायें प्रचलित हो चुकी हैं । यद्यपि कविता के `नये प्रतिमान` में डा० सिंह `छायावादी संस्कार` तथा `नगेन्द्री दृष्टि` से परहेज के तौर पर कड़ुवाहट युक्त` औपचारिक जैसा नाम लेते दिखाई पड़ते हैं किन्तु `छायावाद` के

१- कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह, १९६८, पृ० ३३

२- नयी कविता - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (सं० डा० शिव कुमार मिश्र)

३- हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - सं० १९७०, पृ० (१८-१९) प्रसाद

४- सुमित्रानन्दन पन्त - डा० नगेन्द्र

सम्बन्ध में उनकी निजी दृष्टि काफी तटस्थ है । 'जहां तक रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छन्दता शब्दों के शब्दार्थ और लोक प्रचलित भाव का सम्बन्ध है, इन तीनों में नि:सन्देह थोड़ा थोड़ा अन्तर है । रहस्यवाद अज्ञात की जिज्ञासा है तो छायावाद चित्रण की सूक्ष्मता और स्वच्छन्दतावाद प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा ।'[1]

आधुनिक युग के तृतीय चरण 'छायावाद' को 'स्वच्छन्दतावाद', 'रहस्यवाद', 'हालावाद' अथवा 'पलायनवाद' रूप में देखना छायावादी कविता की किसी एक प्रवृत्ति को महत्व देना है । इसी प्रकार नाम या 'छाया' शब्द के आलोक में सम्पूर्ण काल खण्ड की कविता का मूल्यांकन सम्यक् दृष्टि नहीं है । उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त, कल्पना, माधुर्य, बिम्बविधान की सफलता, तत्सम शब्दों से युक्त कविता के एक प्रतिमान- काव्य-भाषा की सफलता तथा 'भारतेन्दु- द्विवेदी युग' एवं प्रगतिवाद- प्रयोगवाद युग के बीच एक योजक के रूप में छायावाद का मूल्यांकन अभीष्ट है । निश्चय ही 'छायावादी कविता और कवियों' में समान रूप से किसी मूल्य की खोज भी एकांगी हो सकती है । निराला की प्रगतिशीलता और यथार्थ बोध, प्रसाद का मानववादी दर्शन, महादेवी की विरह और करुणा की अनुभूति तथा पन्त की सौन्दर्य दृष्टि आधुनिक युग में अद्वितीय है । 'स्वच्छन्दतावादी' चेतना को केवल 'रोमान्टिसिज़्म' की तरह ग्रहण करने पर भी वर्ड्सवर्थ शेली कीट्स और बायरन की देश काल तथा समाज की सांस्कृतिक दृष्टि 'मध्यदेश' की कविता में नहीं मिल सकती । लगभग १०० वर्ष पूर्व के विदेशी देश के रचनाकारों की तुलना एक शताब्दी बीत जाने के बाद हिन्दी के इन कवियों की कविता से करना भी एक आग्रह ही हो सकता है । 'छायावाद' को भारतीय परिवेश में नवजागरण की स्वच्छन्द कल्पना, प्रकृति चित्रण के नवीन प्रतीकों एवं बिम्बों के रूप में तथा सौन्दर्यपरक गीतों के अध्याय [शाश्वत] बोध रूप करना अधिक समीचीन है । महादेवी की नीहार-रश्मि-नीरजा, सान्ध्यगीत,

---

१- छायावाद - डा० नामवर सिंह, सं० १९७८, पृ० १८

पन्त की कृति `ग्रन्थि, गुंजन, पल्लव, अतिमा, सौवर्ण`, प्रसाद की रचना - `आंसू`, `लहर`, `झरना`, `कामायनी` तथा निराला के कृतित्व - `गीतिका`, `अपरा`, `तुलसीदास`, `राम की शक्ति पूजा` आदि को सामने रखकर यदि समग्र चेतना का मूल्यांकन किया जाय तो `कहि न जाइ का कहिये` से चल कर समुझि मनहि मन रहिये की स्थिति तक पहुंचना होता है ।

`छायावाद` में सबल `रसानुभूति` `काव्यानुभूति` तथा अभिव्यंजना की जो परिणति देखी जाती है उसमें `प्रकृति` का एक सांगोपांग चित्र दिखाई पड़ता है । आधुनिक काल की राष्ट्रीयता में भारतीय संस्कृति के प्रति गौरवान्वित दृष्टि का विकास भी है । काव्य कृतियों तथा गीतों के अतिरिक्त `प्रसाद` की नाट्य कृतियों के गीत भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इस देश की मिट्टी जलवायु अभाव ग्रस्तता तथा परतंत्रता के काल में इससे उत्कृष्ट सर्जना `काव्य` के रूप में आगे नहीं हुई । हिन्दी साहित्य का यह काल जिसने प्रसाद,पन्त,निराला, महादेवी जैसे कवि दिये, आचार्य शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र जैसे समीक्षक दिये, प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार और कहानीकार का उद्भव जिस युग में हुआ उस युग की `सर्जना` और `समीक्षा` को निकट लाकर कुछ और भी `सब जानत प्रभु प्रभुता सोई` जैसी गरिमाओं का दर्शन किया जा सकता है ।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता

`वाद` के साथ प्रतिवाद तथा आलोचना के साथ प्रत्यालोचना की भांति छायावाद पर लगाये गये आरोपों का उत्तर देने के लिए `पन्त` ने पल्लव की भूमिका में छायावादी कविता की `अस्मिता` तथा युगीन अनिवार्यता पर प्रकाश डाला। कृति की भूमिका में इतनी विस्तृत `कवि दृष्टि` प्रस्तुत करना `समीक्षा` के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति थी। पन्त जी ने ब्रज-भाषा तथा अवधी की कृतियों की रसात्मकता तथा ब्रज के करील कुंजों से निकल कर मुरझाये मन को शान्ति प्रदान करने वाली कविता की तुलना में रीति कालीन कविता की शृंगारप्रियता, हाव-भाव, हेला तथा वियोग की विभिन्न दशाओं का वर्णन अनुपयुक्त कहा[१]। यद्यपि ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का काव्य-भाषा रूप मे प्रयोग द्विवेदी युग मे ही आरम्भ हो चुका था किन्तु छायावाद की नयी अभिव्यंजना शैली की प्रांजलता का संकेत आचार्य शुक्ल के आरोप का प्रतिवाद था। इसी प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने `आजकल के कवि और कविता` में `क्या कहते हैं जो समझ में नहीं आता का` उत्तर निराला ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे आयोजित हिन्दी परिषद् की गोष्ठी मे दिया था जो आचार्य शुक्ल को बुरा लगा था[२]। हिन्दी समीक्षा में यह सीधा टकराव `छायावाद` युग में उत्पन्न हुआ जिसकी परिणति `काव्य कला तथा अन्य निबन्ध` में `छायावाद और यथार्थवाद` के रूप में देखी जाती है। `प्रथम रश्मि` प्रकाशन १६१६ या `करुणा कहानी` (बाबू) यदि वाद (पोषित) है तो `पल्लव` की भूमिका या धारा (निराला) प्रतिवाद जो रचनाकार और समीक्षक में `संवाद` की स्थिति का पुनर्निर्माण बन जाती है।

छायावाद युग से आरम्भ हुई कुछ प्रवृत्तियाँ प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता युग में भी विद्यमान रहीं जिसे डा० नगेन्द्र ने छायावादोत्तर युग

१- पल्लव - सुमित्रानन्दन पन्त, सं० २००१, पृष्ठ-७-८

२- निराला - आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

के छायावादी तत्व के रूप में सराहा है[1]। दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, सुमन, बच्चन तथा अंचल की 'गीतात्मक' कृतियों में छायावाद युग की परम्परा देखी जाती है। 'रसवन्ती' की गीतात्मकता में कहीं न कहीं छायावादी संस्कार है। पुत्र की अपेक्षा पौत्र पर पितामह का संस्कार रीति युगीन कलावाद के रूप में छायावादी कविता में आया था। 'पल्लव' की भूमिका में रीति काल की निन्दा किये जाने पर भी छायावाद से चलकर छायावादोत्तर युग तक आने वाली अभिव्यंजना शैली में रीति काल का प्रभाव है[2]।

'छायावादोत्तर हिन्दी कविता' की 'प्रेरणा भूमि' में छायावाद परवर्ती प्रभाव स्वीकार करने वाले डा० राम विलास शर्मा ने अज्ञेय की 'चिन्ता' भग्न दूत इत्यलम पूर्वा तथा 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये' में 'नव रहस्यवाद' का रेखांकन किया है[3]। मुक्तिबोध की कविताओं पर महादेवी के रहस्य और रोमान का प्रभाव कुछ अटपटा लग सकता है[4] किन्तु यह विचित्र सत्य है कि डा० राम विलास शर्मा ने 'तारसप्तक' की अपनी बात में अपने गीतों को छायावाद से जोड़ा[5]। कुंवरनारायण, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती तथा गिरिजा कुमार माथुर की कविता में स्वच्छन्दतावादी चेतना, आध्यात्मिक दृष्टि तथा गोपनीयता का कारण 'छायावाद' की ऊर्जा है जो प्रत्यक्षतः 'उर्वशी' में फूटी। 'फिर होता क्या तिमिर में दीपक फिर जलते हैं' सदृश आत्म स्वीकृति, नारी को नैसर्गिक सुन्दरता का केन्द्र मानकर 'वन के कुसुम कुंज सुरभित विश्राम भवन' की उद्भावना 'अपने समय के सूर्य' की अतीतोन्मुखी दृष्टि है[6]। 'उर्वशी' की भूमिका में दिनकर ने

1- छायावादोत्तर हिन्दी कविता के मूल्यांकन की समस्या - डा० नगेन्द्र (धर्मयुग)

2- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८६, पृ० १५२-१५३ ।

3- नयी कविता और अस्तित्ववाद - डा० राम विलास शर्मा, सं० १९७८, पृ० ७०-७१ ।

4- आत्म संघर्ष की कविता और मुक्तिबोध - [illegible] त्रिपाठी, सं० १९८१, पृ० १२

5- तार सप्तक, सं० अज्ञेय (डा० रामविलास शर्मा की

6- उर्वशी - रामधारी सिंह दिनकर, पृ०

चतुर्वर्ग में धर्म, अर्थ मोक्षादि तत्वों की तुलना मे 'काम तत्व' को श्रेष्ठ सिद्ध कर छायावादोत्तर काल में रसवन्ती उर्वशी तथा 'वासवदत्ता' की 'रचनाधर्मिता' का औचित्य सिद्ध किया ।

प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता को एक क्रम मे रखकर धारा रूप देने वाले गीतकार अंचल का 'बस चलता तो बन जाता कौमार्य तुम्हारा' गीत उर्वशी की भूमि पर परिकल्पित है । 'छायावादोत्तर' तथा 'उत्तर छायावाद' मात्र शब्द गत परिवर्तन नहीं है । 'उत्तर छायावाद' प्राय परवर्ती काल की उन कृतियों में देखा जाता है जो 'छायावाद' के अनुकूल है[1] तथा 'छायावादोत्तर' छायावाद के बाद को 'छायावादेतर सर्जना के लिये प्रयुक्त होता है । पूर्व प्रचलित काव्यधारा की स्वच्छन्दता, कल्पना एव रहस्य के विरुद्ध प्रगतिवाद का नया सौन्दर्य बोध मात्र यथार्थ की 'नग्नतावादाभिव्यक्ति' ही नहीं अपितु भावुकता, सूक्ष्मता तथा आदर्श का पूर्ण परित्याग है जो युगान्त (१९३६), युगवाणी, कुकुर मुत्ता (१९३७), नये पत्ते आदि कृतियों में चरितार्थ होता है । 'खुल गये छन्द के बन्ध प्रास के रजतपाश' अथवा 'ग्राम वसुन्धरा लगते सुन्दर' मात्र कला विलास या 'नव दृष्टि' न होकर 'छायावादोत्तर' दृष्टि है जिसकी परिणति प्रतिक्रिया रूप में 'छायावाद' के अन्तर से हुई । 'परिवर्तन' कविता में पन्त ने पहले ही जैसे भविष्यवाणी कर दी थी । उत्थान-पतन, जन्म-मरण, राग-विराग । जो 'रूपाभ' (१९३६) के प्रकाशन द्वारा प्रतिफलित हुई ।

हिन्दी कविता के आधुनिक काल का परवर्ती-चरण छायावादोत्तर युग के रूप में रेखांकित करने की परम्परा में 'विश्व की दुर्बलता बल बने पराजय का बढ़ता व्यापार' जैसा आशीर्वाद श्रद्धा द्वारा मनु को प्रेरणा तथा 'समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय' नाटकीय पूर्वकथन (ड्रैमेटिक आइरनी) हो जाता है[2] । प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (१९३५) तथा लखनऊ अधिवेशन

१- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र, १९६६, पृ० १० ।

२- कामायनी - जयशंकर प्रसाद

(१९३६) में प्रेमचन्द का `सभापतित्व` आदर्श के स्थान पर यथार्थ का नेतृत्व है। छायावाद युग में ही उस युग के कुहासे से मुक्ति हेतु `निराला`[1] की सृजनात्मक शक्ति सरोज स्मृति के बाद `कुकुरमुत्ता` को जन्म देती है। `निराला इज़ मोर ओवर डेड` की घोषणा अस्वीकृति अनास्था तथा अविश्वास का प्रायोगिक रूप है जो छायावादोत्तर युग अश्रद्धा तथा आत्म संघर्ष को परिचायक है।

मूल्यांकन समीक्षा, नामकरण एवं प्रतिमानों की दृष्टि से हिन्दी कविता के आधुनिक काल का उत्तरार्द्ध `वाद` प्रतिवाद तथा समस्याओं से युक्त है। `टूटते परिवेश, बदलते प्रतिमान, बिखरे बिम्ब एवं उलझे हुए प्रतीकों के कारण आधुनिक हिन्दी कविता की वाद युक्त धारा अध्येता, समीक्षक, सर्जक एवं आचार्यों के लिए वैचारिक टकराव का केन्द्र है। `नयी कविता` एक व्यापक तथा बहुचर्चित नाम है जो सम्पूर्ण छायावादोत्तर सर्जना के लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद नयी कविता, साठोत्तरी कविता (अकविता) को सम्मिलित किया जाता है।

प्रगतिवाद — छायावादोत्तर कविता के अन्तर्गत (१९३६-४२) तक की काव्य-कृतियों के मुख्य प्रवृत्ति को प्रगतिवाद कहा जाता है। गद्य, कहानी उपन्यास तथा नाटक में आने वाला `यथार्थवाद` हिन्दी कविता में प्रगतिशीलता, मार्क्सवाद, द्वन्द्वात्मक, भौतिकवाद के सम्मिलित प्रभाव रूप में देखा जाता है[2]। डा० नामवर सिंह `प्रगतिशील` और प्रगतिवाद में भेद नहीं करते जबकि प्रगतिवाद एक काल खण्ड की एक प्रवृत्ति की कविता के लिए स्वीकृत नाम है तथा `प्रगतिशीलता` कविता की सामान्य प्रवृत्ति डा० नगेन्द्र प्रगतिवाद को छायावाद के गर्भ से नहीं अपितु पीठ फाड़कर जन्मा मानते हैं तथा `प्रयोगवाद` का जुड़वा भाई कहते हैं। छायावादी कविता के प्रभावों के विपरीत `प्रगतिवाद` में सैद्धान्तिक रूप में `मार्क्सवाद` का अनुकरण, निर्धन, दलित, शोषित वर्ग के प्रति करुणा, सहानुभूति के अतिरिक्त

१- नये पत्ते (निराला) में संकलित कविता

२- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र, सं० १९५५, पृ० १०८।

क्रान्ति का समर्थन देखा जाता है । `युगान्त` के प्रकाशन के बाद ही पन्त की काव्य-चेतना पर मार्क्सवाद के गम्भीर प्रभाव को न केवल समीक्षकों ने स्वीकार किया है अपितु `पन्त` ने स्वयं अपनी आरम्भिक कृतियों को `किशोर मन की भावुक कल्पना कह कर `उत्तरा` को प्रौढ़ कृति के रूप में स्थापित किया[1]। पन्त निराला तथा दिनकर के अतिरिक्त प्रगतिवादी काव्य धारा के प्रमुख कवि रामेश्वर शुक्ल `अंचल`, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, गजानन माधव मुक्तिबोध, रांगेय राघव, शिवमंगल सिंह सुमन आदि हैं । कालावधि की दृष्टि से अल्पजीवी होने पर भी हिन्दी की प्रगतिवादी काव्य-धारा युग जीवन तथा अभाव ग्रस्तता को जोड़ने वाली कड़ी है । निराला की कविता सरोज स्मृति में `दुःख ही जीवन की कथा रही क्या कहूं आज जो नहीं कही` द्वारा व्यक्त शोक निराशा और टूटन के साथ ही `वे जो यमुना के से कछार` पद फटे बिवाई के, उधार । खाये के मुख ज्यों पिये तेल । चमरौधे जूते से सकल[2] के इसी छोर से कामायनी की विडम्बना - `इच्छा क्यों पूरी हो मन की` छोर को जो मानवतावादी रेखा मिलाती है उसी के आस-पास प्रेमचन्द के होरी और सूरदास का भी जीवन पड़ता है ।

हेगल के भौतिकवाद के विपरीत मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रभाव से `सर्वहारा` वर्ग का असन्तोष, क्रान्ति, विद्रोह, संघर्ष तथा रूस की लाल सेना का स्वागत किया जाने लगा । `निराला` की दृष्टि `शीर्ण बाहु के शीर्ण शरीर` के `दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता` को देखकर `वह तोड़ती पत्थर` पर टिकी रही । `आत्महन्ता व्यक्तित्व` की `मैं तोड़ती पत्थर` की शक्ति और वेदना के साथ `मैं सिता अकिंचन था` का सम्मिलित स्वर बोध मिश्रित करुणा की चरम परिणति है । रामधारी सिंह दिनकर की रचनाओं- कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, हुंकार, में राष्ट्रीय चेतना तथा जागृति के साथ-साथ शूद्र होकर भी शक्ति के कारण सम्मान पाने वाले कर्ण को नया आयाम दिया गया है । आक्रोश, पौरुष `इतिहास के अध्याय पर मानव का संघर्ष तथा `दु

---

[1] हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८६, पृ० २३६ ।

न ऐंठ मदमाती चिल की' के अतिरिक्त युधिष्ठिर का राज्य से विराग 'कवि' के मन में शासक वर्ग तथा सत्ता से विरक्ति है । 'समर शेष है' के साथ साथ 'हारे को हरिनाम' का स्मरण दिनकर को अपने समकालीन कवियों से अलग करता है । केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं छायावादी संस्कार से मुक्ति तथा 'जीते भर लम्बे बने' के प्रति एक नवीन भाव देखा जाता है । डा० राम विलास शर्मा का कथन है कि प्रगतिशील साहित्य की धारा इस सम्मेलन से पुरानी थी । '१९३० ई० में कांग्रेस द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलन की असफलता के बाद भारत के बहुत से राजनीतिक कार्यकर्ता गांधीवादी रास्ता छोड़कर स्वाधीनता प्राप्ति के नये रास्ते खोजने लगे ।'[1] 'युग की गंगा' में केदार की ऐसी कवितायें संकलित की गई हैं जिन पर 'परतंत्र भारत' तथा स्वतंत्रता के बाद की राजनीति की स्पष्ट छाप है । 'युग की गंगा' हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है ।[2]

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का दूसरा प्रमुख चरण 'प्रयोगवाद' के रूप में जाना जाता है । सामान्यतः प्रयोगवाद का आरम्भ तार सप्तक के प्रकाशन काल (१९४३ ई०) से माना जाता है किन्तु 'मुक्तिबोध' डा० राम विलास शर्मा तथा डा० नामवर सिंह ने १९३६ ई० से ही 'प्रयोगवाद' (नयी कविता) का आरम्भ माना है । 'तार सप्तक' में आने वाले 'अज्ञेय' मुक्तिबोध भारत भूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र 'जैन', प्रभाकर 'माचवे', गिरिजा कुमार माथुर, राम विलास शर्मा, शमशेर, हरिनारायण व्यास, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, मदन वात्स्यायन, सर्वेश्वर के अतिरिक्त नागार्जुन, वीरेन्द्र कुमार जैन आदि रचनाकारों को 'प्रयोगवाद' से जोड़ा जाता है । इन रचनाकारों की कविता की अलग पहचान 'आत्मसंघर्ष', मानसिक अशान्ति, चरम सीमा तक धैर्यपूर्वक निराश होकर सोचना, अति यथार्थ तथा कुण्ठा, निराशा के कारण बनती है ।[3] नागार्जुन, केदार,

---

१- प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल (डा० रामविलास शर्मा)
२- ,, ,, ,, संस्करण १९८६, पृ० सं० २०
३- आत्म संघर्ष की कविता और मुक्तिबोध - रघुनाथ त्रिपाठी, सं० १९८६, पृ० २२-२४ ।

मुक्तिबोध की कविताओं का अति-`यथार्थवाद` वह नींव है जिस पर `प्रयोगवाद` के आत्म संघर्ष का पुराने खण्डहरनुमा महल का दीवाल खड़ी है । इस दीवाल की टूटी छत, फूटे पलस्तर, बन्द दरवाजे पर पैरों की आती आवाज के बाद भी `ब्रह्म राक्षस` का दिखाई न पड़ना रचनाकार की मन स्थिति की विषम अशान्ति तथा चरम निराशा की सूचना है । अज्ञेय ने इस धारा में `कुण्ठा` को जोड़कर `चिन्ता`, `भग्नदूत`, `इन्द्रधनुष रौंदे हुए थे`, `हरी घास पर क्षण भर इत्यलम् पूर्वा आदि कृतियों का प्रणयन किया है । जिस प्रकार द्विवेदी युग पर महावीर प्रसाद द्विवेदी अथवा भारतेन्दु युग पर भारतेन्दु का व्यक्तित्व छाया रहा उसी प्रकार प्रयोगवाद तथा नयी कविता के `शलाका पुरुष` अज्ञेय का व्यक्तित्व भी सर्वाधिक प्रभावशाली किन्तु उतना ही विवादास्पद है । `तार सप्तक` के अतिरिक्त दूसरे तीसरे, चौथे सप्तक की पृष्ठभूमि में संघर्ष कम किन्तु कविता में `आत्मवादी दर्शन` की कई किरणें देखी जाती हैं ।

`अज्ञेय` की सम्पादकीय योजना में `तारसप्तक` के अतिरिक्त `दूसरा सप्तक`, तीसरा सप्तक, चौथा सप्तक के प्रकाशित होने से युगीन कवियों को एक मंच मिला किन्तु असमय में ही `तब के बोधि सत्व` अपदस्थ हो गये । कविता का एक मुकम्मल रूप सामने आया तथा समीक्षकों की उदासीनता के कारण रचनाकारों ने ही समीक्षक का कार्य करना आरम्भ किया । `सीढ़ियों पर धूप` आत्म हत्या के विरुद्ध, `कुछ कवितायें, कुछ और कविताएं`, आत्मजयी, अंधायुग, कनुप्रिया, `बोलने दो चीड़ को`, उत्सवा, बनपाखी सुनो आदि कृतियाँ प्रयोगवादी कविता का प्रतिनिधित्व करती है । अलग-अलग राहों के अन्वेषी इन रचनाकारों ने इतनी अधिक राहें निर्मित की जिनमें भटकाव के अतिरिक्त विसंगति, विडम्बना, नैराश्य, असहाय व्यक्तात्मकता, ऊब, वितृष्णा सब कुछ विद्यमान है । डा० शम्भुनाथ सिंह ने प्रयोगवाद और नयी कविता के अस्तित्व को पृथक पृथक स्वीकार करते हुए कहा है कि प्रवृत्तिगत अन्तर के कारण (१९४३-५३) के बीच की कविता प्रयोगवाद तथा

१- नयी कविता : उद्भव और विकास - डा० जगदीश गुप्त

१९५४ ई० के बाद की प्रकाशित कविताओं को 'नयी कविता' कहना चाहिए[१]। 'नया हिन्दी काव्य' के लेखक भी प्रयोगवाद और नयी कविता को पृथक रूप में स्वीकार किया है। 'प्रयोगवादियों' का प्रयोग राहों के अन्वेषण के साथ साथ नई शिल्प विधि तथा नवीन अभिव्यंजना प्रणाली की ओर विकसित हुआ है। 'छायावाद' की तरह प्रयोगवाद भी विवादों का केन्द्र रहा है। जिस प्रकार प्रसाद-पन्त तथा शुक्ल जी की वैचारिक टकराहट ने 'छायावाद' को सबल बनाया है उसी प्रकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा प्रयोगवाद के विरोध ने अभाव तथा त्रुटियों के होते हुए भी इस युग को समीक्षा के क्षेत्र में प्रस्तुत किया है। 'तार सप्तक' अथवा 'प्रयोगवादी कविता' का आरम्भ होने के तीन वर्ष बाद (१९४६) शमशेर बहादुर की समीक्षा निकली थी। इससे पूर्व यह नाम 'एक गोष्ठी' में सुना गया था जो नये प्रयोग के अर्थ से युक्त था[२]।

प्रयोगवाद का समान धर्मी अथवा परवर्ती नयी कवितावाद है। प्रयोगवादी नाम से जाने गये रचनाकार अपने को नयी कविता वादी कहते हैं तथा 'नयी कविता' के प्रकाशक और सम्पादक अपने को 'प्रयोगवादी' कहते हैं। प्रयोगवाद के उत्तरवर्ती चरण में अज्ञेय के नेतृत्व से पृथक होकर कुछ कवि 'नयी कविता' आन्दोलन से जुड़ गये जिन्होंने नयी कविता के व्यापक कैनुवस पर सम्पूर्ण छायावादोत्तर काव्य सर्जना को गुम्फित करने का साहस किया है। विरोध - 'इतना कि एक दूसरे के खून तक से विरोध' और एकता ऐसी कि तार सप्तक में चार साम्यवादी रचनाकारों के अतिरिक्त ३ गैर कम्युनिस्ट भी हैं। यह तथ्य भी उतना ही चौंकाने वाला है कि इन सभी कवियों में राजनीतिक दल की तरह गढ़ जोड़ तथा अभूत पूर्व एकता देखी जाती है[३]। तीन-चार बार ७, ७ कवियों का 'न्यू सिग्नेचर्स' या 'न्यू टाइम्स' की हैमिग्वे, ईशरवुड, आदि के समान है तथा 'सात' कवियों का एक साथ होना

१- प्रयोगवाद और नयी कविता - डा० शम्भुनाथ सिंह

२- नयी कविता और अस्तित्ववाद - डा० राम विलास शर्मा, सं० १९७८, पृ० ४८
(१९४१ की रेडियो गोष्ठी - पन्त, भगवती चरण वर्मा, अंचल, भारती, सुमन

३- 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में डा० राम विलास शर्मा का निबन्ध- नयी कविता।

`बाई चान्स` या `पर चान्स` नहीं अपितु बहुत सोच विचार कर किया गया सहयोग के आधार पर प्रकाशन है । एक लम्बी अवधि तक तार सप्तक की पाण्डु-लिपि का अप्रकाशित पड़ा रहना या गायब हो जाना पुन: खोज कर उसका प्रकाशन कभी योजना लेखक संघ में तथा किन्हीं तथ्यों के अनुसार `तारसप्तक` की योजना `मालवा` के कवियों द्वारा बनी हो, ऐसी सूचनायें हैं जो `सात कवियों` के एक साथ प्रकाशित होने को आश्वास नहीं करती हैं ।

`नयी कविता` नामकरण का श्रेय अज्ञेय को है जिन्होंने आकाशवाणी `कलकत्ता` से नयी कविता पर १९४९ मे एक वार्ता प्रसारित की थी किन्तु बाद मे इसी नाम से डा० जगदीश गुप्त ने प्रयाग के कवियों के सहयोग से अपनी अलग राह बनाने का प्रयास किया । `नाव के पाव`, `हिम विद्ध` के अतिरिक्त `युग्म` इनकी स्वतंत्र कृतियां हैं । `नयी कविता` के आठ अंको द्वारा इन्होंने कविता को ऐसे विवाद से जोड़ दिया कि `अज्ञेय` के `आ तू आ` । मेरे पैरों की छाप-छाप पर । रखता अपनी छाप की । प्रतिक्रिया, `असमय में ही अस्त हो गये` रूप में सुनी गई । `अन्तर्विरोध` या `अन्तर्द्वन्द्व` से ऊपर उठकर रचनाकारों के सुलभ खुल्ला संघर्ष `गुटबन्दी` का इससे प्रमुख कोई उदाहरण नहीं हो सकता । जिस अज्ञेय ने `प्रयोगवाद - नयी कविता` की राह निर्मित की उन्हीं के अनुयायी `बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाये` या `असमय ही अस्त हो गये` `अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र` जैसी टिप्पणियाँ लिखी । रोमानी संवेदना भी स्वच्छन्दतावादी संस्कार के रूप में इस युग की कविता में है । मार्क्सवादी चेतना से चलकर अनास्था घुटन और संत्रास की संवेदना तक फैली हुई छायावादोत्तर कविता के विभिन्न आयाम है ।

आलोच्य कविता के युग को `छायावादोत्तर` कहना भी छायावाद युग के बाद की कविता के सभी प्रमुख रूपों का प्रतिनिधित्व है जिनमें कि `वाद-वादिता` के चिन्ह विद्यमान हैं ।

—

छायावादोत्तर हिन्दी कविता और उसका प्रतिमानीकरण

(राही नहीं राह के अन्वेषियों की संवेदना)

मूल्यांकन समीक्षण नामकरण तथा प्रतिमानीकरण की दृष्टि से हिन्दी कविता का आधुनिक काल वाद प्रतिवाद टकराव एवं समस्याओं का काल है । टूटते परिवेश बदलते मानक बिखरे बिम्ब एवं उलझे प्रतीकों के कारण हिन्दी कविता का समकालीन युग अध्येताओं समीक्षकों, अनुसन्धाताओं एवं आचार्यों के लिए समस्याओं का युग है । इस वैचारिक संघर्ष में सर्जकों एवं कृतिकारों की भी भागेदारी रही है । समकालीन रचनाकारों, कवियों एवं वाचन संवेदना से जुड़े हुए समीक्षकों का यह दावा कि " जितनी समस्यायें आज के जीवन में है उतनी इससे पहले कभी नहीं थी " तथा उपलब्धियों के सम्बन्ध में उनका यह कहना कि "समकालीन हिन्दी कविता नये मानव-जीवन के अनुरूप नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है । समीक्ष्य संवेदना के लिए आचार्यों और समीक्षकों का यह आरोप कि आज की हिन्दी कविता सभी शास्त्रीय मान मूल्यों एवं प्रतिमानों का अतिक्रमण कर रही है । यह आरोप भी कि अपनी सम्पूर्ण परम्परा, संस्कृति तथा स्वदेशीयता का परित्याग कर आज की हिन्दी कविता विदेशी प्रभाव से युक्त है । क्षणवाद निराशा,कुण्ठा आत्मसंघर्ष एवं उ काई के साथ-साथ समकालीन कविता अस्तित्ववाद तथा रूप एवं कलावाद में उलझ गई है ।

लघु मानव की व्यथा कथा को संजोए हुए छायावादोत्तर हिन्दी कविता वैश्विक-दृष्टि सम्पन्न होने के कारण पूर्णतः प्रासंगिक एवं जीवन्त है । विविध वाद एवं वैचारिक संघर्ष के अतिरिक्त रचना का आत्मसंघर्ष युग का स्वर बन कर आज की संवेदना में इतना मुखर हो चुका है कि आज की कविता से अधिक कवि बोलने लगा है जो गम्भीरता के विपरीत है । ऐसे युग की रचनाओं का प्रतिमानीकरण "काव्य-संवेदना" के समस्याग्रस्त होने से और भी समस्याग्रस्त है ।

वाद-वादिता एवं प्रतिमानों की दृष्टि से संघर्ष तथा कायरता सदैव से साहित्य-शास्त्र का अंग रही है । जब से संवेदना आरम्भ हुई है तब से उसका आस्वादन मूल्यांकन एवं परीक्षण भी आरम्भ हुआ है । चाहे भारतीय काव्य-शास्त्र का प्राचीन युग हो अथवा रोम एवं यूनान से आरम्भ हुआ पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र,

चाहे विक्टोरियन एज के नाटकों के साथ मार्लो, शेक्सपियर की नाट्य कृतियों की प्रभावकारिता की समस्या हो अथवा वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स और बायरन आदि के रोमान्टिक रिवाइवल की प्रासंगिकता, सदैव प्रतिमानगत समस्यायें रही हैं। हिन्दी कविता के पूर्व मध्यकाल में तुलसी, सूर, जायसी, कबीर की सर्जना इतनी प्रौढ़ थी कि 'काव्य-सर्जना' और समीक्षा आलोचना एवं प्रत्यालोचना के लिए पृथक प्रयास नहीं हुआ। परन्तु उत्तर मध्य काल में ही 'कविताई' के अतिरिक्त 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' जैसे कथन सुने जाते हैं। 'भूषन बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त' या 'ज्यों-ज्यों निहारिये नैरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सु निकाई' तथा 'वह चितवनि और कछू जे "हि बस होत सुजान' जैसे उक्तियां तो कविता में उत्तर मध्यकाल में आयी थीं। इसी युग में सर्जकों का एक वर्ग ऐसा भी हुआ जिसने 'संस्कृत काव्य-शास्त्र' से प्रतिमान उधार लेकर अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा की आड़ में ऐसा 'रीति-शास्त्र' निर्मित करता रहा जो 'आचार्यत्व' की पहुंच या 'कवि शिक्षा' का साधन बना। रीतिकाल में 'नायिका भेद' हाव भाव हेला' एवं सात्त्विक भावानुभावों की ऐसी कवितायें भी रची गई जो 'सूझे केसव की कविताई' या 'कठिन काव्य के प्रेत' की उपाधि का कारण बनी।

हिन्दी कविता के आधुनिक युग में प्रवेश करते ही जितनी तत्परता से समाजोत्थान राष्ट्र भक्ति तथा नवजागरण से युक्त कवितायें रची गई उतनी ही तत्परता से अपनी सम्पूर्ण परम्परा के मूल्यांकन का भी सिलसिला आरम्भ हुआ। आधुनिक काल को 'गद्य काल' नाम देने का एक कारण यह भी हो सकता है कि गद्यात्मक कृतियों में ही तर्क-वितर्क विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अधिक होती है। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि विधाओं के आरम्भ तथा उत्प्रेरण में तथा हिन्दी समीक्षा के विकास में आरम्भिक पत्र-पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वाराणसी, प्रयाग, कानपुर, आगरा, लखनऊ आदि हिन्दी प्रदेश के प्रमुख नगरों से निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं ने आधुनिक काल के 'नवजागरण' को चरितार्थ करने के अतिरिक्त हिन्दी समालोचना को भी जन्म दिया। हिन्दी प्रदीप, कविवचन सुधा, ब्राह्मण, उदन्त मार्तण्ड, भारतेन्दु मैगजीन, इन्दु, सरस्वती आनन्द

कादम्बिनी के अतिरिक्त श्री शारदा, `कल्पना` , विशाल भारत `हंस` आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आधुनिक युग की यह विधा समालोचना से समीक्षा और फिर सीधे सीधे `आलोचना` प्रत्यालोचना होती गई । मिश्रबन्धु प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, चौधरी बदरी नारायण `प्रेमघन` , भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुकुन्द गुप्त एव प० पद्मसिंह शर्मा आदि लेखकों ने हिन्दी समीक्षा को जन्म दिया तथा पत्र-पत्रिकाओं में आरम्भ की गई परिचयात्मक टिप्पणियों से समालोचना की सम्भावनायें और भी तीव्रतर हुई । इसी युग में `ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली` का आन्दोलन लेखन एव कविता में आरम्भ हुआ तो समीक्षा-क्षेत्र मे `शुद्ध-भाषा` तथा `कवि और कविता` की समस्या पर लेख लिखे गये । हिन्दी समीक्षा के इस आरम्भिक काल में ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने `सरस्वती पत्रिका (१६०६) के माध्यम से हिन्दी कविता और `उसकी- भाषा` को ही मुख्य समस्या बनाकर रीतिकालीन संस्कारों से उस युग की कविता को मुक्ति दिलाई । `गद्य` और `पद्य` केवल लिखे या पढ़े जाने के कारण अलग नहीं किन्तु दोनों की भाषा एक होने पर भी `कविता मे कुछ और ` की माग हिन्दी कविता की समीक्षा का भी नव आभूषण है जो आचार्य द्विवेदी द्वारा लाया गया ।

इसी युग के एक प्रतिनिधि लेखक आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की सर्जना पूरे काल का प्रतिनिधित्व करती है । भाव या मनोविकार, श्रद्धा और भक्ति, घृणा, क्रोध, आदि विषयों पर निबन्ध लिखने के अलावा `हिन्दी साहित्य का इतिहास` के माध्यम से सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की समझ और पैठ ` के अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में एक प्रतिभा सम्पन्न समीक्षक एव गहन अध्येता की दृष्टि थी जो `तुलसीदास` `सूरदास` `जायसी` ग्रन्थावली की भूमिका तथा `भ्रमर गीत सार की भूमिका` में प्रकट होती है । इन्हीं दिनों साहित्य के इतिहास में आचार्य शुक्ल द्वारा छायावाद सम्बन्धी विचारों का प्रकाशन किया गया और छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, मधुलोभ तथा कुण्ठा के अतिरिक्त किशोर मन की अपरिपक्व दृष्टि के आरोप के साथ ही महावीर प्रसाद द्विवेदी मुकुटधर पाण्डेय अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरि औध, बच्चन उपाध्याय , शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० श्यामसुन्दर दास आदि समीक्षकों ने `छायावादी कविता ` के `परिप्रेक्ष्य में

वास्तविक समीक्षा का समारम्भ किया । इन आरोपों का उत्तर देने के लिए 'पन्त' ने पल्लव की विस्तृत भूमिका लिखकर अपने दृष्टिकोण से अध्येताओं को अवगत कराना चाहा तो 'प्रसाद' ने 'काव्य-कला तथा अन्य निबंध' के माध्यम से 'छायावाद' को 'छाया' का स्पष्टीकरण दिया । निराला और महादेवी ने भी भूमिकाओं और लेखों द्वारा पुनीत यज्ञ में अपनी आहुति दी । इसी अवधि में प० मुकुटधर पाण्डेय ने (१९२० ई०), श्री शारदा पत्रिका में 'छायावाद' की वास्तविक समीक्षा और पहचान के लिए निबन्ध लिखा । छायावादी कविता में स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद, प्रकृति चित्रण, प्रतीक योजना आदि का तटस्थ मूल्यांकन कर श्री पाण्डेय ने प्रतिमानीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया । छायावादी कविता के लिए उपेक्षित नाम, विदेशी अनुकरण का आरोप तथा किशोर मन की भावुक कल्पना के अतिरिक्त मांसल सौन्दर्य दृष्टि सम्बन्धी जो आरोप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लगाया था उसकी परिणति 'वाद' के रूप में समीक्षा से चलकर सर्जना में आई । कविता की अनुभूति, संवेदना एवं अभिव्यंजना से सम्बन्धित आचार्य शुक्ल की उक्त टिप्पणी सौन्दर्यदृष्टि तथा नैतिकता का आग्रह लिये है । इसी परम्परा में अग्रसर स्वच्छन्दतावादी समीक्षक आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, डा० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी तथा गंगा प्रसाद पाण्डेय ने जो समीक्षायें लिखीं उनसे छायावादी कविता के सम्बन्ध में कृति के गर्भ से खोजे गये प्रतिमानों का उद्भव हुआ जिसका विकास परवर्ती समीक्षा में देखा जाता है ।

अब तक विकसित 'हिन्दी समीक्षा' में तीन उपधारायें सामने आईं । (१) समसामयिक साहित्य की समीक्षा, (२) शास्त्रीय समीक्षा, (३) तुलनात्मक समीक्षा के लिए पूर्ववर्ती भक्ति काल एवं रीतिकाल के सृजन की समीक्षा । आचार्य शुक्ल ने समसामयिक कविता-छायावाद तथा भारतेन्दु एवं मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं की समीक्षा करने के अतिरिक्त सैद्धान्तिक समीक्षा की दिशा में 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' तथा अन्य शक्तियों से सम्बन्धित व्यावहारिक समीक्षा का भी मानवीकरण किया । समसामयिक कविता के अतिरिक्त तुलनात्मक समीक्षा के लिए पूर्ववर्ती विदेशी कविता, संस्कृत की रचनाओं तथा तुलसी, सूर, कबीर, जायसी एवं रीतिकाल

के आचार्य केशव, बिहारी, घनानन्द, देव, पद्माकर की सर्जनाओं पर भी दृष्टिपात किया गया ।

छायावाद युग हिन्दी साहित्य का `शुक्ल प्रेमचन्द प्रसाद युग` कहा जाता है जिसमें समीक्षा के लिए आचार्य शुक्ल का प्रतिमानीकरण तथा कहानी, उपन्यास के लिये प्रेमचन्द एव नाटक के लिए `प्रसाद` के सृजन को युग का प्रतिनिधि माना जाता है ।

हिन्दी समीक्षा को इसी परम्परा को `छायावाद` के पूर्व एव बाद के काल खण्ड में विभक्त करके देखने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए डा० नगेन्द्र ने `छायावादोत्तर हिन्दी कविता` के मूल्यांकन की समस्या पर एक निबन्ध लिखा था । इसी के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता एव नकेन की प्रपद्यवादी कविता के सृजन के बाद `किसिम किसिम की कविता` की अलग अलग राहों की खोज आरम्भ हुई । प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (१९३६), रूपाभ का प्रकाशन (१९३८) तथा कविता के क्षेत्र में यथार्थवाद का उदय छायावादोत्तर युग की हिन्दी कविता की सीमा का आरम्भ है जिसे `वास्तविक आधुनिकता` के विकास का द्वितीय चरण कहा जा सकता है । छायावादी हिन्दी समीक्षा के साथ ही उपेक्षा, विरोध, आरोप एव अस्वीकृति की प्रवृत्ति भी प्रतिमानीकरण का आधार बनी जिसका उत्तरोत्तर विकास प्रगतिवाद की प्रगतिशीलता, प्रयोगवाद की प्रयोग धर्मिता तथा नयी कविता की नवता के रूप में होता गया । कविता को `अकविता` `अ-अकविता` तथा समानान्तर कविता, प्रति कविता के रूप में स्वीकार करने का आग्रह `छायावादोत्तर समीक्षा` की ऐसी पहचान है जिसके सहारे अस्वीकृति, कुंठा निराशा, आत्मसंबंध, परम्परा का विद्रोह एवं अन्तर्द्वन्द्व के अतिरिक्त गद्यात्मक रूप टेढ़े बाढ़े तिरछे विराम चिन्ह, उल्टे छापे गये अक्षर तथा अर्थ की लय जैसे प्रतिमानों का अनुभव कविता की समीक्षा के लिए लाया गया ।

`वाद` `शास्त्र` या `दर्शन` से मुक्त की गई कविता से मुक्त कविता के नामकरण के साथ ही स्वीकृति, अस्वीकृति, सृजन मूल्यांकन एवं सम्पूर्ण अर्चना में अन्तर्निहित तत्वों के साक्षात्कार की प्रवृत्ति समीक्षा प्रतिमान बन गई ।

स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद, अति यथार्थवाद, मानववाद, मानवता वाद के अतिरिक्त रूप एवं कलावाद, समाजवाद आदि के समन्वय से 'नये साहित्य के सौन्दर्य शास्त्र' रचे जाने का जो उपक्रम प्रयोगवाद एवं नयी कविता के काल में हुआ उसमें 'प्रगतिवाद' एवं 'मार्क्सवाद' की सर्व प्रमुख भूमिका है । नये जीवन मूल्यों के अनुरूप समीक्षा का मूल्यांकन प्रतिमानीकरण की प्रमुख पृष्ठ-भूमि है जिसने 'नयी-समीक्षा' के रूप में स्थान बनाया है ।

जिस प्रकार 'प्रयोगवाद' का प्रतिमानीकरण की दिशा में उदय स्वतंत्रता के बाद माना जाता है उसी प्रकार छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा के लिए 'प्रतिमानों' का प्रश्न भी 'तीसरे सप्तक' तथा प्रयाग की नयी कविता के प्रकाशन (१९५४) के साथ ही उठाया जाने लगा । इसी अवधि में लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'नयी कविता' के प्रतिमान '(१९५७) का प्रकाशन हुआ तथा 'नयी कविता' के क्षेत्र पर लेखकों एवं रचनाकारों की 'परिमल' गोष्ठी में 'नयी कविता के प्रतिमान' अथवा कविता के नये प्रतिमान विषय पर खुली बहस हुई । प्रो० वी० डी० एन शाही का लम्बा निबन्ध 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' के प्रकाशन (१९६६) साथ ही 'नयी कविता' का सवादी स्वर विसवादी हो गया । श्री नागेश्वरलाल, रमेशचन्द्र शाह, विजय देव नारायण साही, डा० शम्भुनाथ सिंह आदि समीक्षकों ने 'नये प्रतिमान' अथवा 'नयी कविता के प्रतिमान', पुराने निकष (लक्ष्मीकान्त वर्मा), तथा 'कविता के नये प्रतिमान' (नामवर सिंह) पुस्तकाकार छपी और यह अवधि 'साठोत्तरी कविता' का समय है ।

इन कृतियों एवं कृतिकारों के माध्यम से आलोचना का संकट और भी गम्भीर होता चला गया । अज्ञेय द्वारा 'तार सप्तक' की भूमिका, प्रतीक (पत्रिका) का प्रकाशन 'विश्व भारती क्वार्टर्ली' में उनके द्वारा लिखे गये निबन्धों (१९३७) 'निराला की परम्परा' के 'देह' को बाने की घोषणा ' ने 'वाद' के रूप में पहले ही हिन्दी समीक्षा में अकुरण की ऊर्जा प्राप्त की थी । वी० डी० एन० शाही के विचारों 'प्रिज्म' बनकर उसी ऊर्जा ने 'छायावादोत्तर युग' की

'काव्य-समीक्षा' के लिए मान का रूप धारण कर लिया। 'प्रगतिवाद' एवं 'प्रयोगवाद' के आरम्भिक काल में दोनों धाराओं में कोई टकराव नहीं था। 'तार सप्तक' के प्रकाशन काल तक प्रगतिवादी रचनाकार ही प्रयोगवादी खेमे में सम्मिलित हुए थे किन्तु जब प्रयोगवादी कविता पर समीक्षकों द्वारा प्रहार होने लगा तो 'नयी कविता' नामक नये वाद की घोषणा करने के साथ ही अज्ञेय के झण्डे के नीचे चलने वाले रचनाकारों तथा समीक्षकों ने 'पत्रिका प्रकाशन' के साथ ही 'अज्ञेय' पर भी 'असमय में ही अस्त हो गये' का पाम्फ्लेट चिपका दिया। इसी अवधि में अशोक वाजपेयी का निबन्ध 'बूढ़ा गिद्ध पंख फैलाये' लेख माला का प्रकाशन के साथ 'निराला' के लिए जो सद्भाव 'नयी कविता के शलाका पुरुष' ने किया था उससे भी भद्दा व्यवहार, नये समीक्षक ने अज्ञेय के प्रति प्रदर्शित किया[1]।

छायावादोत्तर काल की बहुआयामी काव्य सर्जना तथा समीक्षा बीसवीं शताब्दी के छठें दशक तक 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' मान-प्रतिमान रूप में समानान्तर चलने लगी। 'मुक्तिबोध' की सर्जना का एक युग (१९४३-१९६३) बीत जाने, तार सप्तक के दूसरे संस्करण के प्रकाशन तथा तार सप्तक के तीन बार प्रकाशन के साथ ही 'नयी कविता' नाम से स्वीकृत तथा 'प्रगति-प्रयोग नयी कवितावाद' के रूप में जो सृजन हुआ उसकी समीक्षा पर 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष' 'नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र' नये ढंग की सोच का परिणाम है। इसी काल में छायावाद युग के पुनर्मूल्यांकन के अतिरिक्त छायावादी संस्कार से मुक्ति, नये मूल्यों की प्रतिष्ठा 'रस सिद्धान्त' सिद्ध रस का अन्त' काव्य-भाषा और सृजनशीलता, सपाट बयानी, अनुभूति की प्रामाणिकता, जटिलता और तनाव, गीतात्मकता और नाटकीयता जैसे 'प्रतिमान' 'नयी समीक्षा' के माध्यम से सामने आये। 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' मार्क्सवादी दृष्टि का समाजवाद की ओर झुकना तथा 'इतिहास की आवृत्ति' रूप में तार सप्तक की परख करने वाले डा० राम विलास शर्मा एवं 'नामवर सिंह' के अतिरिक्त डा० जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती,

---

१- नयी कविता और अस्तित्ववाद - डा० रामविलास शर्मा, सं० १९७८, पृ० ४२

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि के द्वारा `परम्परा का मूल्यांकन` `अर्थ की लय` आदि विषय भी प्रतिमानीकरण की प्रक्रिया से जुड़ गये । `नयी कविता` के फ्रेम में कृति को सम्मिलित करने, कृतिकार अथवा उसके कृतित्व को स्वीकारने, नकारने, बेदखल करने अथवा `क्लासिक` करने का जो सिलसिला चला वह अब तक उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है ।

`वाद` एवं आधुनिकता के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध - अटूट गठ जोड़ का जो परिणाम प्रयोगवाद तथा नयी कविता के काल में `नव दृष्टि` या `प्रगतिशीलता` के कृत्रिम नाम से सामने आया उसमें परिस्थितियों का दबाव, कलाधरता तथा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा की आड़ में `कविता के नये प्रतिमान` या `नयी कविता के प्रतिमान` की अनिवार्यता पर बल दिया गया । परम्परा को स्वीकारने के नाम पर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता को `नयी कविता` कहना किन्तु `एक दूसरे के कुते से विरोध` का सीधा प्रभाव प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कवियों के बीच टकराव के रूप में देखा गया । `नवता` की आपाधापी में छायावादी प्रवृत्ति से सीधा टकराव तथा रस, छन्द, अलंकार, अप्रस्तुत विधान ही नहीं सम्पूर्ण काव्य शास्त्र की मान्यताओं को नकारना एक गम्भीर परिस्थिति है जिसके कारण `नया सौन्दर्य शास्त्र` या `नयी समीक्षा` के प्रतिमान स्थापित होने लगे हैं । साहित्य शरीर की इस अभिवृद्धि से लेखक का मानसिक आकाश और खुला और उसके क्षितिज दूर दूर तक फैले , साहित्य के आस्वादन, परीक्षण और मूल्यांकन के लिए उसे नये साधन और प्रतिमान मिले और उनका शरीर रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा ।[1]

-o-

१- कवि दृष्टि - `अज्ञेय`, सं० १९८३, पृ० २१ ।

साहित्य-शास्त्र तथा तद्विषयक उद्भावनायें

काव्य का सृजन, आस्वादन, अर्थग्रहण तथा सौन्दर्यानुभूति से आनन्द प्राप्ति में सहायता काव्य-शास्त्र का उद्देश्य रहा है। काव्य के अर्थ-ग्रहण हेतु इसकी परिभाषा, लक्षण, गुण-दोष विवेचन, काव्यांग प्रक्रिया का चिन्तन 'काव्य की आत्मा' या शरीर का चिन्तन तथा पूर्ववर्ती आचार्य के मत का खण्डन-मण्डन ही काव्य-शास्त्र की सृजन-परम्परा है। भारतीय काव्य-शास्त्र के समस्त शास्त्र विषयक ग्रन्थों में प्राय प्रमाता को केन्द्र मानकर उसके आनन्द (हित) के साधक तत्व-गुण, बाधक तत्व-दोष तथा रूप एवं कला विषयक अभिव्यंजना पक्ष-रीति, वक्रोक्ति, औचित्यादि की सम्यक विवेचना की गई है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की यह परम्परा अत्यन्त तार्किक, पाण्डित्यपूर्ण, दर्शन-व्याकरण-कला विषयक मौलिक उद्भावनाओं से युक्त तथा समृद्ध है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के अध्ययन अनुशील एवं गवेषणा की सुव्यवस्थित परम्परा ने न केवल रोम एवं यूनान अपितु फ्रान्स, जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैण्ड सहित योरोप एवं एशिया-महाद्वीपों के चिन्तन ज्ञान एवं विज्ञान को प्रेरित किया है[1]। किन्तु पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त की तुलना में भारतीय परम्परा समृद्धतर होते हुए भी असम्बद्ध अव्यवस्थित एवं खण्डित होने के कारण पर्याप्त समय तक अध्येताओं की दृष्टि से ओझल रही। 'काव्य-शास्त्र' की अव्यवस्थिति के प्रमुख कारण हैं --(क) इस विषय के विभिन्न नाम, (ख) परम्परा का सम्प्रदायों में विभक्त होना, (ग) प्राचीन ग्रन्थों की अनुपलब्धि। साहित्यशास्त्र जैसे दार्शनिक विषय में खण्डन-मण्डन, मत-मतान्तर तथा वाद-प्रतिवाद प्रतिभा एवं समृद्धि के सूचक होते हैं किन्तु दर्शन, संस्कृति कला एवं मानविकी आदि विषयों से अलग तथा जीवन्त मानव मूल्यों से दूर होकर जब कोई विधा 'एकान्त साधना' का रूप ले लेती है तो

१- रस सिद्धान्त : नये सन्दर्भ - आनन्द कुमार वाजपेयी, सं० १९७७, पृ० ६९

नया साहित्य नये प्रश्न : आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, सं० १९८८, पृ० १३४

समाज के सम्पर्क से कट जाती है । `साहित्य शास्त्र` मे भी जब धर्म की रूढ़ियों तथा दर्शन, उपनिषद् अथवा वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव प्रखर होता है तब काव्य-कला का अन्धकार युग आता है । भारतीय काव्य-शास्त्र का आचार्य भरतमुनि से भामह के बीच का समय (ई० ३०० से ६५० ई० तक) अन्धकार युग कहा जाता है । इसी प्रकार रोम-यूनान एवं इटली में भी अन्धकार युग आया था जिसका कारण था रोमनकैथोलिक चर्च का बढ़ता हुआ प्रभाव ।

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा आचार्य भरतमुनि से (ई० ३००) तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त की परम्परा प्लेटो के समय से मानी जाती है । प्लेटो के शिष्य अरस्तू द्वारा उनके सिद्धान्तों का खण्डन किये जाने पर भी पश्चिम की काव्यकला विषयक अवधारणा समृद्धतर होती गई किन्तु `भरतमुनि` के बाद लगभग ५०० वर्षों का समय ऐसी रिक्तता का है कि भामह से पहले `काव्यशास्त्र` के किसी ग्रन्थ की रचना का प्रमाण नहीं मिलता ।

भारतीय साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र की परम्परा वाल्मीकि के समय प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के साथ (ई० पूर्व २००) से आरम्भ हुई थी किन्तु `काव्य-शास्त्र` से सम्बन्धित स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना के क्रम में `भरतमुनि` प्रथम आचार्य हैं । `राजशेखर` की काव्यमीमांसा मे भरत से पूर्व के `काव्य-शास्त्र` के प्रणेता-आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है किन्तु उनके रचे किसी ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण `नाट्य-शास्त्र` से इस विषय का आरम्भ माना जाता है । `रस` अलंकार, रमणीयता, सौन्दर्य तथा प्रभावोत्पादकता के अतिरिक्त अद्वन्द्व तथा समाहिति के स्थल वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण, रामायण तथा महाभारत में मिलते हैं । इस साहित्य में विभिन्न रसों का उपयय तथा अप्रस्तुत विधान के माध्यम से अलंकारों के भी प्रयोग किये गये हैं । साहित्य सर्जना का यह प्राचीन रूप पारलौकिक दृष्टि तथा धर्म एवं साधना से सम्बन्धित होने के कारण धीरे-धीरे जन सामान्य से दूर होता चला गया और `काव्य-शास्त्र` की परम्परा पर भी अध्येताओं की दृष्टि नहीं पड़ी । प्राचीन साहित्य का लोप, शास्त्रार्थ की परम्परा तथा `कर्मकाण्ड` के बढ़ते प्रभाव के कारण काव्य-शास्त्र की बहुत बड़ा आघात लगा है ।

काव्य-शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुशीलन के लिए साहित्य की इस परम्परा को निम्नलिखित दृष्टियों से देखना आवश्यक है --

(१) साहित्य-शास्त्र विषय के लिए प्रयुक्त विभिन्न नाम ।

(२) साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थों के नाम ।

(३) काव्य की आत्मा तथा शरीर से सम्बन्धित 'वाद' एवं प्रतिवाद ।

(४) साहित्य के अध्ययन अनुशीलन एवं वर्गीकरण की प्रक्रिया (परम्परा) ।

(१) 'साहित्य शास्त्र' तथा उसके विविध नाम -

साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थों मे इस विषय के विभिन्न नाम संकेतित हैं । प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से काव्य की परिभाषायें, लक्षण, काव्यास्वाद का उद्देश्य तथा काव्य की रचना का औचित्य, कवि-कर्म की सार्थकता आदि के विचार प्रवाह मे इस विषय के अनेक नाम सुझाये गये हैं जिनमें साहित्य, काव्य, 'काव्य-शास्त्र', 'अलंकार शास्त्र' तथा 'रीति-शास्त्र' प्रमुख है । राजशेखर के प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्य मीमांसा (६ वीं शताब्दी) मे साहित्य विद्या को 'काव्य' तथा 'शास्त्र' रूप में माना गया है । 'पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीय' । पाचवी साहित्य विद्या है ऐसी यायावर की मान्यता है ।[१]

आचार्य विश्वनाथ की कृति 'साहित्य दर्पण' (१०वीं शताब्दी) तक साहित्य विद्या के दो रूप 'काव्य' और शास्त्र अलग अलग स्वीकृत किये गये।[2] प्रसिद्ध प्राच्य विद्या 'अध्येता' म० म० पी० वी० काणे ने 'साहित्य-शास्त्र' के अध्ययन की जिज्ञासा इस शास्त्र के लिए प्रयुक्त विभिन्न नामों से आरम्भ की है । 'साहित्य' - 'साहित्य विद्या' - 'काव्य' - 'काव्य शास्त्र' आदि विषय-सम्बन्धित नामों के अनुसंधान के बाद इस शास्त्र के लिए उन्होंने अलंकार-शास्त्र नाम उपयुक्त

१- सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः - काव्यमीमांसा - राजशेखर

(पी० वी० काणे द्वारा संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास से उद्धृत, प्र० 1961 ई

2- चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते परमानन्द-सन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

(विश्वनाथ कविराजप्रणीतसाहित्यदर्पण) सं० डॉ० सत्यव्रत सिंह प्र० 1976 (भूमिका)

बताया है[१]। साहित्य शास्त्र के दृश्यकाव्य - नाटक से सम्बन्धित नाम नाट्य-शास्त्र के उपरान्त `श्रव्यकाव्य` से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों के नाम मे `अलकार` की बहुलता के आधार पर उन्होंने इस विषय का नाम `अलकार शास्त्र` सुझाया है तथा डा० राघवन ने भी इसका समर्थन किया है ।

इस विषय के विभिन्न नामों मे `प्रतिमान` की सम्भाव्यता को दृष्टि से जब अलकार, गुण-धर्म, रीति अथवा रस की व्याख्या या कृतियों में इनसे सम्बन्धित सन्दर्भो पर भी दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट होता है कि `श्रव्य-काव्य-शास्त्र` के लिए अलकार तथा इससे सम्बन्धित विषय `अलकारशास्त्र` में वाणी के सौन्दर्य-अलकार, गुण, रीति आदि की विशद विवेचना ही अलकार शास्त्र है । अब तक के `अलकार शास्त्र` से सौन्दर्याश्रित प्रतिमान `अलकार` के अर्थ को जोड़कर `प्रतिमानीकरण` विषय को सकुचित अर्थ में ग्रहण करना है । इसी प्रकार `काव्य` `साहित्य` ध्वनि, रस, `आनन्द` आदि अभिधाये विविध क्रम में आई है जिससे इस विषय का नाम `रसशास्त्र` `साहित्य-शास्त्र` ध्वनि-शास्त्र, (आलोक) हो सकता है । `आनन्द` को `रुचि` या `रस से युक्त` अर्थ में ग्रहण किये जाने पर इसके अवलोकन श्रवण एवं अनुशीलन से प्राप्त आनन्द का ही तात्पर्य है ।

इस प्रकार इस विषय के लिए प्रयुक्त नामों में `अलकार-शास्त्र`,`काव्य-शास्त्र` तथा `साहित्य-शास्त्र` मे प्रतिमान निर्धारण के लिए उपयुक्त शब्द `काव्य-शास्त्र` है जिसका औचित्य पूर्व एव पश्चिम के विभिन्न आचार्यों द्वारा समर्थित है । अन्य नामों मे `नाट्यशास्त्र` रीतिविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र भी उल्लेखनीय है जिनका सम्बन्ध शास्त्रीय प्रतिमानों से है ।

२- साहित्य शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों के नाम -

प्रस्तुत शास्त्र के प्रणेता आचार्यों ने अपनी कृतियों के नाम सोद्देश्य रखे हैं । नाट्य-शास्त्र (भरतमुनि), काव्यालकार (भामह), काव्यादर्श (दण्डी)

`काव्यालङ्कारसार`, `काव्यालङ्कार सूत्र`, ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवितम् तथा साहित्यदर्पण, काव्य-प्रकाश, रसगंगाधर सदृश कृतियों के अतिरिक्त `व्यक्ति विवेक` `कुवलयानन्द`, `शृंगारप्रकाश`, `रसमंजरी` आदि के नामों में इनकी सर्जना एवं स्थापना का उद्देश्य निहित है। इन ग्रन्थकारों ने `नाट्य` को पंचम वेद (नाट्यरस) काव्य को अलंकार तथा सौन्दर्य का धारक, काव्य का आदर्श (सौन्दर्य = अलंकार) `काव्य-सौन्दर्य का तत्व` या काव्य सौन्दर्य को सूत्र रूप में चर्चा या वृत्ति रूप में विवेचना, `ध्वनि का प्रकाश या विवेचन` वक्रता को ही सौन्दर्य तथा रीति का तत्व मानकर उसे काव्य का जीवन या प्राण कहना, साहित्य का अवलोकन दर्पण के माध्यम से, रस रूपी गंगा को धारण करने वाले शिव (गंगाधर) आदि अभिधानों द्वारा `समीक्षा` का मानक निर्धारित किया जा सकता है। नाट्य, काव्य, साहित्य, शृंगार, ध्वनि, अलंकार, रस आदि के संयोग से (मिलाकर) जो नामकरण किये गये हैं इनसे `कृतिकार` के पाण्डित्य की प्रथम झलक भी मिल जाती है। कृति के शीर्षक में निहित `शब्द` या `शब्द-समूह` कभी-कभी श्लिष्ट होकर अन्य प्रतिमानों का भी संकेत देते हैं। जैसे मम्मट के `काव्यप्रकाश` या विश्वनाथ के `साहित्यदर्पण` में बिना अन्दर से देखे यह नहीं जाना जा सकता कि `काव्य-प्रकाश` ध्वनि तथा काव्य-प्रयोजन विधायक ग्रन्थ है तथा `साहित्यदर्पण` में `नायक` एवं `नायिका` का भी वर्णन है। ग्रन्थ के इन नामों के आधार पर भी प्रतिमानों का अनुसंधान हो सकता है।

(२) रचना के उद्देश्य में प्रतिमान की अस्मिता -

काव्य प्रकाशकार ने `तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि` कथन द्वारा भामह के `शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्` में संकेतित शब्द और अर्थ के `सहित` होने के उद्देश्य वक्राभिधेयता-अलंकृति तथा चमत्कार आदि का खण्डन किया है। इसके उपरान्त कहे गये `अनलंकृती पुनः क्वापि` का आशय है कि यदि कहीं स्पष्ट रूप से कोई अलंकार न हो तो भी दोष रहित गुण युक्त शब्दार्थ काव्य है[१]। इसी प्रकार मम्मट द्वारा `गुणीभूतव्यङ्ग्य` काव्य का विवेचन तथा `रुद्रट`

१- काव्यप्रकाश - मम्मट, प्रथम उल्लास (कारिका १ के बाद वृत्ति में)।

के काव्यालंकार मे आये हुए `भावालङ्कार` के उदाहरण पर सीधा प्रहार है, क्योंकि मम्मट ने `अलंकार-युक्त` काव्य को `मध्यम` की सीमा मे तथा `चित्रकाव्य` को अवर अथवा मध्यम से भी मध्यम `अधम काव्य` कहा है[१]। अन्य आलोचनाओं में `ध्वन्यालोक` पर अभिनवगुप्त की रचना `ध्वन्यालोक लोचन` तथा `नाट्यशास्त्र` की टीका, अभिनव भारती, तन्त्रालोक, काव्यालंकार (भामह) के उपरान्त काव्यालंकार सूत्र (वामन); `व्यक्तिविवेक` (महिम भट्ट) की रचना यह प्रमाणित करती है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र की इस परम्परा मे `वाद-प्रतिवाद` होने पर भी विरोध का वह स्तर नहीं है कि पूर्व कृतिकार के महत्व को नकार दिया जाय । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का `रसनिष्पत्ति` मे सम्बन्धित सूत्र की भट्ट लोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त द्वारा अलग-अलग व्याख्याये की गई । आचार्य अभिनवगुप्त ने `अभिनव भारती` में व्याख्या के लिए उन्हीं बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिया - (संयोगात् - निष्पत्ति) जिन पर भट्ट नायक तथा शंकुक का मतभेद था ।

`काव्यालोचन` के इन ग्रन्थों के नामकरण उद्देश्य कथन तथा काव्य के द्वारा प्राप्त आनन्द (रस) के विवेचनों में सम्प्रदाय या पृथक मत स्थापन की दृष्टि कम किन्तु पूर्व परम्परा को भलीभांति समझकर उसे व्याख्यायित करने की दृष्टि अधिक रही है । टीकाओं द्वारा `शास्त्र` की अध्ययन दिशा में भेद ऐसा उत्कृष्ट कार्य किसी अन्य देश के साहित्य मे विरल है ।

`काव्य-शास्त्र` के प्रतिमानों के निर्धारण की जो स्वस्थ परम्परा इन आचार्यों द्वारा निर्मित हुई है उसके कई अन्य अर्थ भी हो सकते हैं । `वक्रोक्ति` का प्रयोग भामह द्वारा एक अलंकार विशेष के लिए या वक्राभिधता के अतिरिक्त कुन्तक के `वक्रोक्ति जीवितम्` में उसकी भिन्न व्याख्या है । इसी प्रकार `वामन` द्वारा `अलंकार` शब्द का किया गया अर्थ भामह से भिन्न है[२]। रुद्रट `अलंकार`

१- शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् - काव्यप्रकाश (प्रथम उल्लास-५)

२- (क) वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति -भामह, काव्यालंकार(१-३६)

(ख) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि । बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि(वक्रोक्ति जीवितम्) - (१-७) ।

का भिन्न अर्थ करते हैं तथा भोवराज अलग । `शब्दार्थौ सहितौ काव्य`[1] तथा `वाक्य रसात्मकम् काव्य`[2] मे निहित वाक्य प्रतिमान की दिशा मे उल्लेखनीय है । `साहित्य-दर्पणकार` ने द्वितीय परिच्छेद में `वाक्य` की व्याख्या करते हुए कहा है कि — अर्थ ग्रहण हेतु पहले `रसात्मक` काव्य मे `रसात्मक` का अर्थ सर्वथा विलक्षण अलौकिक अनिर्वचनीय-व्यापार आस्वादन है । वाक्य इस आस्वाद्य (रस) का शरीर है तथा `रस` शरीरी[3] । वाक्य मे आई हुई ध्वनियों -(वाक्य) व् + आ + क् + य यदि वर्ण विपर्यय द्वारा पढ़ी जाय तो `क + आ + व् + य` (काव्य) हो जाता है -- अर्थात् `काव्य` = `वाक्य` । इसी क्रम मे एक अन्य उदाहरण भी ध्यातव्य है --`काव्य ग्राह्य - अलकारात्` (वामन) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम् (भामह) सौन्दर्यमलकार (वामन) कथन से जो तत्त्व बनता है उसमें `काव्य` अलंकार होने के कारण आस्वाद्य है जबकि आस्वाद्य `रस` होता है । सौन्दर्य का ही दूसरा नाम अलकार है, जबकि सौन्दर्य-विशेषत पहले इन्द्रिय ग्राह्य तथा रूपायित होता है उसमें `मूर्तन` का होना आवश्यक है ।

संस्कृत `साहित्य शास्त्र` के इन ग्रन्थों के अध्ययन अनुशीलन तथा व्याख्या द्वारा काव्य-समीक्षा में प्रयुक्त होने वाले शास्त्रीय प्रतिमानों का निर्धारण किया जा सकता है । काव्य में स्थित भाव-सौन्दर्य, रूप अभिव्यजना आदि अर्थ ग्रहण के द्वारा ही सम्भव है । अर्थ शब्दाश्रित होने के अतिरिक्त `प्रतीयमान` के प्रेरक भी होते हैं । `शब्द` तथा `अर्थ` के शोभातिशयिन` स्थिर धर्म को ग्रहण करने के लिए इन्हीं शास्त्रों से दृष्टि ग्रहण की जानी चाहिए । `सौन्दर्यानुभूति` की यह अभिधात्मक तथा श्रुत गोचर या दृग गोचर प्रक्रिया `संवेदना` रूप मे सहृदय प्रेक्षक के लिए ग्राह्य होती है ।

१- `काव्यालकार` -मे भामह की परिभाषा (१-१३)

२- साहित्यदर्पण - मे आचार्य विश्वनाथ की स्थापना - डॉ॰ सत्यव्रत सिंह सं॰ 1976

३- `वाक्य स्याद् योग्यताकाक्षासत्तियुक्त: पदोच्चय` - साहित्यदर्पण (२-१)

(४) शास्त्रीय प्रतिमान और उनका उद्भव काव्यशास्त्र की परम्परा -

आचार्य भरतमुनि की कृति 'नाट्यशास्त्र' से शास्त्रीय प्रतिमानों का उद्भव मानना चाहिए। 'काव्यमीमांसा' के साक्ष्य तथा संस्कृत साहित्य की 'आदि' कृतियों के सौन्दर्य-निरूपण से यह विदित होता है कि भरतमुनि से पहले भी साहित्यशास्त्र की परम्परा रही है[1]। आचार्य भरत मुनि की रचना नाट्यशास्त्र 'दृश्यकाव्य' के प्रथम सांगोपांग विवेचन का ग्रन्थ है जिसमें रस के अलावा 'वृत्ति' भाव, विभावों के अतिरिक्त अलंकारों का भी उल्लेख है। भरत मुनि के लगभग ६५० वर्ष बाद शास्त्रीय चिन्तन की दो समानान्तर-धारायें प्रवाहित हुईं जिनमें पहली धारा भट्ट लोल्लट और शंकुक की 'रसनिष्पत्ति' की है। रंगमंच से उत्पन्न आनन्द विशुद्ध रूप से लौकिक है। इस 'रस' का 'वस्तुनिष्ठ' विवेचन कहा जा सकता है। दूसरी धारा भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, रुय्यक की है जो अलंकार-गुण तथा रीति सदृश प्रतिमानों की उद्भावना से सम्बन्धित है। दृश्य काव्य में रंगमंच पर होने वाले 'अभिनय' की वाचिक, सात्त्विक, कायिक और आहार्य कला द्वारा जो रस या भाव ग्रहण करना कठिन था उसके लिए 'श्रव्यकाव्य' को ध्यान में रखकर 'भामह' ने 'काव्यालंकार' की रचना की। भरतमुनि के आरम्भिक व्याख्याकार लोल्लट एवं शंकुक ने रस की वस्तुनिष्ठता तथा अनुकार्यगत (रस) द्वारा सहृदय के लिए उत्पन्न होने वाले 'आनन्द' -रस चर्वणा को 'आडम्बर' मानकर व्याख्या की थी। भरतमुनि ने भी 'रूप' का वाचिक अभिनय की प्रभावोत्पादकता के लिए अलंकारों का उल्लेख किया है किन्तु इन अलंकारों की संख्या चार-उपमा, रूपक, दीपक यमक ही है[2]।

१- 'जो भी हो पर इसमें कोई संदेह नहीं कि भरत से पूर्व रस-विमर्श होता आ रहा था। स्वयं रसोपयोगी श्लोकों को परम्परा प्राप्त (भरत नाट्यशास्त्र में) कहा गया है। दूसरे आनुवंश्य श्लोक तथा पूर्व आचार्यों के मतों के 'आचार्य मतः' आदि निर्देशों से प्राप्त विचार इस तथ्य के प्रमाण हैं।

- रसविमर्श - डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० १

२- नाट्यशास्त्र - (भरतमुनि)।

इन दोनो शाखाओं के उद्भव काल को ध्यान मे रखकर श्री गणेश त्र्यम्बक देश पाण्डेय का कथन है कि "पूर्वकालीन आचार्यों के मतों का यथावत् ज्ञान का लेने पर भी उत्तरकालीन आचार्यों ने काव्यगत पदार्थों के विशिष्ट धर्म को खोज करते हुए अखण्ड रूप से सूक्ष्म तत्वों की ओर बढ़ने का प्रयास किया है"[1] डा० नगेन्द्र ने इस शाखा को "वस्तुवादी" कहा है जिसके अन्तर्गत अलंकार, गुण एवं रीति के अतिरिक्त परवर्ती काल में "वक्रोक्ति" का विकास हुआ। भामह ने "काव्य ग्राह्य अलंकारात्" की स्थापना की दृष्टि मे "सौन्दर्यम् अलंकार" द्वारा अलंकार की व्याख्यायित किया। शास्त्रीय प्रतिमान की दिशा में भामह का यह कथन क्रान्तिकारी है। आचार्य दण्डी भामह के परवर्ती माने जाते हैं किन्तु डा० सकरन ने दण्डी के निश्चित समय न होने के कारण इसे साहित्य-शास्त्र की एक उलझन कहा है[2]। डा० जयशंकर त्रिपाठी तथा डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने "दण्डी" को भामह से पूर्व कहा है। डा० पी०वी० काणे भामह के समय को दण्डी से पूर्व मानते हैं जिसके आधार पर डा० नगेन्द्र ने भामह को प्रथम रस विरोधी आचार्य कहा है[3]। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के माध्यम से "काव्य शोभा करान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" की परिभाषा द्वारा अलंकारों को भी महत्व दिया है। उन्होंने स्थापना द्वारा स्पष्ट किया है कि हमारी दृष्टि मे अन्य शास्त्रों में वर्णित सन्धि के अंग, वृत्ति के अंग तथा लक्षण अलंकार ही हैं।"[4] दण्डी के अलंकार शब्द का अर्थ व्यापक है।

प्रतिमानगत स्थापना की दृष्टि से आचार्य "वामन" का दृष्टिकोण "रीति मत" "काव्य-सौन्दर्य" की दिशा में "विशिष्टा पद रचना रीतिः"[5], के

१- काव्यालंकार सूत्र वृत्ति स० डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ११

२- सम आस्पेक्ट आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत -
(डा० पी० वी० काणे द्वारा उद्धृत) सं० १९२९, पृ० ९६३।

३- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९५४, पृ० ३६।

४- काव्यादर्श - दण्डी

५- काव्यालंकार सूत्र - वामन, (२-७)

कारण उल्लेखनीय है । वामन ने भामह की स्थापना की पुष्टि करते हुए आगे कहा है कि 'अलंकार शब्द का अर्थ सौन्दर्य है और काव्य में यह सौन्दर्य दोषों के त्याग, गुणों तथा अलंकारों के ग्रहण से आता है'[१] । गुण काव्य के शोभा कारक (गुण) धर्म हैं तथा अलंकार उन गुणों के अभिवृद्धि कारक होते हैं । गुण-धर्म तथा अलंकार = अभिवृद्धि कारक होने के कारण बाह्य तत्व हो गये जो आगे चलकर नवीन उद्भावनाओं का आधार बनते गये ।

आचार्य भरतमुनि ने सहृदय और अनुकार्य तथा अनुकर्ता का उल्लेख करके भी कवि या सर्जक को उपेक्षित किया था । भामह के मन में कवि की उपेक्षा का ध्यान था जिसे उन्होंने अलंकार मत द्वारा दूर करना चाहा है । अलंकार मत पर तद्युगीन समाज और संस्कृति के साथ-साथ काव्य (श्रव्य काव्य) के व्यापक परि-दृश्य का प्रभाव है । अब तक भारतीय संस्कृति का स्वर्णयुग आ चुका था । कालि-दास, भास, श्रीहर्ष की नाट्यकला काव्य कला से कम महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती है । इस काल तक कवि और 'नाटककार' दोनों को 'कवि' सर्जक तथा प्रणेता रूप में महत्व प्राप्त था[२] । नाट्य कृतियों में इतनी अधिक संख्या में श्लोकों का प्रणयन हुआ है कि वह किसी भी काव्यात्मक कृति का विशद रूप हो सकता है । इस सन्दर्भ में एक और भी तथ्य उल्लेखनीय है कि मौर्य तथा गुप्त वंशीय कला प्रेमी शासकों की कलाप्रियता ने काव्य सर्जना के साथ शास्त्रीय प्रतिमानों को भी प्रभावित किया है । डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित तथा डा० निर्मला जैन ने भामह के 'अलंकार मत' काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटक मानने के साथ-साथ कवि और नाटक कार की एकता का संस्थापक कहा है[३] । शास्त्रीय प्रतिमानों की उद्भावना की दृष्टि से आचार्य आनन्द वर्धन (९वीं शताब्दी) का ध्वनि प्रवाह उल्लेखनीय है । अलंकार एवं रीतिवादी ग्रन्थों के प्रणयन के अतिरिक्त लोल्लट शंकुक आदि व्याख्याकारों

१- सदोषगुणालंकारहानादानाभ्यां - काव्यालंकार - (१-३)

२- मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध - डा० रमेशकुन्तल मेघ, प्रथम सं० १९६९,

३- साहित्य सिद्धान्त और शोध - डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, सं० १९७४, पृ० २ ।

की मान्यतायें प्रकाश में आ चुकी थी । श्रव्य काव्य के रूप में वाह्याकार एवं सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यता 'शब्द और अर्थ' की परम्परा में भामह और आनन्द-वर्धन को एक सूत्र से जोड़ती है । अलंकारवादियों की स्थापना का सूक्ष्मता से अन्वेषण करते हुए 'आनन्द वर्धन' ने ध्वन्यालोक की रचना की । 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः' द्वारा उन्होंने ध्वनि को 'शास्त्रीय' प्रतिमान रूप में प्रतिष्ठित किया[1]।

रसात्मक प्रवाह तथा चारुत्व प्रवाह के अतिरिक्त 'व्यंग्य व्यंजक भाव' पर आधारित यह सिद्धान्त अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजनागत अर्थ को ग्रहण करता है । परवर्ती अलंकारवादी दण्डी एवं रुय्यक ने 'रसादीनाम् उपकुर्वन्ति' द्वारा रसों के उपकारक रूप में जिस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की थी वही ध्वनि तथा रीति का समन्वित मार्ग है । यही वह प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से कविता के आत्मगत तत्व की पुनः प्रतिष्ठा के साथ ही भट्ट नायक के साधारणीकरण की भी स्थापना हुई । भरत से भामह तक जहाँ दो धारायें प्रमुख थी और 'रसत्व' एवं 'चारुत्व' प्रवाह के रूप में निकल चुकी थी - वहीं एक अन्य धारा 'ध्वनि' के 'व्यंजनाव्यापार' के प्रतिपादन के साथ 'काव्यालोचन' की दृष्टि में आमूल परिवर्तन हुआ । आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने 'इस युग' को काव्य-शास्त्र की परम्परा का प्रतिवाद युग (एण्टी थीसिस) कहा है[2]। पूर्ववर्ती काल के मतों के विरुद्ध नये मतों की स्थापना के रसात्मकता की दिशा में भावन व्यापार तथा 'साधारणीकरण' सदृश प्रतिमान प्रकाश में आये । आचार्य आनन्द वर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में 'भट्ट नायक'

१- काव्यशास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का जो महत्व है, अथवा वेदान्त-शास्त्र में वेदान्त सूत्रों का जो महत्व है, कह सकते हैं कि वही महत्व अलंकार-शास्त्र में ध्वन्यालोक का है — 'महेश चन्द्र देव पाण्डेय'
डा० निर्मला जैन द्वारा 'रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन' में पृ० सं० ११६ पर उद्धृत) ।

२- नया साहित्य नये प्रश्न - आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० ११८ -

के मत का खण्डन करने के साथ-साथ अलंकार-सौन्दर्य एवं गुणमत का भी खण्डन किया । भट्ट नायक की अभिधा-भावकत्व तथा `भोजकत्व` की स्थिति रसात्मकता की तीसरी अवस्था है तथा आनन्दवर्धन का व्यंजना-व्यापार में अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना नामक शब्द शक्ति पर आश्रित तीसरी अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया है । `साधारणीकरण` तथा `ध्वनिमत` की तुलनात्मकता का अन्य आधार है चारुत्व एवं `रीति` की तुलना में ध्वनि में `वस्तु` `अलंकार` एवं `रस` का समन्वय करके वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसध्वनि की स्थापना ।

आचार्य आनन्दवर्धन की `ध्वनि` सम्बन्धी उद्भावना पर पहला आक्षेप `वक्रोक्ति जीवितम्` के रचयिता आचार्य कुन्तक का है । जिन्होंने सद्- भाव और अभाव के समान उन दोनों (कामी तथा शाङ्गिन के सादृश्य) के विरुद्ध होने से उन दोनों के साथ का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता । इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखाने का प्रयत्न क्यों है[1]।

पूर्ववर्ती अलंकारवादी भामह के `वक्रोक्ति` तथा `अतिशयोक्ति` के विपरीत कुन्तक ने `वक्रोक्ति` को कविता के आधार रूप में प्रतिष्ठित किया । इनके अनुसार काव्य के सभी रूपों में उसकी अनिवार्य स्थिति है - काव्य के सभी अंग उसमें अन्तर्भुत हैं । एक `प्रतिमान` के रूप में यह मान्यता इतनी लचीली और व्यापक है कि एक ओर यह पूर्ववर्ती आचार्य भामह की मान्यता से प्रेरणा ग्रहण करती है तो दूसरी ओर अपने समकालीन ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के मत का संशोधन भी करती है । कवि का कर्म काव्य है । < < < सालंकार शब्दार्थ ही काव्य है । इसमें अलंकार और अलंकार्य में भेद न करके समस्त अवयव में काव्य की स्थिति मानी जाती है[2]। `वक्रोक्ति जीवितम्` में यह भी उल्लेख है कि `न केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द काव्य है और न केवल अर्थ ।` जबकि ध्वनि सिद्धान्त शब्द के महत्व को नकार कर अर्थ की महत्ता पर स्थापित हुआ है । कवि-व्यापार युक्त सुन्दर(वक्र)

१- हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् - (सं० डा० नगेन्द्र) - तृतीय उन्मेष (परिशिष्ट)

२- वक्रोक्ति जीवितम् - कुन्तक (१-६)

रचना काव्य कहलाती है जिसमें शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य रहता है । 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' को प्रकारान्तर से ध्वनि तथा अलंकार सिद्धान्त का समन्वय तथा 'अलंकार' 'अलंकार्य' के भेद को दूर करने वाला कहा जा सकता है । एक स्वतंत्र प्रतिमान रूप में काव्य-भाषा तथा सृजनशीलता के अतिरिक्त क्रोचे की अभिव्यंजनावाद के निकट लाकर इस सिद्धान्त की चर्चा की जाती है ।

'रसात्मक प्रतिमान' का उत्कृष्ट रूप 'ध्वनि काव्य' का अग्रसर चरण 'अभिनवगुप्त' के 'अभिव्यक्तिवाद' तथा प्रतीयमान अर्थ के रूप में देखा जा सकता है । अपनी दो शास्त्रीय कृतियों द्वारा अभिनव गुप्त ने समन्वय का कार्य आरम्भ किया । 'नाट्य रस' की 'वस्तु निष्ठता' को पृथक कर 'अभिनवभारती' के रचयिता ने 'रस' का मूल स्थान प्रेक्षक या प्रमाता में माना । साधारणीकरण के भोक्तृत्व से आगे रस-निष्पत्ति की यह चौथी व्याख्या आज के सन्दर्भ में अधिक मनोवैज्ञानिक तथा 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के प्रवृत्ति मार्ग से मेल खाती है । भारतीय चिन्तन का 'शैवाद्वैत दर्शन' १०वीं शताब्दी तक इतना प्रभावकारी हो चुका था कि 'रस' को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' मानने का द्वार खुल गया । जिसे आगे 'काव्य-प्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' एवं रसगंगाधर में व्यापकता मिली । डॉ० निर्मला जैन ने अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को भरतोत्तर रस चिन्तन का 'समृद्धतम' काल बताया है[१] । डा० नगेन्द्र ने कहा है कि उपनिषद्कालीन रस दर्शन (रसो वै सः) तथा वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रभाव से रस में परिवर्तन आया[२] तथा डॉ० सत्यदेव चौधरी 'कामसूत्र' का प्रभाव नाट्यशास्त्र की कारिकाओं पर भी देखते हैं[३] ।

'समीक्षा-शास्त्र' के प्रतिमानों की स्थापना की दृष्टि से इस काल में गुण, अलंकार तथा रीति मत के समन्वय के साथ ही मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' की

१- रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र का तुलनात्मक विश्लेषण - डॉ० निर्मला जैन, स० १९६७, पृ० ३१ ।

२- रस सिद्धान्त - डॉ० नगेन्द्र, स० १९८०

३- हिन्दी अनुशीलन- (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) वर्ष १३, अंक -१२, पृ०[illegible] ।

सर्वेना अभिनवगुप्त के मत की तुलना में कम महत्व की नहीं है । अभिनवगुप्त की कृति `ध्वन्यालोकलोचन` तथा `काव्यप्रकाश` के प्रतिमानों की तुलना करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि - अभिनवगुप्त ने `प्रतीयमान अर्थ` द्वारा `शब्दार्थौ सहितौ काव्य` तथा `काव्य ग्राह्य अलंकारात्` के रूपात्मक आधार से सूक्ष्मतर विवेचना करके `रसात्मकता` का स्थान `सुमनस प्रेक्षक` का हृदय बताया और `मम्मट` ने `गुणीभूत व्यंग्य` काव्य को मध्यम कह कर शब्द-चित्र के बाह्य-सौन्दर्य पर आश्रित रहने वाले चित्र काव्य को अवर (अधम) काव्य की संज्ञा प्रदान की । मम्मट द्वारा काव्य की `श्रेष्ठता` तथा उत्तमता का आधार `वाच्यार्थ` या वस्तुगत रूप न होकर `ध्वनिगत` अर्थ है जो `अनलंकृती` पुन क्वापि के साथ ही ग्राह्य होता है । `काव्य-प्रकाश` में एक हजार वर्ष की शास्त्रीय प्रतिमानो की परम्परा तथा ध्वनि-चारुत्व एवं रसात्मकता का समन्वय है । वात्स्यायन की रचना काम-सूत्र, भानुदत्त की `रसमंजरी` तथा महिम भट्ट की कृति `व्यक्तिविवेक` को एक दूसरे के पास रखकर देखा जाय तो गान्धार, एवं अजन्ता की कला का व्यापक प्रभाव साहित्यशास्त्र पर भी पड़ता दिखाई देता है । `साहित्य-संगीत एवं कला` का त्रिआयामी `सौन्दर्यानुभव` नैतिकता के बन्धन से उन्मुक्त तथा भारतीय चिन्तन के स्वास्थ्य की उद्भावना करता है । रसात्मकता की `सात्विक दशा` कलात्मकता में किसी प्रकार के दोष एवं ग्रन्थि का परिहार करने के अतिरिक्त `भोजराज` के शृंगारप्रकाश की अगली कड़ी बन सकती है । वात्स्यायन ने कामसूत्र में `रसो रति` कहकर रस को `इन्द्रिय रस` बनाया तो भोजराज ने शृंगार को ही पूर्ण एवं व्यापक रस बनाकर सरस्वती कण्ठाभरण की मान्यता को आगे बढ़ाया ।[१]

आचार्य विश्वनाथ की कृति `साहित्यदर्पण` द्वारा `ध्वनि` में समाहित रस से उबारकर `रससिद्धान्त` को पुनर्जीवित किया गया है । साहित्यदर्पण-कार ने आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त एवं मम्मट की स्थापनाओं का समन्वय करके `रस-परम्परा` का प्रतिपादन विशद पूर्ण ढंग से किया है । आचार्य विश्वनाथ

१- शृंगारप्रकाश - भोजराज (हिन्दी अनुवाद) प्रभुदयाल अग्निहोत्री, सं० [illegible],

को इस रचना में समान रूप से 'रस' अलंकार अभिनय, नाटक की समस्यायें, 'नायक-नायिका' के भेदों के साथ सम्पूर्ण वाङ्मय (साहित्य) का एक प्रतिबिम्ब(दर्पण) तैयार किया गया है । 'शास्त्रीय-समीक्षा' तथा प्रतिमानीकरण की दिशा में - (क) 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्य'[1] एवं (ख) किंचित दोष युक्त रचना[2] 'भावाभिव्यंजक शब्दार्थ युक्त श्रुति दुष्टादि दोष होने पर काव्य ही रहती है । इस चिन्तन को 'भरत से शुक्ल तक की आरम्भिक व्याख्या' के उपरान्त 'भामह से आनन्दवर्धन' के समय तक की विवादित भूमि से युक्त होने पर भी आचार्य विश्वनाथ की यह स्थापना आज के सन्दर्भ से भी जोड़ी जा सकती है । इसी प्रकाश में द्वितीय परिच्छेद में 'वाक्य' का दिया गया लक्षण भी एक नवीन प्रतिमा का परिचायक है ।

पण्डितराज की स्थापना है कि 'रमणीयता' युक्त अर्थ प्रतिपादन करने वाले शब्द ही काव्य कहलाते हैं । इस स्थापना में आचार्य विश्वनाथ ने 'रसात्मक' के स्थान पर 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' तथा 'वाक्य' के स्थान पर 'काव्य' लिखा । 'रमणीयता' एक व्यापक गुणवत्ता है जो 'चित्त' को रमण कराकर आनन्द दे सके वही 'रमणीय' है । 'रम्य' - सुन्दर का ध्वनि साम्य तथा रमण-मन को आनन्दित कर सुखात्मक अथवा 'दुःखात्मक' संवेदना द्वारा विभ्रम (सम्भ्रम) की स्थिति में ले जा सके वही काव्य है । काव्य तथा शास्त्र में मौलिक अन्तर करके पण्डितराज ने वास्तव में 'शास्त्र' को अधीत विद्वानों के लिए तथा 'काव्य' को 'सुकोमल मति' व्यक्तियों के लिए उपयुक्त माना[3] ।

लगभग दो हजार पाँच सौ वर्ष तक चली आती हुई इस संस्कृत 'काव्यालोचन' की परम्परा में इतिहास, संस्कृति एवं कला का विकसित रूप तथा शास्त्रीय दृष्टि का समन्वयात्मक प्रतिपादन देखा जा सकता है । 'काव्यशास्त्र' के इन प्रतिमानों को डा० नगेन्द्र मूलत: दो वर्गों में विभक्त करते हैं — (१) वस्तुवादी — अलंकार

१- साहित्यदर्पण - (विश्वनाथ) सं० डा० सत्यव्रत सिंह (३-२) सं० १९७६

२- साहित्यदर्पण - ,, (भूमिका) - डा० सत्यव्रत सिंह, सं० १९७६

३- रसगंगाधर - (पण्डितराज जगन्नाथ) सं० केदार झा (भूमिका)डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी,

रीति-वक्रोक्तिवादी एव (२) आत्मवादी -`रस`, `ध्वनि` । प्रथम परम्परा `रस चिन्तन` की परम्परा है इसमें `ध्वनि` को भी समेटा जा सकता है । काव्य की अनुभूति या `सौन्दर्यानुभूति` का सीधा सम्बन्ध रस से है तथा प्रतीयमान अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि काव्य से है । रस, ध्वनि तथा रसध्वनि को `आत्मवादी` वर्ग मे रखा जा सकता है । वस्तुवादी सीमा में गिनाये जाने वाले `काव्य के गुण` को महत्वपूर्ण मानकर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने `रीतिवादी` शाखा को गुणवादी सिद्धान्त रूप स्वीकार करने का सुझाव दिया है ।

`काव्य-शास्त्र` के इन प्रतिमानों में दो उद्देश्य समान रूप से परिलक्षित होते हैं --

(१) काव्य तत्व का अनुसंधान ।

(२) श्रेष्ठ काव्य के प्रतिमान का निर्धारण ।

काव्य के गुण-दोष, शब्द शक्तियां, सहृदय की बहुज्ञता एव रसज्ञता, सर्जक के गुण-दोष, ज्ञान तथा प्रतिभा को महत्व दिया है । परवर्ती काल में काव्य की आत्मा और शरीर का विवाद, अलंकार एव अलंकार्य मे भेद, अभेद की स्थिति,अलंकार रहित या अलंकारयुक्त रचना, रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण की स्थिति उल्लेखनीय बिन्दु है जिन पर `मत-मतान्तर` से ही कविता के प्रतिमानो का निर्धारण किया जा सकता है । `काव्य के परिभाषित करने का अर्थ उक्त रस या आनन्द उत्पन्न करने वाले तत्वों का संकेत है । यह संकेत ही प्रकारान्तर से काव्य के श्रेष्ठता के उपादानों या प्रतिमानों की अवाप्ति देता है । इस दृष्टि से संस्कृत साहित्यशास्त्र मे एक विचित्र स्थिति पाई जाती है । . . . यहाँ लेखक प्रायः काव्य-शरीर और उसकी आत्मा में भेद करते हैं[१] । डॉ० नगेन्द्र इस प्रतिद्वन्द्विता का मूल कारण `अलंकार-और अलंकार्य` में भेद मानते हैं । किन्तु इस प्रतिद्वन्द्विता द्वारा संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनेक तत्व उभर कर सामने आये हैं । रस, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तथा ध्वनि की इन स्थापनाओं द्वारा काव्य के आन्तरिक एवं बाह्य तत्व

१- साहित्य समीक्षा और संस्कृति बोध - डा० देवराज, पृ० ३७

का निरूपण हुआ है । 'भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय जैसे - रस, अलंकार, रीति वक्रोक्ति इत्यादि अपने प्रारम्भिक रूप में केवल काव्य-सिद्धान्त के पक्ष हैं न कि सम्पूर्ण काव्य दर्शन के स्थानापन्न ।'[1] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की इस स्थापना से डा० बच्चन सिंह भी सहमत हैं[2] । आचार्य वाजपेयी, डा० सिंह तथा डा० देवराज को इन मान्यताओं के अनुरूप सम्पूर्ण 'काव्य-शास्त्र' को एक सम्पूर्ण 'साहित्य' मानकर उसमें प्रतिमानों की खोज अभीष्ट है ।

१- नया साहित्य नये प्रश्न - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० १९७८, पृ० १११ ।

२- आलोचक और आलोचना - डॉ० बच्चन सिंह, स० १९७०, पृ० ।

रसात्मक प्रतिमान तथा उसका परवर्ती रूप

भारतीय काव्यालोचन की परम्परा का उद्भव 'नाट्य-शास्त्र' की सर्जना से माना जाता है। आचार्य भरतमुनि की यह कृति यद्यपि 'दृश्य काव्य' के प्रतिमान रूप में मान्य है किन्तु 'रस-सिद्धान्त' को काव्य अथवा कथ्य से जोड़ने तथा अभिनय कला में अलंकारों के महत्व प्रतिपादन का आरम्भ भी इसी समय हुआ। साहित्य-शास्त्र के अध्येता आचार्यों ने एक मत से 'रस' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिमान कहा है। रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण, काव्यानुभूति और अभिव्यक्ति की समस्या तथा काव्य के आत्म तत्व के निर्धारण में शाश्वत रूप से इस प्रतिमान का आधार ग्रहण किया जाता है। 'रस सिद्धान्त ही एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे दार्शनिक चिन्तन से सामग्री ग्रहण करने का अवसर मिला और व्यावहारिक सामाजिक जीवन से भी ...[1] इस कृति की सर्जना द्वारा भरत मुनि के एक नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को बल मिला। इस सिद्धान्त द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि निर्मित होने के अतिरिक्त अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि प्रतिमानों को अंकुरित होने की प्रेरणा मिली। पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में प्लेटो के साहित्य एवं कला सिद्धान्तों द्वारा जिस प्रकार अरस्तू लोंजाइनस आदि विचारकों को प्रेरणा मिली उसी प्रकार भरतमुनि द्वारा अभिनय कला-लोकधर्मी, नाट्यधर्मी, रंगमंच, सूत्रधार आदि पर विचार करने के अतिरिक्त आचार्य लोल्लट शंकुक भट्ट नायक, अभिनवगुप्त, आचार्य विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ को 'नाट्य-शास्त्र' से प्रेरणा मिली। यद्यपि 'रस निष्पत्ति' के इस सिद्धान्त को वस्तु निष्ठ, नाट्यगत, अभिनय कला से सम्बन्धित कहा जाता है किन्तु व्यापक रूप में यह 'सौन्दर्य-शास्त्र' का भारतीय प्रमेय' है। विश्व के विभिन्न देशों में जहाँ भी कला चिन्तन का

१- साहित्य सिद्धान्त और शोध - डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, स० १९७५, पृ० १२।

आरम्भ हुआ तथा कला के मूल में स्वीकार किया गया है । जापान का कला चिन्तन युगेन (कला कृति के माध्यम से व्यंजित पदार्थगत आन्तरिक गहन सौन्दर्य) तथा चीन की प्रमुख अवधारणा ध्वनिबोधक है उसी प्रकार भारतीय कला चिन्तन का गहन अन्वेषण रस है[1] ।

आचार्य भरत मुनि ने `नाट्य शास्त्र` में कहा है कि `विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति:` अर्थात् विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । इस कथन में आने वाले तीन बिन्दुओं की ओर उनका ध्यान गया है— (१) रस है क्या पदार्थ, (२) रस का आस्वाद (सुमन) प्रेक्षक किस प्रकार लेते हैं तथा (३) `विभाव तथा अनुभाव` रस की किस प्रकार निष्पत्ति करते हैं[2] । प्रथम समाधान के लिए उन्होंने `रस` शब्द का अभिधापरक रसनेन्द्रिय ग्राह्य अर्थ ग्रहण करते हुए कहा है कि `उच्यते आस्वाद्यत्वात्` अर्थात् आस्वाद (गुण) के कारण `रस` को रस कहा जाता है । यह आस्वाद उसी प्रकार `सुमन` प्रेक्षक ग्रहण करते हैं जिस प्रकार नाना प्रकार के सुसंस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए सहृदय हर्ष लाभ करते हैं उसी प्रकार विविध भावों एवं अभिनयों से व्यंजित वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं[3] । इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि आस्वाद के कारण ही

१- रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र का तुलनात्मक विश्लेषण - डॉ० निर्मला जैन, सं० १९६७, पृ० २० ।

२- अत्र रस: इति क: पदार्थ ? उच्यते आस्वाद्यत्वात् -(नाट्य-शास्त्र)-काव्यमाला अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती में भी उद्धृत ।

३- " यथा हि नाना व्यंजन संस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनस: पुरुषा: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनय व्यंजितान् वागंग सत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति " ।

— रस सिद्धान्त - डॉ० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० [illegible] पर उद्धृत

यह 'रस' कहा जाता है। 'रस' सुसंस्कृत अन्न से प्राप्त हर्ष (आनन्द) तुल्य है। यह 'भाव' विविध भावों (विभाव अनुभाव एवं संचारी) के संयोग से उसी प्रकार प्राप्त होता है जिस प्रकार विविध गुड़ औषधि व्यंजनों के संयोग से षाडव रस निर्मित होता है। इस 'निष्पत्ति' की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने तीन दृष्टान्त दिये हैं -- 'जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) रस रूप को प्राप्त होते हैं।' इस कथन में व्याख्येय शब्द 'विभाव' 'अनुभाव' तथा 'संचारी' के स्थान पर पहले आया है - 'व्यंजन औषधि द्रव्य' जिनके संयोग से 'भोज्य रस' की 'निष्पत्ति' होती है। द्वितीयांश में 'द्रव्य' को बदल कर 'गुड़' का दिया तथा औषधि एवं व्यंजन पुनः दुहराया गया। इसी क्रम में नाना भावों से उपगत होकर भी स्थायी भाव ही 'रसत्व' को प्राप्त होता है।

आचार्य भरत मुनि के इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि 'भाव रस' 'षाडव रस' तथा रस (भावों से उत्पन्न रस) एक हैं जिसका आस्वादन सहृदय प्रेक्षक हर्षादि की तरह करते हैं। 'रस निष्पत्ति' की पर्याप्त व्याख्या करने पर भी उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया कि ४९ भावों के परस्पर संयोग से यदि स्थायी भाव ही रस को प्राप्त होते हैं तो उसमें स्थायी भावों की क्या भूमिका होती है। डा० राममूर्ति त्रिपाठी का इस सम्बन्ध में यह तर्क है कि इन 'अभिव्यक्ति' एवं 'उत्पत्ति' दोनों शब्दों को पारिभाषिक अर्थ में नहीं बल्कि एक सामान्य निष्पत्ति - के अर्थ में यों ही चलते ढंग से प्रयोग कर दिया है। . . . दूसरी बात यह कि यदि भरत ने स्वयं ही अपनी 'निष्पत्ति' का एक निर्णीत अर्थ दे दिया होता तो परवर्ती व्याख्याकार अपने-अपने दर्शनानुसार खींचतान क्यों करते ?[1]

१- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० ६ ।

यह भी सम्भव है कि अपने समय के समाज के गृहीता या प्रेक्षक की आस्वादन गत क्षमता के अनुरूप उन्होंने `भोज्य रस` `षाडव रस` तथा विभाव अनुभाव संचारियों के संयोग से उत्पन्न रस की तुलना करके पर्व प्रचलित `रस` के विभिन्न अर्थों से अलग अपने कथ्य-विषय `नाट्य-शास्त्र` के अनुरूप `नाट्य-रस` की ही विवेचना की हो। नाट्य कथन शैली अभिनय कला तथा उसमें विद्यमान काव्यत्व के गुण के कारण परवर्ती व्याख्याकारों ने `कदाचित्` `नाट्य रस` से `काव्य-रस` का अर्थ ग्रहण किया। `रस` को काव्य की ओर ले जाने के दो प्रमुख कारण हैं - प्रथम तो यह कि `नाट्य` और `काव्य` कालिदास, भास, श्रीहर्ष आदि की कृतियों को दृष्टि में रखने पर लगभग संश्लिष्ट लगते हैं तथा दूसरा कारण उनका विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के संयोग से `रसनिष्पत्ति` सम्बन्धित विवेचन है जिसमें कि `स्थायी-भाव` ही विभाव, अनुभाव एवं संचारियों के संयोग से `रस` होते हैं। लीला में पारलौकिकता एवं देवतादि की उपस्थिति का संकेत होने पर भी `रस` के आस्वादन के लिए `पक्वान्न` की जो तुलना प्रस्तुत की गयी है यह एक धर्म एवं दर्शन के पुरोहित की क्या सूझ है। आरम्भिक कृति होने के कारण `नाट्य-शास्त्र` का एक उच्चस्तरीय शास्त्रीय ग्रन्थ जो तरह होना तो असम्भव है किन्तु एक ही स्थापना को दो बार दुहराना शैलीगत दुर्बलता है। कभी रस `षाडव रस` कभी `सुमनसप्रेक्षक` के हर्ष शोकादि की तरह फिर विविध व्यंजनों में पके हुए अन्न के स्वाद की तरह या नाना भाव अभिनय से उत्पन्न होकर स्थायी भाव भी रस हो जाते हैं। यह स्थापना `कहि न जाइ का कहिये` जैसी दार्शनिक अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार निष्पद्यन्ते इति (एक वचन) रसा: निर्वर्तन्ते (बहु वचन), `रसत्वमाप्नुवन्तीति` (बहुवचन) - ये तीन क्रिया रूप भी भ्रामक लगते हैं।[1] भरत मुनि ने दार्शनिक चिन्तन से सामग्री ग्रहण कर उसे नवीन

1- अभिनवभारती - (अभिनवगुप्त) में उद्धृत --

`यथा हि नाना व्यञ्जनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथाहि गुडादि-भिर्द्रव्यै: व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा: रसत्वमाप्नुवन्तीति` ।

(नाट्यशास्त्र - काव्यमाला संस्करण, पृ० ६३)।

सामाजिक पृष्ठभूमि प्रदान की । 'अभिनय कला' द्वारा उत्पन्न होने के कारण ये 'नाट्य रस' कहे जाते हैं । अभिनय क्रिया मे रंगमंच पर उपस्थित पात्रों मे नहीं अपितु अनुकार्य में ही मूलत रस उत्पन्न होता है ऐसा आचार्य भरतमुनि का संकेत है[1]। इसमे भावा (४९ भाव) सात्विक, वाचिक, कायिक तथा आहार्य चार प्रकार के अभिनय लोकधर्मी अथवा नाट्यधर्मी कलाये (अभिनय की) तथा लौकिक एव पारलौकिक सिद्धि का उल्लेख है । आतोद्य गान संगीत विविध रंग ये सब मिलकर नाट्य रस की निष्पत्ति करते हैं[2]। काव्यादि कलाये अभिनय कला की सहायक कलाये हैं जो अन्य वाद्य यन्त्रों स्वर, नाद एव संगीत की तरह दर्शकों के सामने आती हैं, इनसे दर्शक 'कारण-कार्य', 'अनुमाप्य अनुमापक' भावों द्वारा आनन्द का अनुभव करने लगते है । संगीत तथा वाद्य यन्त्रों का स्वर इस रस (आनन्द) मे सहायक होता है । अत. यह भी लोकधर्मी (लोक गीत या वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि) की तरह रस का सहायक है । डा० सुरेन्द्र बारलिंगे के कथन के अनुसार डा० मनोहर काळे ने भरतमुनि के रस विवेचन को सर्वथा 'नाट्य' कहा है । उन्होंने नाट्य रस तथा पानकरस की तरह रस का आनन्द माना है[3]। 'रस' स्वयं 'आस्वाद्य' है या 'आस्वाद' ? यह एक 'प्रश्न जिज्ञासा' भी परवर्तीकाल में अध्येताओं के लिए रही है । 'रस' की तुलना उन्होंने सिद्धि रस से (रसादि की सिद्धि की भांति) की है । डा० नगेन्द्र ने भरतमुनि द्वारा बार-बार प्रयुक्त 'उत्पत्ति' शब्द के अनुरूप सिद्धि का अर्थ किया है - अभाव में भाव की कल्पना तथा निर्मिति - विद्यमान उपकरणों के संयोग से नव-रूप-रचना,

---

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० ७९ ।

२- रसभावाहि अभिनया' धर्मी वृत्ति प्रवृत्तय: । सिद्धि स्वरास्तथातोद्य गानं रंगश्च संग्रह: ।

- भरत मुनि प्रणीत नाट्य शास्त्रं - रघुवंश नागर (६-१०)

३- सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त - लेखक - डा० सुरेन्द्र बारलिंगे (अनु० मनोहर काळे) सं० १९६१, (प्राक्कथन - पृ ५)

जो आधारभूत उपकरणों की परिणति होते हुए भी उनसे भिन्न होती है[१]। इसी प्रकार जब रस विभावगत, कलागत या रंगमंचगत रहता है तो आस्वाद्य होता है । भरत के समय तक रस इसी रूप में स्वीकृत था । परवर्ती रस चिन्तन में जब अभिनव गुप्त ने अमूर्तित कहा तो इसे एक आस्वाद रूप में ग्रहण किया जाने लगा । इसी काल में `श्रव्य` काव्य के प्रभाव तथा अनुभूतिगत अमूर्तता की सौन्दर्य गत अलंकारवादी व्याख्या के अनुरूप रस भी तदनुकूल विभाषित हो गया ।

आचार्य भरत मुनि की रस सम्बन्धी यह स्थापना परवर्ती चिन्तकों तथा आचार्यों द्वारा विभिन्न रूपों में व्याख्यायित हुई है तथा इन व्याख्याओं के अनुरूप `रसात्मक प्रतिमानों` की प्रतिमानता भी परिवर्तित होती गई है । इन विवेचनों में `रस` की सत्ता तो यथावत् रही किन्तु इसकी युगानुरूप व्याख्या में ही सम्पूर्ण शास्त्रीयता निहित है । रस की `वस्तुनिष्ठता` तथा अनुकार्य गत `रस सत्ता` के व्याख्याता `भट्ट लोल्लट` तथा भट्ट शंकुक हैं । इन आचार्यों की मान्यताओं में इनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि विशेष रूप से ध्यातव्य है । `रसनिष्पत्ति` की प्रक्रिया परवर्ती आचार्यों के विवेचन का केन्द्र है जिसमें `संयोगात्` तथा `निष्पत्तिः` के अलग-अलग अर्थ किये गये हैं ।

रस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट ने (नवीं शताब्दी में) `निष्पत्ति` की व्याख्या `उत्पत्ति` मानकर की । इसीलिए यह सिद्धान्त `उत्पत्तिवाद` नाम से जाना जाता है[२]। भामह, दण्डी तथा वामन की अलंकार `गुण` एवं `रीति` सम्बन्धी स्थापनाओं के बाद भट्ट लोल्लट ने भरत मुनि के रससिद्धान्त को पुनर् स्थापित किया । `संयोगात्` का अर्थ इनकी मान्यता के अनुसार `कार्य-कारण भाव` है । रंगमंच पर उत्पन्न होने वाले अनुकार्यगत रस

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० १३८

२- डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने `उत्पत्तिवाद` का अन्य नाम `आरोपवाद` कहा है ।

- रस विमर्श - सं० १९६५, पृ० ११

कार्य रूप मे सम्पन्न होता है तो उस उपस्थित रस से प्रेक्षक `कारण` के माध्यम से `अभाव में भाव की कल्पना करता है[1]। लोल्लट की निष्पत्ति का अर्थ `उत्पाद्य उत्पादक`, `गम्य-गमक` आदि भावों द्वारा अलग-अलग किया जाता है। विभाव के रूप मे उद्बुद्ध अनुभाव की प्रतीति कारण-कार्य सम्बन्ध मे `रस` रूप मे (उत्पन्न) होता है। रस उत्पाद्य तथा अनुकार्य के लौकिक कार्य उत्पादक होते है।

इनकी स्थापना में (१) रस मूलत अनुकार्यगत ही माना गया जो भरत की मान्यता के अनुरूप है। गौण रूप मे रस अनुसंधान के बल पर नटगत होकर कार्य रूप में रहता है। रस का `विभाव कारण तथा `अनुभाव` स्थायी भावों के `कार्य रूप` हैं। आचार्य भट्ट लोल्लट ने अपनी व्याख्या के लिए उद्बुद्धि की अवस्था` की सहायता ली थी। अनुभाव-गमक, रस = प्रतीति अर्थात् पोषक रूप मे, सचारी-पोष्य = रस। `प्रतिमान रूप` में भट्टलोल्लट की यह स्थापना तर्क-मीमांसा शास्त्र तथा परवर्ती दार्शनिकों की मान्यताओं के अनुरूप है। वैशेषिक दर्शन तथा मीमांसा के बढ़ते प्रभाव के युग मे `रस` का `कारण-कार्य` से जुड़ना स्वाभाविक होना है। परवर्ती समीक्षा में जीवन मूल्य या `कला मूल्य` की जितनी व्याख्यायें की गई उनका एक छोर लोल्लट की इस व्याख्या से मिलाया जा सकता है। इस प्रकार कारण से उत्पन्न, अनुभाव से अनुमित तथा सचारी से पुष्ट स्थायी ही रस है[2]।

१- डा० नगेन्द्र `उत्पत्ति` का अर्थ लोल्लट की मान्यता के अनुसार, `अरूप को रूप देना मानते हैं, अभाव में भाव की कल्पना नहीं किन्तु डा० राममूर्ति त्रिपाठी भट्ट लोल्लट को भाट्ट मतानुयायी मीमांसक मानते हुए `उत्पत्ति` मे भ्रम की स्थिति का समर्थन करने के साथ ही उत्पत्ति का दार्शनिक अर्थ असत् का सत् होना स्वीकार करते हैं।

- रसविमर्श (१६४६)- (११०-१२)

२- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, स० १६४६, पृ० १६

रस-सूत्र के दूसरे व्याख्याकार आचार्य भट्ट शंकुक है जिनका सिद्धान्त `अनुमितिवाद` के नाम से जाना जाता है । न्याय-दर्शन के आधार पर की गई रस निष्पत्ति की इस व्याख्या मे रसात्मक आनन्द को `प्रत्यक्षवाद` और `अनुमानवाद` से जोड़ दिया गया है । भट्ट लोल्लट की व्याख्या का `उत्पाद्य-उत्पादक` भाव कारण-कार्य सम्बन्ध पर आधारित था जिसके स्थान पर शंकुक ने अनुमापक अर्थ `संयोगात्` के बदले ग्रहण किया । इनकी इस स्थापना मे निष्पत्ति का अर्थ `अनुमिति है । भरत मुनि के अनुकार्यगत रस को प्रेक्षक के अनुमान से जोड़ कर भट्ट शंकुक ने एक नवीन विचार प्रस्तुत किया । `अनुमिति वाद` के अनुसार विभाव अनुभाव तथा संचारी अनुमान का ज्ञान कराने वाले अर्थात् अनुमापक होते है और `रस` अनुमाप्य[1] । इस व्याख्या में `चित्र तुरग न्याय` का भी सहारा लिया जाता है । स्थायी भावों को शंकुक ने भी अनुकार्य गत माना किन्तु प्रेक्षक के मन में उत्पन्न होने वाले हर्ष-भाव को अनुमान पर आधारित करके इन्होंने एक परिवर्तन किया । इनकी मान्यता है कि यदि रामादि पात्रों के रति विषयक भावों को प्रेक्षक कारण-कार्य सम्बन्ध से ग्रहण करता है तो अशुद्धि प्रतीति तथा दोषभाग की स्थिति में उसे पाप लगता है । शंकर पार्वती या अन्य देवी-देवताओं के `अनुकार्य` होने की स्थिति में भी `अनुकर्ता` प्रेक्षक के अनुमान का आधार अर्थात् `चित्र` की भांति प्रतिनिधि या प्रति रूप होता है । `चित्र` से मूल का अनुमान अर्थात् `रामादि` के अनुकर्ताओं से राम-सीता आदि को मात्र `अनुकर्ता` रूप में स्वीकार करने पर उस `पाप-वासना` का परिहार हो जाता है क्योंकि प्रेक्षक या दर्शक के रस का सम्बन्ध मूल पात्र से न होकर पात्र के प्रति रूप (डुप्लीकेट) से होता है । इस प्रकार शंकुक रस का स्थान अभिनेता में मानते हैं ।

भट्ट शंकुक की इस स्थापना के अनुरूप `रामादि` अनुकार्यों मे ही स्थायी भाव की स्थिति होती है । प्रेक्षक विभावादि के अनुमान द्वारा चित्र से से "मूल की कल्पना" की तरह रस प्राप्त करता है । रस को अनुकार्यगत मानने

१- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०१४ वि० पृ० १९६ ।

की दशा मे `प्रत्यक्ष अनुभूति` तथा नाट्यानुभूति मे अभेद स्थापन होता है क्योंकि चित्र कलागत अनुमान का `प्रत्यक्ष` साधन होता है। चित्र जैसे वास्तविक `तुरग` का अनुमान कराता है उसी प्रकार रंगमंच पर अभिनय करने वाले नाट्य-पात्र वास्तविक पात्रो के प्रतिरूप हुआ करते हैं। नाटक देखने की स्थिति मे आनन्द प्राप्त करते समय सहृदय को यह ध्यान ही नही रह जाता है कि वह जो कलात्मक आनन्द प्राप्त कर रहा है वह वास्तविक पात्र के विभाव से सम्बन्धित है कि रंगमंच पर उपस्थित नायक नायिका से। एक अन्य ध्यातव्य स्थापना यह है कि भट्ट लोल्लट की तुलना में `प्रत्यक्ष वाद` मे अभिनय कला संगीत `गान` आदि का महत्व बढ़ गया[1]। उनकी इस मान्यता पर अलंकारवादी उद्भट तथा काव्य-प्रकाशकार मम्मट का भी प्रभाव पड़ा है।

भट्ट शंकुक की यह व्याख्या यद्यपि `अनुकार्य` को ही मुख्यता प्रदान करती है किन्तु `प्रत्यक्षानुभूति` तथा `नाट्यानुभूति` की एकता शंकुक के अनुमितिवाद की देन है। शंकुक की इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि ९ वीं-१०वीं शताब्दी में धर्माचार्य तथा शास्त्रकलाकर्मियों का समाज पर विशेष प्रभाव था जिसके कारण पाप-पुण्य की भावना `नाट्यानुभूति` से जोड़ कर उसके सामाजिक पक्ष को सबलता प्रदान की गई है। लोल्लट और शंकुक के समय तक भामह, दण्डी और वामन के सौन्दर्यपरक अभिव्यक्ति पर आश्रित `श्रव्य-काव्य` सम्बन्धी मान्यतायें समाज में भले ही प्रचलित न रही हों किन्तु शास्त्र अध्येताओं के समक्ष आ चुकी थी। आचार्य उद्भट, रुद्रट और दण्डी के समन्वय के कारण रसात्मक आनन्द की रूपात्मक - बाह्य सौन्दर्य तथा `काव्य` से जोड़ने के कारण `नाट्य-रस` पर सीधा प्रभाव पड़ रहा था जिसको व्यापक तथा समाज सापेक्ष बनाकर आचार्य शंकुक ने रसात्मक

१- किंतावत योगि स्थायिनो लिङ्गाभावात् नावगत्यनुपपन्नेऽभिधाना पूर्वमभिधिता प्रकृ-नाट्य स्थित दशायां (सम्यङ्-मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्र तुरगादि न्यायेन) यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीति रस्तीति।

(अभिनव भारती में उद्धृत -(३२-३७)
शंकुक का मत

रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र - सं० १९८०, पृ० १९७

प्रतिमान का उपकार किया । स्थायी भाव की यह नाट्यानुकृति ही रस है । अनुकार्य के वास्तविक स्वरूप के प्रश्न का यहां कदाचित् पहले बार उत्तर मिल जाता है । लोल्लट और शंकुक की मान्यता में अन्य अन्तर यह है कि लोल्लट अनुकार्य में भाव एवं रस दोनों की स्थिति मानते हैं जबकि शंकुक रस की स्थिति नट या अभिनेता में मानते हैं[2]। रस भाव पर आश्रित एक कलात्मक स्थिति है जिसमें अभिनय तत्व प्रधान है और काव्य तत्व गौण । अतः रस निष्पत्ति का अर्थ हुआ काव्य रंग कौशल आदि की सहायता से नट द्वारा स्थायी भाव की अनुकृति सीधे शब्दों में स्थायी भाव का अभिनय[3]।

परवर्ती आचार्यों में 'भट्टतौत' तथा भट्ट उद्भट को रसवादी तथा रस निष्पत्ति के व्याख्याता रूप में स्वीकार किया जाता है । 'नाट्यशास्त्र' की प्रसिद्ध टीका अभिनव भारती में लिखा है कि भट्ट तौत ने शंकुक की स्थापना का खण्डन किया है । महिम भट्ट ने यद्यपि नाट्य-शास्त्र के रस सूत्र की व्याख्या नहीं की है किन्तु इस समय के रसाचार्य रूप में भ्रम से आनन्द और रस प्राप्ति का समर्थन उन्होंने 'श्रव्यकाव्य' के रूप में किया है । डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने महिम भट्ट तथा 'शंकुक' को 'अनुमीयमान रस' की समानता के कारण दोनों को एक ही दार्शनिक विचारधारा में माना है[4]। रसात्मक प्रतिमान के आरम्भ से भट्ट शंकुक की स्थापना काल तक का रसात्मक प्रवाह दृश्य काव्य-नाटक तक सीमित था । 'भरतमुनि' ने उसे 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों काव्यों के लिए 'पंचम वेद' के माध्यम से व्यक्त किया था जिसे भट्ट लोल्लट ने केवल 'दृश्य काव्य' के अभिनेताओं तथा मूल पात्रों में कारण-कार्य सम्बन्ध मानकर व्याख्यायित किया और भट्ट शंकुक ने इसमें 'अभिनय' कला पर विशेष बल देकर तथा विभाव की स्थिति भले ही अनुकार्य में

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० १५३

२- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० १७

३- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० १५३

४- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० ११

की किन्तु 'रस निष्पत्ति' अभिनेता (नट) गत मानकर इस चिन्तन को एक मोड़ दिया जिसमें उस समय के भव्य-काव्यशास्त्र प्रणेताओं का समन्वित स्वर तथा सामयिक आदर्शों का उत्तर भी देखा जाता है । दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक 'ध्वनि' तथा वक्रोक्ति मत की स्थापना एवं समसामयिक चिन्तन के दबाव के कारण 'व्यक्ति विवेक' में शास्त्रानुमान से काव्यानुमान को पृथक मान कर मिथ्या ज्ञान (विभ्रम) की सफलता स्वीकार की गई जो 'काव्य-प्रकाशकार' की प्रेरणा बन गया । 'मणि प्रदीप प्रभा' वाला श्लोक अभिनवभारती के अतिरिक्त काव्यप्रकाश में भी उद्धृत है ।

रसात्मक अनुभूति का चरमोत्कर्ष 'साधारणीकरण'

मूलतः भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित 'रस दर्शन' में साधारणीकरण द्वारा अनुकार्यगत निष्पत्ति से पृथक सहृदय के हृदय की आनन्दात्मक व्याख्या की गयी और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया आचार्य भट्टनायक ने । ध्वनिवादी आनन्दवर्धन की स्थापना का खण्डन करने के साथ-साथ 'रसो वै सः' एवं 'रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' की औपनिषदिक मान्यता को रस से जोड़कर भट्ट नायक ने 'रसनिष्पत्ति' का विवेचन किया है । 'रस सूत्र' के पूर्ववर्ती व्याख्याकार लोल्लट शंकुक आदि की स्थापना का भी इन्होंने विरोध करते हुए 'भुक्तिवाद' नामक प्रतिमान की स्थापना की । 'निश्चय ही सहानुभूति तत्व की मौलिकता के स्फुरण में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त काव्य-क्षेत्र और काव्य-शास्त्र का अजर अमर सिद्धान्त है जो किसी न किसी रूप में सर्वदा ही 'काव्यानुभूति' प्रक्रिया का अविभाज्य और अपरिहार्य अंग बना रहेगा ।'[1] इस मान्यता के अनुसार रस भोग या 'आस्वाद' हो गया ।

आचार्य भट्टनायक की दार्शनिक मान्यता को 'अद्वैत वेदान्त' , या 'मीमांसा' का उपजीव्य माना जाता है । म० म० पी० वी० काणे ने भट्ट नायक

१- काव्यांग प्रक्रिया - डॉ० शंकर देव अवतरे, सं० 2015 , पृ० 82 ।

को मीमांसक कहा है[1]। डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय के अनुसार भट्टनायक अद्वैत वेदान्ती थे। अन्य आचार्यों एवं विद्वानों की मान्यताओं का सतर्क खण्डन करते हुए डा० राममूर्ति त्रिपाठी उन्हें भाट्टमतावलम्बी मीमांसक मानते हैं[2]। 'अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या' तथा 'रसो वै सः' की मान्यताओं का समन्वय भट्टनायक की इस विवेचना मे पाया जाता है[3]। रस की आनन्दात्मक अवस्था तथा 'आराधक' आत्मा का 'आराध्य' 'ब्रह्म' मे मिलकर आनन्द प्राप्ति का उल्लेख हिन्दी भक्तिकालीन काव्य मे [अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद मत के अनुरूप] देखा जाता है।

आचार्य भट्टनायक की इस मान्यता भुक्तिवाद मे सहृदय की रस दशा की तीन अवस्थाएं मानी जाती हैं -- अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व अभिधा की अवस्था शब्द शक्ति की प्रथम अवस्था के अनुरूप नाटक के प्रचलित भाव मे तादात्म्य स्थापना की प्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था 'भावकत्व' की अवस्था है जिसे 'भावन-व्यापार' कहा जाता है। सहृदय के 'व्यक्तिगत एवं सांसारिक दु:खादि का विगलन इस अवस्था मे होता है तथा विभावादि का साधारणीकृत रूप से भावकत्व द्वारा पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता है। तीसरी अवस्था भट्टनायक द्वारा भोजकत्व की अवस्था कही गई है। इस अवस्था मे प्रमाता (सहृदय) सत्वोद्रेक प्रकाशित चिन्मय सुख स्वरूप आनन्द रूप 'रस' का साक्षात्कार करता है। भोजकत्व की अवस्था 'रस दशा' की पूर्ण अवस्था है जो अनिर्वचनीय तथा पारलौकिक सुख-प्राप्ति की अवस्था है[4]।

१- हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स (डा० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा रसविमर्श मे उद्धृत) पृ० २१५।

२- रस विमर्श - डा० राम मूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० ३३

३- सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त - डा० सुरेन्द्र बारलिंगे (भूमिका मनोहर काळे) सं० १९६२ (ड)

४- अभिनव भारती (अभिनवगुप्त)

तस्मात् काव्ये दोषाभाव गुणालंकारमयत्व लक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनय रूपेण निबिडनिजमोह संकट निवारण कारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसो अनुभव स्मृत्यादि विलक्षणेन ...

(डा० नगेन्द्र द्वारा - रस सिद्धान्त, सं० १९६०, पृष्ठ १६६ पर

प्रेक्षक के आस्वाद को `रस` मानने का श्रेय भट्टनायक को है । रसात्मक प्रतिमान का यह उत्तरवर्ती रूप सहृदयाश्रित होने के अतिरिक्त `ब्रह्मानन्द-सहोदर` कहा जाता है । शैवाद्वैत दर्शन - काश्मीरी शैव दर्शन के सम्मिलित प्रभाव तथा मध्ययुगीन दर्शन से प्रभावित रसात्मक बोध में मध्ययुगीन समाज की झांकी मिलती है । `अजन्ता` की चित्र-कला वात्स्यायन का काम सूत्र तथा योगियों की `युगनद्ध` अवस्था को `कला दर्शन` के त्रिकोण में रख कर देखने पर भट्टनायक की यह व्याख्या और अधिक समझ में आती है । डा० रमेश कुन्तल मेघ ने रस दर्शन के `सौन्दर्य बोधात्मक अनुभव` को कला के स्वर्णयुग[1] की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अवलोकन करने का सुझाव दिया है । दशरूपककार धनिक और धनंजय को `काव्यार्थ की भावना से आस्वाद` `साधारणीकरण` से तुलनीय है । आचार्य आनन्द वर्द्धन ने `ध्वनि सिद्धान्त` की स्थापना में `ध्वनि का सम्बन्ध अलंकारवादियों के `शब्दार्थ` के अतिरिक्त व्यंजना व्यापार से जोड़ा है । आनन्दवर्धन की मान्यता है कि यदि भट्टनायक से तुलना की जाय तो रस का `साधारणीकृत रूप व्यंजनाश्रित ध्वनि के निकट पड़ता है[2] । भट्टनायक की इस मान्यता के अनुसार `निष्पत्ति` का अर्थ है `भावित होना` या `भावित` । साधारणीकरण की स्थापना से रस प्रक्रिया सहृदय से जुड़ने के साथ ही उसके स्थायी भावों की कल्पनात्मक प्रतीति है । डा० नगेन्द्र ने भट्टनायक की व्याख्या में रस तथा आनन्द में अभेद स्थिति न मानकर कारण कार्य सम्बन्ध माना है[3] । भट्ट नायक का यह दृष्टिकोण `रसात्मक प्रतिमान` के समर्थक आचार्यों की तुलना में अधिक आत्मपरक है ।

परवर्ती काल में रस के आस्वाद स्वरूप से अनुभूति अथवा काव्यानुभूति का विकास हुआ । भट्ट नायक की साधारणीकरण की इस स्थापना से अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को नवीन प्रेरणा मिली ।

अभिनवगुप्त का काल ११ वीं शताब्दी माना जाता है । इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ `अभिनव भारती` तथा `ध्वन्यालोक लोचन` है । लोल्लट, शंकुक,

---

१- मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध - डा० रमेशकुन्तल मेघ, पृ० ११६
२- वही ,, ,, पृ० ११ ।
३- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, पृ० ९९

भट्टनायक आदि रस समर्थक आचार्यों के अतिरिक्त महिम भट्ट, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि शास्त्र प्रणेताओं द्वारा 'रसात्मक प्रतिमान' पर किये गये उपर्युक्त विचारों से इस स्थापना को व्यापक परिवेश मिला जिससे वस्तु गत नाट्य रस विषयगत रस से परिवर्तित होकर आत्मपरक तथा विषयगत हो गया । 'आस्वाद रस' से 'आस्वाद्य रस' बनने की यह प्रक्रिया लगभग १३०० वर्षों की रस चिन्तन की प्रक्रिया है जिसके निर्माण में रसवादी आचार्यों के अतिरिक्त अलंकार रीति एवं ध्वनिवादी आचार्यों का भी योगदान है ।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० निर्मला जैन आदि अध्येताओं ने 'अभिनव गुप्त' को अत्यधिक प्रतिभा सम्पन्न आचार्य माना है । इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों में जो मान्यताएं स्थापित की उसमें 'ध्वनि' तथा रसात्मक प्रतिमान को पुष्टि के अतिरिक्त 'ध्वनि', 'अलंकार' तथा 'रस' को समन्वित होने का अवसर मिला । परवर्ती प्रतिमानों के अनुरूप समय-समय 'रस' में जो भी परिवर्तन हुए उनमें 'अभिनव गुप्त' की भूमिका एवं चिन्तन विशेष महत्वपूर्ण है । भट्ट नायक ने साधारणीकरण द्वारा 'रस' को सहृदय के 'भोग' (भोक्तृत्व) से जोड़ कर अभिनव गुप्त का पथ प्रशस्त किया । अभिनवगुप्त का समय भट्टनायक के बाद का है । इन्होंने 'अभिनव भारती' तथा 'लोचन' नामक ग्रन्थों में विशद रूप में रस-सिद्धान्त की चर्चा की है ।

आचार्य आनन्दवर्धन की व्यंग्यार्थ सम्बन्धी ध्वनि की स्थापना को और आगे बढ़ाकर अभिनवगुप्त ने इसे सूक्ष्म भावाश्रित एवं मनोविज्ञान के निकट ला दिया । रस सम्बन्ध में इनकी मान्यता को 'अभिव्यक्ति' वाद की संज्ञा दी गई । प्रतीयमान अर्थ व्यंग्यार्थ ही है जो अंगनाओं के विविध अंग नासिका, कपोल, भौंह एवं नेत्र के अतिरिक्त 'लावण्य' की तरह विद्यमान रहता है । बिहारी के शब्दों में 'वह चितवनि और कछु जेहि बस होत सुजान' के अनुरूप मुख मण्डल की सुन्दरता भंगिमा अथवा लावण्य ही काव्य का प्रतीयमान अर्थ है । दर्शन का स्फोटवाद तथा 'व्याकरण-शास्त्र' में प्रचलित ध्वनि के निकट इनका 'अभिव्यक्तिवाद' आनन्दवर्धन के 'नाट्य रस' तथा 'काव्य-रस' से पृथक है । 'वक्रोक्ति जीवित' के प्रणेता आचार्य 'कुन्तक' ने 'वक्र कवि व्यापार शालिनि' कृति के युक्त व्यवस्थित

कवित्व गुण की रचना को कविता कह कर जो मत स्थापित किया था अभिनवगुप्त के लिए एक चुनौती यह बनी थी । अनेक आचार्यों के समकालीन एवं परवर्ती होने पर भी इन्होंने मुख्यतः रस विरोधी आचार्यों की स्थापनाओं को चुनौती दी । 'अलंकारमत' तथा 'रीतिमत' के उपरान्त आने वाली 'अभिव्यंजना' से सम्बन्धित प्रतिमानों के अतिरिक्त 'रसात्मक प्रतिमान' की अभिव्यक्ति पक्ष सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों की मिश्रित प्रक्रिया है ।

आचार्य अभिनवगुप्त का 'रस सिद्धान्त' 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' तथा 'कश्मीरी शैव दर्शन' के निकट है । 'अभिनवभारती' नामक शास्त्रीय एवं समीक्षात्मक कृति में 'रस' अलंकार तथा ध्वनियों पर भी चर्चा खण्डन या मण्डन के लिए हुई है । अभिनवगुप्त के अनुसार --(I) रस प्रक्रिया कविता से पदों के अर्थ में उपस्थित होती है, (II) उपस्थित विभावादि के विषय से वाक्यार्थ बोध होता है, (III) फिर गुण, अलंकार अभिनय का स्थान है । तदुपरान्त सहृदय प्रेक्षक को 'रति आदि' वासना से वासित सामाजिक का साधारण्येन फिर इसी के बल पर 'विभाव' आदि से युक्त 'रति' आदि से अविच्छिन्न चिदानन्द के आवरण के भग होने के साथ ही रस की अभिव्यक्ति होती है । 'रसनिष्पत्ति' विभाव, अनुभाव एवं संचारी { वर्णित तथा तीनों के योग } से होती है । 'श्रव्य-काव्य' के अनेक रूपों में की गई चर्चाओं से 'रस' को उजागर किया जा रहा था किन्तु अन्य सौन्दर्य तत्व अलंकारादि की तुलना में 'रस' को अपेक्षित महत्व नहीं मिल सका था ।[1] ऐसी दशा में अभिनवगुप्त ने 'नाट्य-रस' को 'श्रव्य-रस' से अधिक महत्व दिया ।

भरतमुनि के 'भाव' से अभिनवगुप्त का 'भाव' भिन्न है । इन्होंने केवल 'चित्त वृत्ति' के अर्थ में ही 'भाव' का प्रयोग किया है जबकि भरतमुनि ने विभाव-अनुभाव तथा 'रस' के लिये भी प्रयोग किया है । 'भाव' की परिभाषा देते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'भाव इसलिये 'भाव' है कि वे भावन करते हैं ।'[2]

१- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० ३६

२- अभिनवभारती - (हिन्दी अनुवाद) - आचार्य अभिनवगुप्त,

रस के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त की मान्यता है कि सर्वथा आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है[1]। दार्शनिक दृष्टि से रसात्मक भाव की तुलना वे ब्रह्मास्वाद से करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि 'सुखमय प्रतीति' ही रस है।

साधारणीकृत भाव को रस कहते हुए अभिनवगुप्त ने 'व्यष्टि' के सीमित धरातल से समष्टि के व्यापक धरातल को जोड़कर 'आत्मतत्व' तथा 'परमात्म तत्व' को 'बिन्दु' तथा समुद्र माना[2]।यह अभिनव के रस विवेचन की एक प्रमुख सिद्धि है।

रसात्मक प्रतिमान और उसका परवर्ती स्वरूप -

आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रतिमान रूप में 'रस' की स्थापना का आधार दृश्य-काव्य-नाटक होने के कारण 'रस' को भाव की परिणति कहा गया। 'आस्वाद्य' तथा द्रवत्व गुण से युक्त 'रस' 'साहित्य' में आकर 'अनुकार्यगत रस' कहलाया तथा रंगमंच से जुड़ने के कारण रस की 'वस्तुनिष्ठता' पर ही परवर्ती व्याख्याकारों ने अधिक बल दिया है। 'विभाव', 'अनुभाव' तथा संचारी भावों के संयोग से 'रस निष्पत्ति' की प्रक्रिया की विवेचना लोल्लट शंकुक तथा भट्टनायक द्वारा तत्कालीन दार्शनिक एवं साहित्यिक सन्दर्भों में की गई। व्यापक एवं 'समाकलित काव्य-मूल्य' 'रस' चिन्तन' की प्रक्रिया को डा० नगेन्द्र ने(क) ध्वनि पूर्ववर्ती रस-परम्परा, (ख) ध्वनि काल, (ग) ध्वनि परवर्ती रस चिन्तन के क्रम में देखा है[3] तथा डा० निर्मला जैन एवं डा० राम मूर्ति त्रिपाठी ने भी इसी क्रम से स्वीकार किया है। एक प्रतिमान रूप में इस विकास-क्रम को हम 'भट्ट नायक' के 'साधारणीकरण' सिद्धान्त के 'विकास' के अनुरूप दो खण्डों में विभक्त कर

१- सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीति ग्राह्यो भाव एव रस: -
रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र-१९८०, पृ० १०६। हिन्दी अभिनव भारती - पृ० ४७४। से उद्धृत

२- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, १९८०, पृ० १७७

३- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८० - (१७-६८)।

सकते हैं --

(क) साधारणीकरण (अभिधा भावकत्व तथा भोजकत्व) के पूर्व का रस-विमर्श ।

(ख) अभिनवगुप्त तथा उनके बाद का `रस` विमर्श ।

(क) `साधारणीकरण` सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व के रस चिन्तन को भी दो उपधाराओं में अनुस्युत देखा जाता है । (१) अलंकार गुण एवं रीतिवादी आचार्यों का रस चिन्तन तथा (२) `भरतमुनि` के रस-सिद्धान्त के परवर्ती व्याख्याकार भट्ट लोल्लट, शंकुक एवं भट्ट तौत का रसात्मक चिन्तन जो `रसनिष्पत्ति` की व्याख्या रूप में प्रतिपादित किया गया है ।

(१) `श्रव्य काव्य` के सौन्दर्य पर विचार करने वाले आचार्यों में `भामह` का विमर्श सामान्यतः `अलंकार सिद्धान्त` रूप में जाना जाता है किन्तु इनके द्वारा काव्य के `रूपात्मक पक्ष` पर किये गये सैद्धान्तिक विवेचनों में रसात्मक प्रतिमान का अभिव्यंजना पर आधारित विमर्श व्याप्त है[१]। डा० नगेन्द्र ने `अलंकार` एवं `अलंकार्य` भेद को काव्य की आत्मा और शरीर का भेद मानकर इसे मत मतान्तर एवं विरोध का कारण बताया है । आचार्य भामह के उपरान्त दण्डी, रुद्रट, वामन एवं `उद्भट` के `अलंकार` सम्बन्धी प्रतिमानों के अन्तर्गत `रस` को रसवद् `ऊर्जस्विन्` तथा `प्रेयस्` अलंकार के अन्तर्गत समाहित किया गया है[२]। आचार्य भामह के विमर्श में वस्तुतः `नाट्यरस` का विरोध भले ही हो किन्तु उन्होंने `महाकाव्य के महत्त्व` तथा काव्य की महत्ता के प्रतिपादन में `रस` का उल्लेख किया है । `भाव का सौन्दर्य उक्ति के सौन्दर्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है ... इसलिए तत्त्व रूप में रस और रीति सम्प्रदाय का एक दूसरे से विरोध किसी प्रकार नहीं हो सकता[३]। आचार्य भामह ने `काव्य` रसमयता का समर्थन किया है। इनकी स्थापना में रस अलंकार्य न होकर अलंकार ही है ।

१- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संवत् २०१४, पृष्ठांक ८८ ।

२- काव्यालंकार - भामह - (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा)- डा० नगेन्द्र, सं० २०१४, पृ० ४७ ।

३- रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ० नगेन्द्र, सं० १९५४, पृ० [illegible] ।

आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में 'रस' काव्य के गुण अथवा एव दोष वर्गा उल्लिखित है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'दण्डी' को गुण-सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा है । दण्डी ने माधुर्य गुण की परिभाषा करते हुए कहा है -- 'मधुर रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रस स्थिति'[1] अलंकार की कोटि से 'रस' की अलग न करने पर भी भामह की तुलना में आचार्य दण्डी के 'गुण' (माधुर्य)सम्बन्धी लक्षण में 'वाचि' (वाणी) में माधुर्य 'रसव्यञ्जकता विशिष्ट रचनात्व' तथा 'वस्तुनि' (वस्तु में) माधुर्य की स्थिति 'रसव्यञ्जकार्थ विशिष्ट शब्द एव अर्थ में रस की विद्यमानता है'[2]। इस प्रकार शब्द-गत तथा अर्थ-गत माधुर्य का अभिप्राय है 'शब्द' एव "अर्थ" में रस निष्पत्ति की क्षमता । 'प्रेय' अलंकार की चर्चा में दण्डी ने कहा है कि यदि विभावादि बाहुल्य के योग से परिपुष्ट हो जाय तो वही प्रीति नायक-नायिका के 'रति' नामक स्थायी भाव उद्भूत 'शृंगार-रस' की अवस्था तक पहुंच जाती है । यह विवेचन आचार्य दण्डी के रस की ओर झुकाव का सूचक है । वे भी 'रस' को अलंकार्य नहीं स्वीकार करते किन्तु भामह की तुलना में 'रस' की प्रचुर विवेचना इन्होंने की है ।

आठवीं शती (उत्तरार्द्ध) के 'अलंकार सिद्धान्त' के पुरस्कर्ता आचार्य उद्भट 'वामन' के समकालीन हैं । 'काव्यालंकार सारसंग्रह' में 'प्रेय' 'रसवद्' 'ऊर्जस्वी' के अतिरिक्त उद्भट ने 'समाहित' का भी विवरण किया है जो रस-विषयक विवेचन से सम्बन्धित है[3]। भामह एव दण्डी के 'प्रेय' अलंकार के विवेचन की तुलना में उद्भट का 'प्रेय अलंकार' अधिक व्यापक है । आचार्य दण्डी द्वारा गिनाये गये 'नाट्य' स्थित आठ रसों के अतिरिक्त 'शान्त' नामक नवें रस की स्थापना के साथ ही 'नवनाट्ये रसा' स्मृताः' की स्थापना 'उद्भट' द्वारा की गई[4]।

१- काव्यादर्श - आचार्य दण्डी (१-५१) (डा० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा रस-विमर्श में उद्धृत) ।

२- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५-पृ० १८६

३- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० १८८

४- काव्यालंकार सार संग्रह (उद्भट) - सं० डा० राममूर्ति त्रिपाठी

'रसात्मक प्रतिमान' की स्थापना एवं समर्थन के क्रम में भामह, दण्डी एवं उद्भट की तुलना में 'वामन' का 'रस-विमर्श' अधिक स्पष्ट तथा व्यापक है। इन्हें 'सामान्यतः' रीतिवादी आचार्य कहा जाता है। 'वामन' का 'रस-विमर्श' के क्षेत्र में प्रमुख योगदान यह है कि इन्होंने 'काव्य-गुण' की स्थापना में 'रस' की चर्चा की है जबकि इनसे पूर्व के आचार्यों ने रस को अलंकार के ही अन्तर्गत रखा है।[1] 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः', 'काव्य' एवं 'नाटक' की प्रतिमान गत धारणाओं का समन्वय कहा जा सकता है।[2] डा० राममूर्ति त्रिपाठी एवं डा० निर्मला जैन ने आचार्य वामन को 'उदार' रसचिन्तक कहा है क्योंकि इन्होंने 'रस मीमांसा' द्वारा 'श्रव्य-काव्य' के समीक्षण एवं परीक्षण के लिए 'विशिष्ट पद रचना रीति' के साथ ही[3] 'काव्य-प्रयोजन' तथा काव्य-गुणों के निरूपण में 'रस' की चर्चा की है। रस का पूर्ण परिपाक 'दशरूपक' में बताकर उन्होंने 'दृश्य-काव्य' को 'दृश्य-पटवत्' कहा जिसका अर्थ डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने अनेक काव्य-रूपों का मिश्रण किया है।

'अलंकार मत' को मानने वाले आचार्यों में 'रस-विमर्श' का केन्द्र 'श्रव्य-काव्य' माना है। इस मत में 'रस' के पूर्व स्वीकृत रूप का विरोध केवल इस दिशा में है कि भरत एवं भरतोत्तर रस चिन्तकों की नाट्य-रस की अनुकार्य एवं पात्रगत धारणा के विपरीत 'काव्य-रस' तथा श्रव्य काव्य को महत्त्व देकर रस को 'अलंकार' में समाहित कर लिया गया है।

सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जिस प्रकार 'रसनिष्पत्ति' की व्याख्या में परिवर्तन होता गया है उसी प्रकार 'रस' के भाव, अनुभाव संचारी अवयवों तथा रस-स्थान में भी परिवर्तन हुआ है। भट्ट नायक के 'साधारणीकरण' के प्रकाश में कुन्तक, अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसात्मक प्रतिमान' की पुनर्व्याख्या तथा

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० १९

२- काव्यालंकार सूत्रवृत्ति - (वामन) १-२ - ३०

३- रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र : तुलनात्मक विश्लेषण - १९६०, पृ० २९

विमर्श किये हैं । आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने ध्वनि परवर्ती रसचिन्तन को (सिन्थेसिस) का रूप माना है[१]। इस समन्वयात्मक प्रतिमान में प्रमुख भूमिका साधारणीकरण सिद्धान्त की है । `साधारणीकरण` की स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि `जब आलम्बन की भावनायें इतनी सम्प्रेष्य हों कि दर्शक में वही भाव आ सके तो यह अवस्था साधारणीकरण की अवस्था कहलाती है ।`[२] इस व्याख्या के अनुरूप आचार्य शुक्ल साधारणीकरण का अर्थ- आलम्बन का साधारणीकरण करते हैं । `आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है ।` `पुराने आचार्यों` से शुक्ल जी का आशय `भट्टनायक` तथा अभिनवगुप्त की मान्यताओं से है ।

आचार्य भट्ट नायक ने `अभिधा`, `भावकत्व` एवं `भोजकत्व` द्वारा सम्पूर्ण रसात्मक भावों का `साधारणीकरण` बताया था, किन्तु अभिनवगुप्त ने इन स्थितियों का खण्डन कर `सहृदय या पाठक` के हृदय में स्थित आनन्द या वासना की अवस्था उद्बुद्ध होकर आनन्द देने लगे तो उसे रस दशा[३] कहते हैं । भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने `सहृदयाश्रित` रस का प्रतिपादन किया है । डा० नगेन्द्र ने भी `सम्पूर्ण रसात्मक अर्थ` का साधारणीकरण ही स्वीकार किया है । डाक्टर साहब ने एक स्थापना यह भी की है कि -`कवि या नायक की भाव दशा का ही साधारणीकरण होता है ।

`रस विमर्श` के परवर्ती रूप पर अभिनवगुप्त की मान्यता का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि भोजराज के `श्रृंगार प्रकाश` तथा `अग्निपुराण` के अतिरिक्त आचार्य मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने उसी दिशा में सहृदय को ही आनन्द-रसदशा का भोक्ता माना । `अभिनवगुप्त` और मम्मट के बीच एक सर्वथा विलक्षण `रस-सिद्धान्त` भोजराज ने प्रस्तुत किया है । इनके

१- रस सिद्धान्त नये सन्दर्भ - आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ( ) प्रथम सं० १९७७ ।

२- चिन्तामणि - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (डा० नगेन्द्र द्वारा रीति काव्य की भूमिका में उद्धृत) ।

३- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९६६, पृ० ३८-४०

सिद्धान्त से मिलते-जुलते विचार, भाव प्रकाशन एवं अग्निपुराण में भी मिलते हैं[1]। भोजराज ने रस-सिद्धान्त के इस विशिष्ट मत का प्रतिपादन 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा शृङ्गारप्रकाश में किया है। उनकी स्थापना है कि 'काव्य इसलिए कमनीय होता है कि उसमें रस का योग होता है। रस, अभिमान, अहंकार एवं शृङ्गार ये सब पर्याय हैं[2]। भोजराज की मान्यता के अनुसार 'अहंकार' ही शृङ्गार रस है। उनकी दोनों कृतियों में 'अहंकार' तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है - (१) अहंकार, (२) अहंकार के गुण विशेष, (३) विशिष्ट अहंकार जो शृङ्गार रस का पर्याय है। इससे स्पष्ट है कि 'रस' का अर्थ शृङ्गार ही है। 'अग्निपुराण[3]' के काव्यशास्त्रीय विवेचन पर भोज की स्थापनाओं का स्पष्ट प्रभाव है[4]। अग्निपुराणकार ने कहा है कि 'सृष्टि का मूल तत्त्व अक्षर परब्रह्म, सनातन, अज, विभु एवं चिदानन्दमय है। आनन्द उसी का स्वभाव है - जो कभी कभी व्यक्त होता है। उसकी इसी 'व्यक्ति' को चैतन्य चमत्कार या रस कहते हैं।' इसी क्रम में भोजराज के अहंकार-अभिमान एवं 'रति' से परिपुष्ट 'शृङ्गार' को अग्निपुराण में 'रस' संज्ञा प्रदान की गई है। शारदातनय की कृति 'भावप्रकाश' में भी अग्निपुराण की स्थापना का समर्थन है। ग्यारहवीं एवं बारहवीं शती की इन स्थापनाओं के अनुरूप 'रसात्मक प्रतिमान' की उल्लेखनीय विशेषता रसराज शृङ्गार को महत्त्व प्रदान करने के अतिरिक्त 'ब्रह्म के आनन्द' को सहृदयपुरुष के आनन्द का पर्याय मानने से सम्बन्धित है। 'सत्वोद्रेकाद[5] खण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः वेद्यान्तर स्पर्शशून्य' की कसौटी निर्मित करने वाली ये मान्यताएं रसात्मक प्रतिमान की मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भी प्रकाश डालती हैं।

१- रस विमर्श - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६५, पृ० ५७

२- शृङ्गारप्रकाश - भोजराज, भूमिका वी० राघवन, सं० १९६३, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, अनु० पी० डी० अग्निहोत्री

३- संस्कृत अलंकारशास्त्र का समन्वित इतिहास - [illegible], सं० १९८३, पृ० १२०

४- अग्निपुराण- अध्याय ३३८ (रसविमर्श में डा० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा उद्धृत सं० १९६५, पृ० ६६) ।

५- साहित्यदर्पण - विश्वनाथ (चौखम्भा संस्कृत) सं० १९७६ (३-२१३) व्याख्याकार - सत्यव्रत सिंह ।

परवर्ती रस चिन्तन का सम्बन्ध आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण मम्मट कृत काव्यप्रकाश तथा पण्डितराज जगन्नाथ के 'रस गंगाधर' से है। डा० निर्मला जैन ने इस युग को रस चिन्तन का चरमोत्कर्ष कहा है[1]। डा० रमेश कुन्तल मेघ एवं डा० राममूर्ति त्रिपाठी भी इसी मत का समर्थन करते हैं[2]। इन मान्यताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साहित्यदर्पण' में रस को स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्श शून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर लोकोत्तर चमत्कार प्राण कहा गया है[3]। डा० नगेन्द्र ने इसी स्थापना के समर्थन में कहा है कि 'जिसका आस्वादन हो वह रस है अर्थात् रस आस्वाद रूप है। × × × रस सहृदय संवेद्य है[4]। रस के आस्वाद को अखण्ड मानकर आचार्य विश्वनाथ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विभाव, अनुभाव, स्थायी संचारी आदि की पृथक सत्ता नहीं होती। संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज ने मम्मट एवं अभिनवगुप्त की रस सम्बन्धी धारणा पर अद्वैत वेदान्त का रंग चढ़ाकर 'रसो वै सः' श्रुतिवाक्य का पूर्ण समर्थन किया है। 'स्थायी विशिष्ट चित्' को रस स्वीकार कर उन्होंने उपनिषद्, दर्शन, भक्ति एवं साहित्यशास्त्र के रस का समन्वय किया है।

'रसात्मक प्रतिमानों' की यह परम्परा 'आस्वाद रस' से चलकर आस्वाद एवं 'प्रकाशानन्द चिन्मय' ब्रह्म विषय आनन्द से मिल जाती है। इस प्रतिमान के एक छोर पर भरतमुनि की विभावगत तथा अनुकार्य में रस की स्थिति है तो दूसरे छोर पर 'न ममेति ममेति परस्य परस्येति वा' का विमर्श जो व्यापक रूप में सारे स्थायी संचारी, विभावादि को 'अखण्ड आनन्द' रूप में समेट लेता है।

१- रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र . तुलनात्मक विश्लेषण अध्ययन - निर्मला जैन, सं० १९६७, पृ० ३० ।

२- मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध - र.कु.मे. सं० १९६९, पृ० ११ ।

३- रीतिकाव्य की भूमिका में डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत (सं० १९६४), पृ० ६१ साहित्यदर्पण -(३-२-१)

४- वही ,, ,, पृ० ६१ ।

इसी व्यापकता के कारण यह प्रतिमान `साहित्यशास्त्र` में आरम्भ से अन्त तक चर्चित एवं विवादित होकर अवरामक्षत है । `साधारणीकरण` रति, शृङ्गार अहंकार ही रस ` तथा `[illegible]न्तर स्पर्श शून्य ` जैसी स्थापनायें उसके आयाम पर भी प्रकाश डालती है ।

साहित्यशास्त्र से चलकर मध्ययुगीन रसचिन्तन में `रीतिकाव्य ` की मंजिल को पारकर यह प्रतिमान अनुभूति नाट्यानुभूति, रसानुभूति, आनन्द की अवस्था, लोकमंगल की साधनावस्था अथवा सिद्धावस्था तक चला आया है । मनो-विज्ञान, दर्शन कला एवं संस्कृति ने इस प्रतिमान पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है । डा० नगेन्द्र एक ओर इसे व्यापक एवं समाकलित काव्य मूल्य मानकर `रस-सिद्धान्त` लिखते हैं तो आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी इसकी नवता को ध्यान में रखकर `रस-सिद्धान्त' नये सन्दर्भ ` का विवेचन करते हैं । आचार्य शुक्ल की रस सम्बन्धी स्थापनाओं को आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र `रस मीमांसा` कह कर प्रकाशित करते हैं तो डा० राममूर्ति त्रिपाठी `रस-विमर्श` के रूप में `रस चिन्तन` को प्रस्तुत करते हैं । डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, डा० रमेश कुन्तल मेघ, डा० शान्ति स्वरूप गुप्त के अतिरिक्त, डा० सत्यदेव चौधरी, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त एवं डा० प्रेम बिहारी गुप्त राकेश ने इस `प्रतिमान ` के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों पर विचार करके इसको चीवन्त परम्परा को वर्तमान सन्दर्भ से जोड़ा है । लगभग दो हजार वर्षों की इस शास्त्रीय परम्परा में प्रतिमानों के रूप में `रस ` लगभग सर्वमान्य रहा है जिसके समर्थन या विरोध में `ध्वनि ` एवं रीति मत उद्भूत होकर वक्रोक्ति एवं औचित्य मत के प्रतिपादन के प्रेरक बने हैं ।

संरचना पर आधारित प्रतिमान अलंकार सिद्धान्त

`अलं` पूर्वक कृ धातु के प्रयोग से करण या भाव अर्थ में `घञ्` प्रत्यय जोड़ने पर `अलंकार` शब्द बनता है । इसकी व्युत्पत्ति - `अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः` अथवा `अलंकरोति इति अलंकार` की जाती है । जिस पदार्थ या तत्व द्वारा कोई वस्तु सुशोभित की जाती है और उससे सौन्दर्य आकर्षण या चमत्कार में वृद्धि हो जाती है वह पदार्थ या `तत्व` अलंकार कहलाता है । अलंकृति की प्रयोग परम्परा वैदिक ऋचाओं तथा आख्यानों में देखा जाता है । ऋग्वेद में `अनेन अलङ्करोति सत्कुर्वन्ति` प्रयोग मिलता है । `छान्दोग्योपनिषद्` तथा अन्य औपनिषदिक कृतियों में भी अलंकृत वाणी काव्यात्मक रूप में प्रयुक्त हुई है । आचार्य भरतमुनि के प्रसिद्ध ग्रन्थ `नाट्यशास्त्र` में `अलंकार` शब्द का प्रयोग वाणी के प्रभावोत्पादक अर्थ में हुआ है जिसका सम्बन्ध प्रतिमान से जोड़ा जा सकता है । `नाट्यशास्त्र` में अभिनेयता की `प्रभावोत्पादकता` के लिए अनुकर्ता द्वारा प्रयुक्त कथन में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक अलंकार का उल्लेख किया गया है । निरुक्त में `यास्क` द्वारा `गार्ग्य` का नामोल्लेख कर यह बताया गया है कि `गार्ग्य` ने उपमा `अलंकार` का प्रयोग व्याकरण शास्त्र की शब्द-व्यंजना के लिए किया था जिससे अन्य अलंकारों का विकास हुआ[1]। `अलंकार` आरम्भ में `कथन की शैली` मात्र था जिसका विकास परवर्ती चरण में शनैः शनैः मनन एवं अध्ययन के फलस्वरूप `भाषिक संरचना` (भाषिक स्ट्रक्चर) के रूप में हुआ । `साहित्य शास्त्र` की परम्परा से पूर्व अलंकार व्याकरण का विषय था ।

प्रतिमान रूप में स्वीकृति के पूर्व `अलंकारशास्त्र` काव्य-शास्त्र का पर्याय था जिसे डा० काणे एवं राघवन ने स्वीकार किया है[2]। काव्यशास्त्र के आचार्यों को `आलंकारिक` कहना इसी स्वीकृति का प्रतिफल है ।

१- अलंकारों का स्वरूप विकास - डा० ओम प्रकाश, सं० १९७४, पृ० १० ।

२- हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स- पी० वी० काणे, सं० १९६१, पृ० ३४१ ।

संस्कृत `काव्य शास्त्र` के प्रतिमान रूप मे अलकार सिद्धान्त के विकास क्रम को तीन काल खण्डों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम चरण में अलकार को व्यापक रूप में स्वीकार कर इसे सौन्दर्य, गुण-वृद्धि कारक तथा वक्रोक्ति एव अति-शयोक्ति के अर्थ मे ग्रहण किया गया है । यह चरण भामह से रुद्रट तक (६०० ई० से ८५० ई०) तक माना जाता है । द्वितीय चरण मे रुद्रट के बाद नवी शताब्दी के आस-पास अलकार तथा अलकार्य का भेद करके रस, भावादि को अलकार्य तथा उपमादि को अलकार रूप मे स्वीकृति मिली । इस चरण मे अलकार को व्यापक सीमा का परित्याग कर सकुचित सीमा स्वीकार की जाने लगी । तृतीय चरण मे अलकार को काव्य की बाह्य रूप सज्जा के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा । आनन्द-वर्द्धन, कुन्तक तथा अभिनवगुप्त आदि की मान्यताओं के अनुसार `ध्वनि` को प्रतीयमान अर्थ में ग्रहण किये जाने के कारण ग्यारहवीं शताब्दी के उपरान्त भोजराज के `शृङ्गारप्रकाश` मम्मट कृत `काव्यप्रकाश` विश्वनाथ के `साहित्य दर्पण` तथा पंडितराज जगन्नाथ की काव्य-शास्त्रीय कृतियों में अलकार का विवेचन इसी रूप मे हुआ ।

काव्य-शास्त्र मे श्रव्य-काव्य के सौन्दर्य-निरूपण के लिए अलकार तत्व का प्रतिपादन आचार्य भामह की रचना `काव्यालकार` मे पहली बार किया गया ।[१] इनके पश्चात् दण्डी कृत काव्यादर्श, वामन कृत काव्यालकार-सूत्र उद्भट कृत `काव्या-लकार सार सग्रह` तथा रुद्रट कृत `काव्यालकार` मे किंचित् परिवर्तन तथा अन्तर के साथ `अलकार` का प्रयोग इसी आशय से किया गया जैसा कि इन कृतियों के नाम से ध्वनित होता है । भामह से पूर्व आचार्य भरतमुनि ने `अलकार` शब्द का प्रयोग अनुकर्ता द्वारा प्रयुक्त वाणी के सौन्दर्य की अभिवृद्धि तथा प्रभावोत्पादकता के लिए किया था । आचार्य भामह ने भरत कृत नाट्य रस के विभाव, अनुभाव तथा सचारी को `दृश्य काव्य` के भाव या रस का पूर्ण रूप मानकर उसी के समानान्तर `श्रव्य काव्य` के प्रतिमान रूप में `अलकार` की स्थापना की, जिसमें `विभावानुभाव` के स्थान पर क्रमशः `शब्द` अर्थों तथा `व्यभिचार` के स्थान पर `उक्तियों` का प्रयोग

१- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२० द्वितीय (भूमिका)

किया है । 'रस निष्पत्ति ' के स्थान पर 'काव्य ' की स्थापना के साथ कहा गया है कि 'काव्य ' 'अलंकार' से ही 'काव्य' होता है[1]। इसी 'सहितौ 'से आगे चलकर राजशेखर ने काव्य मीमांसा में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति शब्द और अर्थ के सहित युक्त विहित अर्थ में की तथा 'काव्य' को 'साहित्य' के पर्याय रूप में भी स्वीकार किया[2]। परवर्ती काल मे 'हितेन सह' का अर्थ आनन्ददायी भी किया गया । 'रसात्मक वाक्यं' तथा 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' शब्द को काव्य मानना उसी क्रम में दर्शनीय है ।

भामह द्वारा 'अलंकार' को काव्य के प्रतिमान रूप में प्रयोग करने का उद्देश्य था शब्दार्थ युक्त रचना की कलात्मकता की स्वीकृति और दोष रहित गुण युक्त तथा चमत्कृति पूर्ण हो । भामह ने अलंकार विमर्श के आरम्भ के साथ ही 'काव्य के शरीरगत चारुता के योग रूप में अलंकार की कल्पना ऐसे व्यापक अर्थ में की गई है जिसमे सौन्दर्य के सभी स्रोतों का समावेश हो सके[3] 'काव्य के उपकरण सौन्दर्य, गुण, रीति, वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति की शोभाकारक गुण-धर्म का पर्याय मानकर अलंकार की विवेचना इसी व्यापकता की परिचायक है । 'शब्द और अर्थ का सहित होना' ही काव्य है[4]। भामह द्वारा निरूपित इस काव्य लक्षण में न केवल शब्द तथा तद्गत बाह्योपकरण अथवा शब्दालंकार (अनुप्रास, श्लेष, यमक) या अर्थालंकार उपमा,रूपक, उत्प्रेक्षादि को महत्त्व दिया गया, अपितु 'वाणी और अर्थ का सामञ्जस्य ' काव्य कहा गया । इस प्रकार यदि साहित्य का तत्त्व काव्य माना जाय तो काव्य का तत्त्व अलंकार कहा जा सकता है ।

१- (क) विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस रस निष्पत्ति . भरतमुनि-(नाट्यशास्त्र)।
(ख) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं.......... ... भामह (काव्यालंकार) ।

२- साहित्य का प्रयोजन - कस्मै देवाय - आचार्य विश्वनिवास मिश्र (विरहा व्या० माला)

३- भारतीय काव्य समीक्षा मे अलंकार सिद्धान्त - (सम्पा०) डा० रेवा प्रसाद भूमिका (प्रस्तावना) - डा० राममूर्ति त्रिपाठी ।

४- काव्यालंकार - भामह (१-१६-१) - (सम्पा०)आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

प्रतिमान रूप में सौन्दर्य, `गुण`, `रीति` एवं वक्रोक्ति से समन्वित `अलंकार` की जो परम्परा आरम्भ हुई है उसके पुरस्कर्ता भामह ही हैं । डा० नगेन्द्र ने अलंकार, गुण, रीति और वक्रोक्ति को बाह्य सौन्दर्य का वस्तुगत रूप मानकर इसे `अलंकार` सिद्धान्त के विकास क्रम में स्वीकार किया है[१]।

भामह ने `नितान्त आदि शब्दों द्वारा व्यक्त `अतिशयोक्ति` से ही वाणी का सौष्ठव न मानकर वक्र शब्द और अर्थ की अभिव्यक्ति उक्ति को वाणी का काव्य-अलंकार कहा[२]। `प्रतिमान` के रूप में भामह के इस कथन का प्रभाव दण्डी, वामन तथा रुय्यक पर पड़ा है । `अलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यां मतं` द्वारा यही मान्यता पुष्ट होती है । अलंकार की सीमा को व्यापक बनाकर काव्यगत चारुता को वक्रोक्ति कहकर भामह ने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि `वक्रता सभी अलंकारों का मूल है और वक्रतामयी उक्ति का नाम अलंकार है[३]।`

आचार्य दण्डी की काव्यादर्शगत स्थापना अलंकार को प्रतिमान रूप में स्थापित किये जाने का दूसरा उल्लेखनीय प्रतिपाद है । दण्डी ने भामह द्वारा प्रतिपादित `अलंकार` की अपेक्षा गुणों को निरपेक्ष तथा स्वतंत्र काव्य की आत्मा रूप में स्वीकार करके अलंकार को `काव्य शोभा कारक गुण धर्म` रूप में मान्यता दी[४]। भामह की अपेक्षा `सौन्दर्यात्मक प्रतिमान` को उदार दृष्टि से व्यापकता प्रदान कर उन्होंने अन्य शास्त्रों में वर्णित सन्धि के अंग, वृत्ति के अंग तथा लक्षणों को भी अलंकार में समाहित कर लिया । इनके द्वारा ग्रहण की गई `आकृति`-

---

१- रीतिकाव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, पृ० १६६

२- काव्यालंकार (भामह) - १-३६ -

३- सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
 यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।।
 - काव्यालंकार - भामह (२ - ८५)

४- काव्य शोभाकरान धर्मानलंकारान् प्रचक्षते -
 काव्यादर्श - दण्डी

काव्य के सभी उपादेय तत्वों के लिए है । अलंकारों की सवर्धनशीलता का समर्थन कर इन्होंने 'रसवत्' 'उर्जस्विन् प्रेयस' अलंकार में 'रस' की भावात्मकता को समाहित कर भामह का अनुवर्तन किया है । भामह के द्वारा प्रयुक्त 'वक्रोक्ति' के स्थान पर 'अतिशयोक्ति' का प्रयोग दण्डी की मौलिकता कही जा सकती है[1]। इनके द्वारा शब्दालंकारों को अधिक महत्व प्रदान कर 'लेश' 'सूक्ष्म' और 'हेतु' को भी अलंकार रूप में स्वीकारा गया । 'अलंकार' के समकक्ष 'रीति' (काव्य रचना प्रक्रिया) की स्थापना प्रतिमानगत उपलब्धि है जो आगे चलकर वामन की प्रेरणा बनी । 'भामह' और 'दण्डी' द्वारा अलंकार को कविता का प्रतिमान स्वीकार किये जाने पर भी दोनों आचार्यों की मान्यताओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है । आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा का तर्क है कि 'काव्यालंकार की ४०० कारिकाओं में से १५९ कारिकाओं का सम्बन्ध अलंकार विवेचन से होने तथा कृति के नाम में 'अलंकार' शब्द जुड़े होने के कारण भामह को अलंकारवादी कहा जाता है ।' भामह के अलंकार की व्यापकता में आचार्य शर्मा ने 'रमणीयता, चारुत्व, सौन्दर्य तथा चमत्कार के अतिरिक्त दोष रहित गुणों से युक्त आदि विशेषताओं को सम्मिलित किया है[2]। आचार्य दण्डी की व्यापकता भामह से कम नहीं है । 'काव्यादर्श' में अलंकार की परिभाषा एवं लक्षण के अतिरिक्त गुण के साथ-साथ नाट्य-संधि को काव्य के लक्षणों में समाहित कर उन्होंने 'नाट्य' एवं 'काव्य' के समन्वय की ओर कदम बढ़ाया । 'दण्डी' स्वयं भी एक सफल कवि थे अत: काव्य-प्रतिमानों की समसामयिक स्थापना में उन्होंने 'नाट्य' एवं 'काव्य'- संधि की स्वीकृति से अपनी तथा अपने समय की चेतना का भी ध्यान रखा है । कविकालिदास, भास आदि की नाट्य कृतियों में उत्कृष्ट 'काव्य' की उपस्थिति प्रतिमानगत समन्वय के कारण है[3]। भामह ने 'काव्य-भाषा' एवं

१- काव्यादर्श - दण्डी (२- २२०)

२- काव्यालंकार (भामह) - सं० आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा (भूमिका) ।

३- प्रो० ए० बी० कीथ के 'संस्कृत ड्रामा' (१९२४) - पृ० ६० अनुसार (अभ्युदित रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्य बोध - डा० रमेशकुन्तल मेघ १९६८, पृ० २०८)

`शास्त्र-भाषा` के द्वारा जो स्थापना की है प्रतिमान हेतु उस पर भी यहां ध्यान देना आवश्यक है । `शास्त्र` और `काव्य` में भेद करते हुए उन्होंने कहा है कि -- "यदि काव्य क्लिष्ट हो गया तो उसमें और शास्त्र में अन्तर क्या रहा । उससे विद्वानों को कुछ अन्तर भले ही प्राप्त हो किन्तु चतुर्वर्ग का फल देने पर भी लोक-व्यवहार की शीलता एवं सहजता के साथ अर्थ निरूपण और लौकिक आचार कविता में सरलता के लिए आवश्यक है ।"[१] इन स्थापनाओं द्वारा `वक्रोक्ति सम्प्रदाय` की स्थापना के लिए भी रूप रेखा बनती है जो `कुन्तक` के लिए उपादेय हो सकी । भामह कृत अलंकार विवेचन में दूसरा उल्लेखनीय तत्त्व `दोष` भी आया जो वाणी में आकर `वक्रता` को नष्ट करता है । भामह की तुलना में दण्डी की दृष्टि अधिक उदार दिखाई देती है । रसवत्, `ऊर्जस्विन्` तथा `प्रेयस्` रूप में शृङ्गार तथा अन्य रसों का समाहार अलंकार की व्यापक सीमा में उन्होंने भी किया है ।

आचार्य वामन इस प्रतिमान के अन्य प्रतिपादक हैं जिन्हें रीति का मत का समर्थक तथा नये प्रतिमान का नियामक माना जाता है । अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह तथा परवर्ती आचार्य उद्भट एवं रुद्रट के बीच "वामन" एक ऐसी चिन्तन की कड़ी जोड़ते हैं जिसे `रीति मत` कहा जाता है । वामन के अनुसार "शब्दार्थों" के स्थान पर "विशिष्टा पद", (रचना) = "रचना", (काव्य) = रीति. ", व्याख्यात्मक है । विशिष्टता गुण है[२] । यह गुण ही काव्य की आत्मा है तथा आत्मा ही रीति है । यदि वामन कृत इन लक्षणों को एक वृत्त की परिधि रेखा में अथवा त्रिभुज के तीन शीर्षों के रूप में देखा जाय तो पूर्ण वृत्त अथवा त्रिभुज में यह रीति (विशिष्ट पद रचना) व्याप्त दिखाई पड़ेगी । यह रीति व्यापक रूप में `शास्त्र` तथा संकुचित रूप में "विशिष्ट पद की रचना" (का सिद्धान्त) कहा जाता है । इसी के एक शीर्ष पर विशिष्टता (अर्थात् सामान्य से पृथक्)[३], गुण (दोषों से पृथक) दूसरे शीर्ष पर तथा अलंकार तीसरे शीर्ष पर पड़ेगा । दण्डी तथा उनसे भी

१- काव्यालंकार - भामह, सर्ग १

२- विशिष्टा पद रचना रीति", रीतिरात्मा काव्यस्य । ..विशिष्टो गुणात्मा

३- डा० कृष्ण स्वामी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाङ्मय विमर्श) तथा डा० राम मूर्ति त्रिपाठी द्वारा (काव्यालंकार सार संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या) में पृ० ३१ पर उद्धृत ।

पूर्ववर्ती भामह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में संशोधन करके आचार्य `वामन' ने वाणी का नित्य धर्म = गुण तथा अनित्य धर्म अलंकार या सौन्दर्य कहा । प्रतिमान गत उद्भावना तथा नवीनता के रूप में वामन ने सम्पूर्ण कवि कर्म, काव्य के गुण तथा रीतियों का भी पृथक निरूपण किया है । प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि काव्य हेतु तथा `काव्य-प्रयोजनों' का उल्लेख अलंकार-मत में भी किया गया है । `काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः[1] के प्रतिपादन से उन्होंने `गुण' एवं अलंकार को भिन्न एवं अभिन्न कहा । प्रथम अध्याय में काव्य अलंकार के योग से ग्राह्य है, सौन्दर्य ही अलंकार का आधान तत्व है, जो दोषों के त्याग तथा गुणों एवं अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है[2] । द्वितीय तथा तृतीय सूत्र मे `सौन्दर्य ही अलंकार है' तथा `वह (सौन्दर्य) अलंकार' - दोषों के त्याग, अलंकारों में दो बार अलंकार शब्द की आवृत्ति विभिन्न अर्थों में हुई है । अलंकार को वामन ने उपमा, रूपक, दीपक की सीमा से ऊपर उठाकर अन्यतम तत्व सौन्दर्य तक देखा है । संस्कृत काव्य-शास्त्र मे पहली घोषणा वामन की है कि काव्य का सर्वस्व सौन्दर्य है ।[3] डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त कथन के क्रम से `वामन' को `रीति' या अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तक न मानकर सौन्दर्य सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा है[4] । किन्तु डा० नगेन्द्र ने `रीति' को व्यापक अर्थ मे अलंकार गुण एवं रीति का समन्वित सिद्धान्त कहा है[5] जो आचार्य शुक्ल को भी मान्य है ।

चारुता या सौन्दर्य को प्रतिमान रूप में स्वीकार करने पर भी

१- काव्यालंकार सूत्राणि - वामन - ३-१ (१-२)

२- वही वही १- (१, २, ३)

३- हिन्दी काव्यालंकार सूत्रानि - सं० डा० नगेन्द्र सं० । २०३३ द्वितीय

४- वही ,, भूमिका - डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृ० २०

५- भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त - डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी
पातनिका - (भूमिका) - डा० रामपूर्ति त्रिपाठी (४ ५ ७)

वामन इस क्रम में स्थान पाते हैं । वे चारुता या सौन्दर्य को महत्व देने के साथ उसे 'शब्दार्थ शरीरगत' मानते हैं । भामह की भांति सहज कमनीयता को अकाव्योचित न मानकर ही उन्होंने कहा है कि "जिस प्रकार कामिनी का तारुण्य सुलभ सौन्दर्य महत्व का है -(अलंकारवादी इसी सौन्दर्य की आवृत्ति करते हैं-) उसी प्रकार काव्य में भी 'तारुण्य स्थानीय' गुण सहज निमित्त है ।" इन्होंने गुण और अलंकार में अन्तर न बताकर सहज सौन्दर्य को ही अलंकार की संज्ञा दी । आचार्य वामन की उपर्युक्त मान्यतायें बहुआयामी होने के साथ-साथ वैविध्यमय तथा कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी लगती है किन्तु इन्हें व्यापक रूप में ग्रहण करके ही इन्हें अलंकारवादी कहा जा सकता है ।

अलंकार को कविता का प्रतिमान मानने वाले अन्य आचार्य उद्भट का समय ८ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध माना जाता है । ये आचार्य वामन के समकालीन थे । इन्होंने आचार्य भामह की प्रतिमानगत अवधारणा का प्रायः समर्थन करते हुए अलंकार सिद्धान्त को आगे बढ़ाया है ।'भामह विवरण' नामक कृति के माध्यम से उद्भट ने भामह के सिद्धान्तों की विवेचना करके अपनी प्रतिभा तथा सूक्ष्मता ग्राहिणी प्रवृत्ति का परिचय दिया है ।

काव्य शास्त्रीय प्रतिमान रूप में 'अलंकार' स्वीकृति का दूसरा चरण आचार्य रुद्रट से माना जाता है । इनका काल ९ वीं शताब्दी ईस्वी है । अलंकार तथा अलंकार्य में भेद करके इस युग के आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त की पृष्ठभूमि के समानान्तर वाक्य रूप रचना परक काव्य प्रतिमान का नया अध्याय प्रस्तुत किया । डा० नगेन्द्र साहित्यशास्त्र में सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता का मूलकारण 'अलंकार्य-अलंकार' में व्यवहार एवं तत्त्व रूप में भेद मानते हैं[१] । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस काल को एन्टीथीसिस (प्रतिवाद) का युग मानते हैं[२] तथा डा० राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं कि 'परवर्ती आलंकारिकों की विवेक बुद्धि ज्यों-ज्यों प्रखर होती

१- रीतिकाव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, संस्करण, १९५५, पृ० १२८

२- नया साहित्य : नये प्रश्न - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (डा० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा पृ० १० पर उद्धृत) ।

गई अलंकार की स्वरूप सीमा संकुचित होती गई[1]। इस काल में आकर रस भावादि गुण को अलंकार्य सौन्दर्यमलंकार (थिंग आफ ब्यूटी) तथा अलंकार को अलंकृतिरलंकार (फीगर आफ स्पीच) के अर्थ में स्वीकार किया गया। अलंकार्य साध्य है तथा अलंकार साधन। भामह आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकार ` उपेय किन्तु इससे भेद करके इस धारणा में अलंकार उपाय मात्र रह गया।

अलंकार और अलंकार्य मे भेद करके स्वीकार करने वाले आचार्यों में राजशेखर, मम्मट, आनन्द वर्द्धन तथा रुय्यक प्रमुख हैं। काव्य प्रकाशकार ने भामहादि अलंकारवादियो द्वारा स्थापित `शब्दार्थौ सहितौ काव्य ` तथा `सौन्दर्यमलंकार ` की व्याख्या करते समय पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का खण्डन कर नये प्रतिमान की स्थापना की[2]। काव्य के गुण धर्म के दो भेद-स्थिर धर्म तथा अस्थिर धर्म मानकर अलंकार को `अस्थिर धर्म` की कोटि में रखा गया। आचार्य मम्मट ने अलंकार को हारादि आभूषणों के तुल्य माना जो सुन्दरी के कण्ठादि अंग के सौन्दर्य वर्धक हुआ करते है। इनके अनुसार अनुप्रासादि शब्दालंकार तथा उपमादि अर्थालंकारों की स्थिति कटकाद्युपकरण रूप ही है[3]। काव्य प्रकाश के अष्टम उल्लास में गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए इन्होंने गुण को `रसध्वनि` में समाहित करके गुणों का सम्बन्ध रस (अलंकार्य) से जोड़ा है। `वाचक ` एवं `वाच्य ` रूप में की गई `शब्द` एवं अर्थ पर आश्रित अलंकारों की व्याख्या द्वारा काव्यप्रकाशकार ने स्पष्टतः आनन्दवर्द्धन के मत का समर्थन किया है। ध्वन्यालोक में भी यह कहा गया है कि अलंकार (अनुप्रासादि शब्दालंकार तथा उपमादि अर्थालंकार) कविता कामिनी के शरीर के कटक कुण्डलादि की तरह के आभूषण हैं[4]। आचार्य मम्मट

१- भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त की (पातनिका) में डा० त्रिपाठी का मत।

२- उपकारकत्वादलङ्कार: सप्तममङ्गम् – इति यायावरीय
(राजशेखर कृत काव्यमीमांसा)

३- उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ॥—काव्यप्रकाश,अष्टम उल्लास ॥ कारिका 67

४- अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या: कटकादिवत् ।
– ध्वन्यालोक – (२-६) ।

की यह स्थापना एक ओर पूर्ववर्ती अलंकारवादी भामह उद्भट आदि के 'शब्द और अर्थ' युक्त काव्य मे स्थित गुण तथा सौन्दर्य की एकता सम्बन्धी मत के खण्डन मे है तो दूसरी ओर रीतिवादी वामन के भी विपरीत है । काव्यप्रकाशकार ने कहा है कि गुण और अलंकार मे जो परस्पर भेद है वह यही है कि जहा गुण रस के धर्म है और रस से अपृथक् सिद्ध रहा करते है वहा अलंकार न तो रस के धर्म है और न रस से अपृथक् सिद्ध ही रहा करते हैं ।[1]

राजशेखर कृत 'काव्य-मीमांसा' तथा मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' के अतिरिक्त 'अलंकार सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए अलंकारों का वर्गीकरण नवीन दृष्टि से किया । ध्वनि मत की स्थापना के कारण अलंकार विमर्श के तीसरे चरण में अप्पय दीक्षित, महिम भट्ट तथा 'जयदेव' अलंकार के समर्थन में कृतियों की सर्जना करते रहे तो दूसरी ओर आनन्द वर्द्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा 'ध्वनि-रस' का समर्थन किये जाने पर भी अलंकारों के लक्षण विवेचन, काव्य-शोभा के बाह्य उपकरण रूप में माने गये काव्य समीक्षा मे बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमानगत अवधारणा का तृतीय चरण समीक्षा में समन्वय का युग माना जाता है । ध्वनि सिद्धान्त की परवर्ती व्याख्या तथा विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण एवं पण्डितराज जगन्नाथ की स्थापनाओं से अलंकार मत के महत्व पर भले ही प्रभाव पड़ा हो किन्तु परवर्ती रस चिन्तन, ध्वनि सिद्धान्त, वक्रोक्ति एवं औचित्य परक विमर्श द्वारा काव्य के सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्वों के अतिरिक्त प्रयोजन हेतु शब्द-शक्ति आदि पर भी विस्तृत विवेचना की गई । अलंकार सिद्धान्त का यह युग आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा के माध्यम से चिन्त्य है --

> शब्दार्थयोर् स्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः ।
> रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्ते ऽङ्गदादिवत् ।।

आनन्दवर्द्धन तथा मम्मटोपरान्त ही 'अलंकार' को अस्थिर धर्म कह कर इसे मात्र गुण धर्म की सहायता के लिए सीमित कर दिया था । आचार्य विश्वनाथ

1- काव्यप्रकाश - 'अष्टम उल्लास' पृ० ४५४ के बाद की व्याख्या - टीकाकार (डा० सत्यव्रत सिंह) ।

ने भी 'अस्थिर धर्म' शोभावृद्धिकारक, रसों के उपकारक तथा 'बाजूबन्द' की तरह कहा। 'हार' तुल्य काव्यप्रकाश में, कुण्डल तुल्य 'ध्वन्यालोक' में तथा बाजूबन्द (अङ्गदादि) तुल्य साहित्यदर्पण में अलंकारों की पहचानने में भी एक क्रम-गत ह्रास देखा जा सकता है। ध्वन्यालोक में 'कटककुण्डलादि' तुल्य कहकर अलंकारों को कथंचित् मानना 'श्रुति सेवक एक का' का पूर्वाभास ही जाता है। 'हार' में हृदय पर धारण किये जाने का गुण मम्मट की सहृदयता है किन्तु साहित्य दर्पणकार ने बाहु का आभूषण-अलंकार मानकर उसे और नीचे ला दिया।

इन मान्यताओं के साथ ही अभिनवगुप्त की रसध्वनि कुन्तक की वक्रोक्ति तथा अप्पय दीक्षित जयदेवादि परवर्ती आलंकारिकों की अभ्युक्तियों पर ध्यान देना आवश्यक है। अभिनवगुप्त ने पहले ही 'लोचन' में कहा था कि 'अलंकार्य' के बिना 'अलंकार' अथवा 'गुणी' के बिना 'गुण' कोई अभिप्राय नहीं रखते। आनन्दवर्धन के 'वाच्य-वाचक' धर्म से तुलनीय है- अभिनवगुप्त की यह चुनौती जिसमें वे कहते हैं कि प्राचीन आलंकारिक रस रूप 'गुणी' अथवा 'अलंकार्य' से परिचित ही नहीं थे 'गुण' और 'अलंकार' की चर्चा ही निराधार है।[1] अलंकार की स्वतन्त्र सत्ता पर किया गया यह सन्देह परवर्ती प्रतिमानगत अवधारणा तथा अस्पष्टता की सूचक है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में कश्मीर में शैवाद्वैत दर्शन के प्रभाव के कारण ब्रह्म के प्रत्यभिज्ञामार्गीय रूप में विश्वास के अतिरिक्त 'शब्द' और 'अर्थ' के स्थान पर सम्पूर्ण 'वाक्य' से 'काव्य' की परिभाषा करना अकारण नहीं है। 'रस रूप' आत्मतत्त्व का आधान ही अभिप्रेत है। कवि द्वारा निर्मित 'रसात्मक वाक्य' अदोषता सगुणता तथा औचित्यपूर्ण अलंकार-योजना तथा रीति से युक्त होते हैं।[2]

१- ध्वन्यालोक लोचन - अभिनवगुप्त - (२, ६)
डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा हिन्दी काव्यप्रकाश में उद्धृत- पृ० ३८५ ।

२- दोषाः रसापकर्षकाः उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्कार रीतयः ।
काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत् . . .
अलंकार कटक कुण्डलादिवत् ।
साहित्यदर्पण - विश्वनाथ कविराज - (१-३)

इसी क्रम में आगे जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि की स्थापनाओं से भी अलंकार की महत्ता घटती ही गई । चन्द्रालोककार ने मम्मट के 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती' के विरुद्ध यह व्यंग्य किया कि 'असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती' (तो यह ही क्यों नहीं मानते कि अग्नि उष्णता रहित होती है) । इसी प्रकार केशव ने भी हिन्दी रीति शास्त्र में 'भूषन बिन न बिराजई' की स्थापना की जबकि जयदेव केवल 'बिराजई' ही नहीं अपितु अलंकार को कविता का 'स्थिर अविभाज्य' गुण मानते हैं अग्नि की उष्णता की तरह पण्डितराज की 'रमणीयता' के साथ ही उनकी परिभाषा में पुनः वाक्य के स्थान पर 'शब्द' का प्रयोग नवता एवं मान्यतागत परिवर्तन का सूचक है । इन्होंने 'रस गंगाधर' में शिव द्वारा गंगा को धारण किये जाने की तरह रस रूपी गंगा को धारण करने वाला रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है । 'रसात्मक' (विश्वनाथ) तथा रमणीयार्थ प्रतिपादक' में 'रमणीय' के साथ 'अर्थ' प्रतिपादक के साथ शब्द कथन प्रतिपादक' व्यक्त रूप है तथा रमणीयता निहित तत्वार्थ है जो 'अर्थ' में निहित है । 'रमणीयता' की व्याख्या में 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता' का प्रयोग भी ध्यातव्य है[1] ।

पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य समीक्षा में काव्य को एक कला के रूप में मान्यता दिये जाने पर इस कला के बाह्य रूप एवं सौन्दर्य के प्रतिमान रूप में अलंकार को स्वीकार किया जाता है । संस्कृत साहित्य शास्त्र में 'रस' के समानान्तर विकसित होने के कारण भामह, दण्डी एवं उद्भटादि आलंकारिकों द्वारा सौन्दर्य के अमूर्त रूप को कविता में निहित तत्व-सौन्दर्य या 'चारुता' रूप में मान्यता मिली । साहित्य शास्त्र की अध्ययन परम्परा-अनुसन्धान के समानान्तर अलंकार के अमूर्त से मूर्त रूप में स्थापित करके अलंकार तथा अलंकार्य में भेद किया जाने लगा । इस भेद स्थिति का मुख्य कारण ध्वनिवाद मत की स्थापना तथा अलंकारों को मूर्त रूप में 'कला' मानने से आया । सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक

1- रसगंगाधर - प्रथमाननम् (वृत्ति) - पण्डितराज जगन्नाथ
चौखम्बा सं० २०२७, बदरीनाथ झा - मदनमोहन झा

परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण साहित्य-शास्त्र की चिन्तनधारा में परिवर्तन हुआ तो `अलंकार मत` इससे अछूता कैसे रह सकता था ? `सौन्दर्यमलंकार ` से पृथक अलंकार को वाच्य-वाचक रूप में अस्थायी तत्व मानकर की गई परिकल्पना सम्पूर्ण अलंकार-विमर्श में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया ।

वर्तमान काल मे भी अलंकार का बाह्य सौन्दर्य रूप ही अधिक महत्व-पूर्ण है । अभिव्यंजना प्रसाधन, काव्य-भाषा की सर्जना, अभिव्यक्ति के साधन शैली विज्ञान आदि समीक्षा प्रतिमान तथा वक्रोक्ति-रीति-गुण आदि शास्त्रीय मत इस परिवृत्त में सम्मिलित किये जा सकते हैं । साहित्य-शास्त्र की पुरातन- मान्यताओं पर धर्म एवं दर्शन का प्रभाव था किन्तु आधुनिक मान्यताओं पर मनोविज्ञान एवं कला के तात्विक चिन्तन का गम्भीर प्रभाव है । पाश्चात्य समीक्षक `क्रोचे ` का `अभिव्यंजना `सम्बन्धी सिद्धान्त वाद को समीक्षा मे अलंकार मत के निकट है जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद तथा`वक्रोक्तिवाद `को निकट माना है ।

—

पद रचनाश्रित प्रतिमान रीति

संस्कृत काव्य-शास्त्र में अलंकार गुण आदि अभिव्यंजनाश्रित प्रतिमानों के क्रम में उल्लेखनीय मत रीति सिद्धान्त है जिसका प्रतिपादन आचार्य वामन के प्रसिद्ध कृति 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' की रचना के साथ हुआ। 'रीति' शब्द की नयी व्याख्या करके उसे एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वामन को है किन्तु उनसे पूर्व 'साहित्य शास्त्र' के आरम्भिक ग्रन्थ नाट्य शास्त्र में इस तत्व का संकेत 'वृत्ति' के रूप में मिलता है। यद्यपि भरतमुनि ने रीति का प्रत्यक्ष विवेचन नहीं किया है किन्तु आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली तथा उड्रमागधी प्रवृत्तियां रीति सिद्धान्त से ही सम्बन्धित हैं।[१] नाट्याचार्य ने अभिनय क्षेत्रों के अन्तर्गत 'वृत्त प्रवृत्त्य' का उल्लेख करके विभिन्न प्रदेशों की सांस्कृतिक एवं भाषागत परम्पराओं को 'प्रवृत्ति' रूप में स्वीकारा है। भरतमुनि के अनुसार 'रीति' (प्रवृत्ति) का अर्थ है सांस्कृतिक परम्पराश्रित शास्त्रीय एवं साहित्यिक रीति जो देश स्थान आदि के अनुरूप बदलती रहती है।[२]

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'बाण भट्ट' की रचना हर्षचरित में वर्णित चार प्रकार की शैलियों का सम्बन्ध भारतवर्ष की चार दिशाओं से जोड़कर इन्हें सातवीं शती में वर्तमान कहा है।[३] नवीन अर्थ, 'अग्राम्या जाति', 'अक्लिष्ट श्लेष गुण' तथा 'स्फुट रस युक्त विकटाक्षर बन्ध' आदि का एकत्र मिलना कविता का आदर्श रूप है जिसमें अर्थ-भाव सौन्दर्य, श्लेष-गुण तथा रसादि का प्रभाव मिश्रि

१- चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चोड्र मागधी ॥
- नाट्य-शास्त्र - भरतमुनि (१४, ३६)।

२- पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।
- डा० नगेन्द्र द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका से उद्धृत

३- साहित्य-शास्त्र - आचार्य बलदेव उपाध्याय

रूप से उत्तम काव्य का लक्षण है[1]। 'नवीन-भाव-सौन्दर्य' तथा 'स्फुटो रस' कविता की रसात्मकता का समर्थन है, श्लेष काव्य का स्वीकृत गुण है तथा 'विकटाक्षर बन्ध' काव्य-निर्मिति (रूप) से सम्बन्धित है। डा० 'श्लेष', 'अर्थमात्रक', 'उत्प्रेक्षा' तथा 'अक्षराडम्बर' विभिन्न क्षेत्रीय प्रयोग है जो 'काव्य शैली' के तत्कालीन रूप कहे जा सकते हैं। डा० नगेन्द्र ने उपाध्याय जी के इस मत का उल्लेख करके आगे कहा है कि बाण के समय में रीतियों का नामकरण तो नहीं हुआ था किन्तु रीति और गुणालंकार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था[2]। 'रीति' को व्यापक रूप में स्वीकार कर डा० नगेन्द्र 'बाणभट्ट' के कथन को भले ही 'रीति' सिद्धान्त का उत्स मानते हों किन्तु इसे यदि क्षेत्रीय प्रयोग या 'शैली' मान लिया जाय तो भी आचार्य वामन द्वारा प्रस्तुत 'रीति मत' की मौलिकता या व्यापकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आचार्य भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त 'प्रवृत्ति' बाण भट्ट का प्रतिपादित काव्य रूप तथा प्रभावकारी काव्य के गुण-रस-भाव आदि को रीति मत की पृष्ठभूमि में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार आचार्य भामह का वैदर्भ और गौड़ 'काव्य' भी[3] न तो सिद्धान्त रूप में रीति को कहा है जैसा कि डा० नगेन्द्र कहते हैं और न ही 'प्रादेशिकता' या वस्तुपरकता पर किया गया आघात प्रत्यक्षत रीति-सिद्धान्त में समाहित किया जा सकता है, हा इनका यह विवेचन काव्य के 'सामान्य गुणों' की कोटि में रखा जा सकता है। भामह मूलत अलंकार एवं गुण के प्रतिपादक है अत: उनका रीति-विषयक विवेचन उतना ही 'रीति-सिद्धान्त' में सम्मिलित किया जा सकता है जितना कि अलंकार और गुण। आचार्य दण्डी ने अपनी कृति काव्यादर्श में वैदर्भ एवं गौड़ीय 'काव्य मार्गों' का उल्लेख करते हुए

१- नवोऽर्थो जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रस ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥
(हर्षचरित - बाणभट्ट) सं० डा० जगन्नाथ पाठक (प्रथम १०-८)

२- भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, स० १९७४, पृ० ९४ ।

३- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०३१, पृ० ९०० ।

श्लेष, प्रसाद माधुर्यादि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा तथा वैदर्भ और 'गौडीय' मार्ग का अन्तर भी स्पष्ट किया। दण्डी ने भाघ, भामह का अनुकरण कर (भामह) 'काव्य' शब्द के प्रयोग के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करके इससे गुण की स्थिति का ही संकेत किया है[1]। इस प्रकार - पहले 'प्रवृत्ति' पुन 'काव्य'- फिर 'मार्ग' शब्द के प्रयोग रीतिविषयक अनुसन्धान एव समीक्षा की आरम्भिक अवस्था के द्योतक हो सकते हैं न कि 'ऐसा सांगोपांग' विवेचन कि इन आलंकारिकों को 'रीति' मत का प्रतिपादक माना जा सके।

शास्त्रीय प्रतिमान रूप में रीति विषयक चर्चा वामन की रचना में ही मिलती है जिसमें 'काव्य' 'अलंकार' 'गुण' 'विशिष्टता' रीति आदि की विवेचनार्थ तथा लक्षणों के निरूपण इस तरह अन्योन्याश्रित है कि किसी एक को जानने के लिए सभी तत्वों का परिचय अपेक्षित हो जाता है। उदाहरण के लिए विशिष्ट पद-रचना 'रीति' है, रीति काव्य की आत्मा है। काव्य को अलंकार-युक्त ग्रहण करना चाहिए विशिष्टता ही 'गुण' का दूसरा रूप है[2]। 'काव्यालंकार-सूत्र' के प्रथम अध्याय के 'शरीर' नाम के प्रथम अधिकरण की जिज्ञासा काव्य से आरम्भ करके आचार्य वामन ने पहले पूर्व पीठिका रूप में अलंकार के योग से काव्य को ग्राह्य कहा है। काव्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'गुण एव अलंकारों से संस्कृत (युक्त।शोभित) शब्दार्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता है[3]। 'काव्य' के लक्षण के उपरान्त उन्होंने अलंकार को भी परिभाषित किया है। 'दोषरहित' (दोष के परित्याग) तथा गुण एव अलंकार

१- अस्त्यनेको गिरा मार्ग सूक्ष्म भेद परस्परम्।
तद्‌ भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिकविस्थिता' ॥
- काव्यादर्श - दण्डी (प्रथम परिच्छेद)(१-४०)।

२-(क) विशिष्टा पद रचना रीति . (२-७) रीतिरात्मा काव्यस्य (२-६)
काव्य ग्राह्य अलंकारात्‌ (१-१) विशेषो गुणात्मा - (२-८)
हिन्दी काव्यालंकार सूत्राणि - वामन - (च० केशव भाग)

३- काव्य शब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते - (१-१) (वृत्ति)
काव्यालंकार सूत्राणि - (केशव भाग) - २०२१।

के उपादान से उत्पन्न 'सौन्दर्य' ही अलंकार है। इससे स्पष्ट है कि 'अलंकार-सौन्दर्य को व्यापक परिवेश प्रदान करके वामन ने अस्वीकृति से स्वीकृति की ओर-'दोष-हानि' को नई परिभाषा दी। 'गुणालंकार दानाभ्या' उदित काव्य का सौन्दर्य उसके शब्दार्थ में निहित है[1]। द्वितीय अध्याय के पूर्व ही दोष-गुण अलंकार प्रयोग विधि का उल्लेख करने के अनन्तर दो प्रकार के कवियों के लक्षण बताये गये हैं तथा इसी प्रकरण में उन्होंने रीति-काव्य की आत्मा, विशिष्ट पद-रचना, विशेष- 'गुण-आत्मा' कहा है। ओज, प्रसाद आदि गुण स्वभावों का उल्लेख करते हुए वामन ने गुण अलंकार 'रीति' आदि के पृथक पृथक लक्षणों द्वारा इनकी सीमाओं का अंकन भी कर दिया है। वामन कृत रीति की परिभाषा में केवल 'विशिष्टा पद रचना' वाला लक्षण पर्याप्त नहीं है जब तक कि तीनों व्याख्येय एवं पारिभाषिक तत्वों को एक साथ न ग्रहण किया जाय।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के आरम्भ से प्रवृत्ति, वृत्ति, काव्य- (प्रकार) तथा मार्ग की परिकल्पना देश, संस्कृति एवं क्षेत्रीय प्रभाव के रूप को काव्य में रेखांकित करने के लिए की गई थी। जिसमें, गौड, उड्र, पान्चाल, लाट आदि क्षेत्र या प्रदेश के ही नाम हैं। जिस प्रकार कला एवं शिल्प के लिए भरहुत,सांची, गान्धार, मथुरा, अजन्ता आदि शैलियों को एक दूसरे से पृथक करने के लिए कुछ मानकों के निर्धारण किये गये थे उसी प्रकार साहित्य शास्त्र में भी रीति की परिकल्पना क्षेत्रीय प्रभाव से चलकर अलंकार मत के प्रभाव से वाङ्मय सौन्दर्य के रेखांकन का प्रतिमान हो गई। आचार्य दण्डी ने इसीलिए कहा था कि वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं। इसी के साथ ही 'सूक्ष्म भेद परस्परम्' कथित भिन्न अभिन्न का अर्थ ध्वनित करता है[2]। 'रस' विमर्शक आचार्यों ने भी

१- स दोष गुणा लङ्कार हाना दानाभ्या - (वही) - (१-३)

२- काव्यादर्श - आचार्य दण्डी - (१-४०-४१-४२)

इति मार्ग द्वय भिन्नं तत्स्वरूप निरूपणात् ।
तद् भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता' ।।

- काव्यादर्श १- १०१ ।

इसी प्रकार 'रस' तथा उनके स्थायीभाव-अनुभाव एवं संचारियों की संख्या असंख्य मानकर भी प्रमुख ४-८,९,१० रसों का उल्लेख किया है।

रीति-भेद तथा शैली (या कलम) का अन्य नियामक व्यक्तिगत रुचि तथा साम्प्रदायिक चिन्तन भी है जिसके प्रभाव या दबाव से उत्तरवर्ती युग में शैलीगत परिवर्तन के समानान्तर 'रीति' की परिभाषा एवं लक्षण में भी अन्तर आने लगा। वामन कृत 'शब्द तथा अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद रचना का नाम रीति है'[1] के स्थान पर ध्वनिवादी आनन्द वर्धन ने रसात्मक प्रतिमानाश्रित ध्वनि सिद्धान्त के प्रकाश में 'पद संघटना रीति' कहा[2]। ध्वनिकार की इस परिभाषा के आगे 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन व्यनक्ति सा। रसादीन.... . से यह परिलक्षित होता है कि उनके समय तक रीति को स्वतंत्र प्रतिमान नहीं अपितु रस रूप सौन्दर्य का साधन' माना गया। आनन्द वर्धन ने वामन की परिभाषा में संकेतित 'पद रचना' के स्थान पर 'घटना' के पूर्व (विशिष्ट) स (सम्यक् । यथोचित) आवश्यकतानुसार निर्मिति का उल्लेख करके 'रीति' को भी रसाश्रित बना दिया। माधुर्यादि गुणों के आश्रित रहने वाली तथा रसों को अभिव्यक्त करने वाली 'असमासा', 'मध्यम समासा' तथा 'दीर्घ समासा' नामक भेद वाली संघटना रूप में पहचानी जाने वाली ध्वनि-काल की यह रीति गुणाश्रयी होने के अतिरिक्त मुख्य रूप में समास की स्थिति से जुड़ गई। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में 'प्रवृत्ति' वृत्ति तथा 'रीति' का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'प्रवृत्ति' का सम्बन्ध वेश विन्यास क्रम से है, वृत्ति का सम्बन्ध विलास से है तथा रीति का सम्बन्ध वाणी से है[4]। आचरण भेद तथा आकृति से मुख्यतः 'रीति'

१- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - (सं० १९७४)- डा० नगेन्द्र, पृ० २८

२- ध्वन्यालोक' (आनन्द वर्धन) - सं० डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल

३- भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका में डा० नगेन्द्र द्वारा (उद्धृत)

४- वेश विन्यास क्रम. प्रवृत्ति. । विलास विन्यास क्रम. वृत्ति ।
वचन विन्यास क्रम' रीतिः ।
- काव्य मीमांसा - (राजशेखर) ।

का सम्बन्ध 'करने' (करतो) से स्थापित कर राजशेखर ने अपने समय तक की अभिव्यंजना तथा नाट्यानुभूति (अभिनय) को रेखांकित करने के लिए 'रीति'-वचन विन्यास क्रमों तथा वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला है । 'ध्वनि सिद्धान्त' के आचार्यों द्वारा की गई रीति की परिभाषा में 'संघटना पर्यायवाची तत्व 'सौन्दर्य' 'गुण' तथा अलंकार से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भिन्न है । अलंकारों में सौन्दर्य स्वरूप मात्र कृत होता है । गुण में सौन्दर्य संघटना के आश्रित होता है[१]। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस विवेचन का आधार 'ध्वन्यालोक लोचन' के कथन को बनाया है । अभिनव गुप्त ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन मण्डन करते हुए जो स्थापनायें की है उसमें 'ध्वनिवाद' के प्रचार प्रसार के उपरान्त 'आत्मतत्व' रसवाद की विवेचना तथा 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रन्थों की कुछ प्रेरणा भी निहित है । 'अभिनवगुप्त' ने रस-विषय कृति नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती या शास्त्रीय ग्रन्थ तन्त्रालोक की सर्जना की है, जिनमें उनकी प्रतिभा तथा सैद्धान्तिक स्थापनायें विद्यमान है । राजशेखर के 'वचन विन्यास क्रम' को देखकर डा० नगेन्द्र ने इस परिभाषा को वामन की परिभाषा के निकट मानकर 'वचन विन्यास-क्रम' तथा 'पद-रचना' में साम्य दिखाया है[२]। 'मूलत भिन्न नहीं' तथा 'शब्दों का अन्तर' जैसे कथन तथा तुलना द्वारा उन्होंने जो समता देखी है वाङ्मय सौन्दर्यांकित अन्य प्रतिमानों में भी देखी जा सकती है, क्योंकि जीवितामृ में रीति के स्थान पर पुन 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करने के अतिरिक्त 'कवि-स्वभाव' को प्रमुखता प्रदान की गई । इनसे पहले आचार्य दण्डी भी 'मार्ग' शब्द का प्रयोग कर चुके थे । कुन्तक द्वारा निरूपित रीति 'विधि' या शैली की पर्याय हो गयी । भोजराज ने काव्य-शास्त्र (अलंकार शास्त्र) के 'मार्ग' तथा 'रीति' का अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में कहा है कि 'वैदर्भादि पद काव्य' में मार्ग कहे जाते है जबकि गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से व्युत्पन्न यह (रा)

१- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२३, पृ० १८२ ।

२- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, १९७४

रीति कही जाती है । 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की इन पंक्तियों के आधार पर 'मार्ग', 'पन्थ' तथा 'रीति' को पर्याय भी स्वीकारा जा सकता है।[1]

इसी प्रकार 'साहित्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'ध्वन्यालोक लोचन' आदि कृतियों की पृथक पृथक व्याख्याओं के आधार पर यह कहा जा सकता है - आरम्भ में अन्य मतवादों से टकराव न होने के कारण अलंकार, गुण, विशिष्टता, सौन्दर्य तथा संघटना, संस्कार की गई (पारिभाषित) कृति में 'रीति' को भी समाहित करके 'कुछ और' की सम्भावनायें देखी गई । 'दीप्ति रसत्व कान्ति' की तरह पूर्णत: परिवर्तन या क्रान्तिकारी विचारों से रीति को भी भिन्न देश-वेश काल-परिस्थिति कवि-स्वभाव प्रतिभा तथा कवि-व्यक्तित्व के अनुरूप सौन्दर्य गुण अलंकार तथा अप्रस्तुत विधानों में होने वाले परिवर्तन को 'रीति मत' में समाहित कर इसे एक प्रतिमान का दर्जा दिया गया है । 'भव्य काव्य' के चारुत्व प्रवाह के अन्तर्गत आने वाले रीति-मत का उपजीव्य अलंकार एवं गुण सिद्धान्त है । साहित्य शास्त्र के आरम्भिक काल में 'रस एवं अभिव्यक्ति' मान्यताओं के साथ वृत्ति-प्रवृत्ति-वेश एवं केश-विन्यास तथा अभिनय शैली से ऊपर उठ कर काव्य शैली या रीति के रूप में स्वीकृत इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ८ वीं ९ वीं शताब्दी के मध्य हुआ । शास्त्रीय मान्यताओं में आगम, संकोच, विस्तार, आदेश तथा विपर्यय हुआ करते हैं । प्रतिभा सम्पन्न रचनाकार की कृति में आगत 'नवता' के उद्घाटन के लिए आचार्य एवं समीक्षक द्वारा नवीन प्रतिमान का अन्वेषण तथा पूर्ववर्ती आचार्य के मत का खण्डन संस्कृत काव्यशास्त्र की 'प्रतिभा' का परिणाम रहा है । 'रीति मत' में भी काल-प्रवाह के अनुरूप नयी व्याख्याओं के अतिरिक्त पुनर्व्याख्या भी हुई है । 'रीति' को मात्र देश वेश एवं संस्कृति की संकुचित सीमा से व्यापकतर रूप देने के उद्देश्य से ही वामन ने इसे प्रदेश का प्रभाव नहीं माना । वैदर्भी रीति को सर्वगुणसम्पन्न मानकर वामन द्वारा उसे न केवल रीति का मानक कहा गया अपितु उसे गौड़ीया से श्रेष्ठतर भी कहा गया ।

रस-ध्वनि औचित्य तथा अलंकार रीति एवं वक्रोक्ति को काव्य की

---

[1] सरस्वती कण्ठाभरण - भोज (डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री द्वारा भोज कृत शृंगारप्रकाश से उद्धृत)।

परिभाषा से जोड़ना तथा उसे काव्य-की आत्मा-सौन्दर्य रूप या अभिव्यंजना में घटित करना सामान्य प्रक्रिया द्वारा सम्भव नहीं था । भारतीय साहित्य शास्त्र की इस परम्परा पर दृष्टि डालने से यह विदित होता है कि पहले काव्य को परिभाषित करने तथा उसके आस्वादन के निमित्त कुछ विशिष्टताओं का उद्घाटन किया गया और फिर परवर्ती आचार्य द्वारा उसका मण्डन, खण्डन या सूक्ष्म विवेचन हुआ है ।

सम्प्रदाय की स्थापना या पृष्ठपोषण किसी प्रतिभा-सम्पन्न आलंकारिक का उद्देश्य न होने पर भी 'काव्य-शास्त्र' विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' के अनुरूप मत-मतान्तर प्रतिमान एवं सिद्धान्तों की स्थापनायें हुई हैं या 'शास्त्र' का प्रतिपादन हुआ है ।

'रीति सिद्धान्त' के निकट आने वाला 'काव्य-तत्व' - शैली-विज्ञान भी है । 'रीति' तथा शैली के उद्भव का कारण आचार्य की प्रतिभा के अतिरिक्त देश काल एवं परिस्थितियां हुआ करती हैं । परिस्थितियों के अन्तर्गत 'साहित्यकार' की भावयित्री प्रतिभा एवं कारयित्री प्रतिभा को भी सम्मिलित मानना चाहिए । 'शैली' एवं 'रीति' अभिव्यंजना पर आधारित प्रतिमान हैं । 'शील' शब्द की व्यापकता के अनुरूप शैली में भी स्वभाव चरित्र, प्रतिभा, व्युत्पत्ति अभ्यास आदि हेतुओं को सम्मिलित किया जा सकता है किन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'रीति मत' का ही प्रतिपादन हुआ है 'शैली' का नहीं ।

पाश्चात्य समीक्षा में 'शैली' का व्यापक विवेचन हुआ है । 'प्लेटो' तथा अरस्तू ने न केवल काव्य-कला अपितु सम्पूर्ण साहित्य के सौन्दर्य शास्त्र को दृष्टि में रखकर शास्त्रीय मान्यताओं का प्रतिपादन किया है । प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में 'काव्य-भाषा' का विवेचन किया है । उन्होंने काव्य-भाषा का विवेचन करते हुए शैलियों का भी उल्लेख किया है[1] । ये काव्य-शैलियां हैं - सरल, विचित्र और मिश्र । अरस्तू ने भी काव्य-शैली का विवेचन अपने ग्रन्थ 'पोयेटिक्स' में किया है । उन्होंने 'कथ्य विषय' तथा 'काव्य-वैशिष्ट्य' का उल्लेख कर विषय प्रतिपादन की स्पष्टता पर भी विचार किया है[2] । उनके ग्रन्थ में भाषा-शैली का

१- पाश्चात्य काव्य शास्त्र - आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, [illegible], पृ० ६ ।
२- ,, ,, ,, ,, ।

विचार गद्य तथा पद्य के पृथक्करण के लिए भी हुआ है । प्लेटो की तुलना में अरस्तु ने काव्य-शैली पर विस्तार से विचार किया है । उनका ध्यान शैली की स्पष्टता की ओर भी गया है[1]। होरेस, `डायोनीसियस` तथा लौंजाइनस ने भी अपनी शास्त्रीय मान्यताओं के अन्तर्गत शैली का उल्लेख एवं विवेचन किया है । लौंजाइनस ने शैली को आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि कह कर वाल्टर पेटर के `स्टाइल इज़ मैन हिमसेल्फ` के कथन का द्वार ही खोल दिया था ।

इस प्रकार इन आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप `शैली` को पाश्चात्य समीक्षा का परम्परित एवं चर्चित तत्त्व माना जाता है । भारतीय `काव्य शास्त्र` के `रीति सिद्धान्त` की मान्यताओं की तुलना स्टाइल या शैली विज्ञान से न कर वाग्मिताशास्त्र `रहेटरिक्स` से करना अधिक उपयुक्त है । अरस्तू ने `काव्य शास्त्र` के अतिरिक्त इस काव्य तत्त्व पर भी पृथक ग्रन्थ में विचार किया है[2]। लौंजाइनस के `कृतित्व` का उद्देश्य `रहेटरिक्स` ही है जिसका उपयोग काव्य-समीक्षा के लिये भी किया जा सकता है । योरोप के काव्य-शास्त्र में `शैली` तथा रीति-विज्ञान पर विस्तृत चर्चायें हुई हैं । इन्हीं मान्यताओं के आधार पर डा०एस० के डे ने ठीक ही कहा है कि `रीति` में व्यक्ति तत्त्व का अभाव है और व्यक्ति तत्त्व शैली का मूल आधार है अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है[3] ।

एक प्रतिमान के रूप में `रीति` एक अभिव्यंजनाश्रित सिद्धान्त है जो वर्तमान समीक्षा में नव परिवर्तित रूप में पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य-सिद्धान्त के मिश्रित तत्त्व के रूप में व्यक्तित्व विश्लेषण, कवि व्यक्तित्व- `काव्य व्यक्तित्व` `काव्य-भाषा` अभिव्यंजना अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता आदि मान्यताओं में समाहित है ।

परवर्ती रसात्मक प्रतिमान `ध्वनिरस` की स्थापना

शास्त्रीय चिन्तन की परम्परा में `रस` अलंकार मतों के अतिरिक्त `ध्वनि` या `ध्वनि रस` मत महत्वपूर्ण है । जिस प्रकार `भरतमुनि` के रस तथा भरतोत्तर रस चिन्तन में मूलत अन्तर है, अलंकार के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विमर्श में अन्तर है उसी प्रकार आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित ध्वनि सिद्धान्त में भी अन्तर है किन्तु समकालीन रस दर्शन में अभिनवगुप्त की मान्यता ध्वनि-सिद्धान्त के रूप मे मान्य हो चुकी है । आचार्य आनन्द वर्द्धन ने प्रथम बार `ध्वन्यालोक` के माध्यम से `ध्वनि` की परिभाषा इस प्रकार की थी --`जो ध्वनि नामक व्यंजक शब्दार्थ रूप काव्य विशेष काव्य सामान्य की आत्मा (अर्थात् श्रेष्ठ काव्य) काव्य-मर्मज्ञ बुधों द्वारा परम्परा से निरूपित किया गया है, अन्य बुधों ने उसकी सत्ता का ही अभाव कहा है, कुछ अन्य उस ध्वनि को भक्ति या लक्षणा वृत्ति रूप कहते हैं, कुछ अन्य बुधों ने उस ध्वनि के वैशिष्ट्य को अनिर्वचनीय ही कहा है, अत काव्यानुरागी जनों के तोष के लिए हम उस ध्वनि का स्वरूप निरूपित करते हैं[1] । `काव्य की `आत्मा` ध्वनि का अर्थ डा० अम्बिका प्रसाद शुक्ल ने `काव्य अवयवों में श्रेष्ठ` (प्रतिमान) रूप में किया है । साथ ही डा० शुक्ल उपर्युक्त कथन को ध्वनि की परिभाषा न कहकर उसी अध्याय के १३वीं कारिका को परिभाषा रूप मे स्वीकार करते हैं । जहां अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है[2] ।

उपर्युक्त पूर्व परिभाषा में आगत `बुधैः समाम्नात पूर्व` की अर्थ

१- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नात पूर्व--
रस स्याभाव जगदुर परे भाक्तमाहुस्तमन्ये
केचिद् वाचा स्थितमविषये तत्त्व मू चुस्तदीयं
तेन ब्रूम सहृदय मनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।
- ध्वन्यालोक - (आनन्द वर्धन)-१-१
(सं० डा० अम्बिका प्रसाद शुक्ल- सं० १९८३)

२- यत्रार्थ, शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।
-ध्वन्यालोक - १- १३ ।

व्यंजना के अनुसार यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन (९ वीं शताब्दी) से पूर्ववर्ती आचार्य 'ध्वनि' सिद्धान्त से परिचित थे । मूलत यह सिद्धान्त व्याकरण शास्त्र के स्फोट सिद्धान्त से काव्य-शास्त्र में आया है । इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' की कारिका एवं वृत्ति भाग के रचयिता आनन्दवर्धन ही थे अथवा कारिका भाग किसी अन्य आचार्य द्वारा रचा गया और वृत्ति के रचयिता वे स्वयं थे ? यह भी एक विचारणीय विवाद रहा है । पूरे ग्रन्थ का रचयिता आनन्दवर्धन को मानने में 'ध्वनि' को प्रतिमान मानने में कोई व्यवधान नहीं है । साहित्य शास्त्र की विचार सरणि में भरत कृत रस-सिद्धान्त तथा भामह द्वारा प्रतिपादित अलंकार मत के उपरान्त ८ वीं ९ वीं शताब्दी में रस चिन्तन की परम्परा भट्ट नायक एवं अभिनवगुप्त के माध्यम से तथा गुण, रीति एवं वक्रोक्ति की स्थापनायें दण्डी, वामन एवं कुन्तक द्वारा हुई तथा दोनों धारायें समानान्तर चलती रहीं ।

आनन्द वर्धन की कृति ध्वन्यालोक की रचना के आस-पास आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' की सर्जना की थी । वक्रोक्ति मत को अलंकार दर्शन का परवर्ती रूप तथा ध्वनि सिद्धान्त को रस विमर्श का परवर्ती रूप कहा जा सकता है । समान देशकाल एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से उद्भूत दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त समानतायें भी हैं[1] । '(वक्रोक्ति) को जिस प्रकार सामान्य कथन से अलग प्रसिद्ध कथन से भिन्न अभिधा अर्थात् कथन शैली ही वक्रोक्ति है' कहा जाता है[2] उसी प्रकार आनन्दवर्धन ने भी अभिधेय तथा मूल अर्थ से भिन्न 'ध्वनि' वह अर्थ है जो 'प्रतीयमान' तथा व्यंग्य है, कहा है । ध्वनि और वक्रोक्ति का यह अन्तर क्रमश आत्मगत एवं वस्तुगत दृष्टि का अन्तर है । आनन्दवर्धन ने शब्द एवं अर्थ से पृथक प्रतीयमान व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहकर जिसे काव्य की आत्मा कहा है, आचार्य कुन्तक ने भी सामान्य कथन से भिन्न कवि-कर्म कौशलयुक्त कथन को वक्रोक्ति कहा है तथा मध्ययुगीन शास्त्रीय परम्परा का अनुपालन किया है । दोनों आचार्यों ने पूर्व प्रचलित अलंकार गुण एवं रीति मतों के आधार शब्द एवं अर्थ तथा अभिधा एवं लक्षणा का विभाव

१- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, स० १९७६, पृ० २८३

२- प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा - हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् (१-१०) ।

करके `प्रतीयमान` अर्थ तथा वक्रोक्ति शैली की स्थापना द्वारा स्थूल चिन्तन को सूक्ष्मता की ओर, सामान्य को विशेषता की ओर मोड़ कर अपनी प्रतिभा-सम्पन्नता का परिचय दिया है ।

आचार्य आनन्द वर्द्धन का ध्वनि सिद्धान्त परवर्ती रस चिन्तन का आत्मगत रूप है जिसके विकास में `रस` को `आस्वाद` रूप मानने की धारणा निहित है । भरतमुनि के रस-सिद्धान्त में `भाव` को ही रस माना गया था किन्तु अलंकारवादियों द्वारा बाह्यता पर आधारित सौन्दर्य-गुण एवं रीति मत की स्थापना से रस दृष्टि पर जो प्रहार हुआ था परवर्ती काल में ध्वनिकार द्वारा उसी के `परिहार` के लिए शब्द-अर्थ, `वाचक-वाच्य` का निषेध करते हुए `सौन्दर्य` को वस्तुगत न मानकर `विभाति लावण्य मिवाङ्गनासु`[1] कहा गया जो न तो नासिका, चिबुक, कपोल या आँख में है और न ही ग्रीवा अथवा उसके हार में, अपितु `वह चितवन कुछ और ही है, सुजान जिसके वशीभूत होते हैं`[2]। आचार्यों द्वारा स्वीकृत सामान्य अनुभूति से पृथक विशेष - व्यंजना पर आश्रित वह `ध्वनि` अभिनवगुप्त की `लोचन` व्याख्या से `ध्वनि रस` बन गई । डा० नगेन्द्र ने इस मत को `ध्वनि रस` कहा है किन्तु ध्वनिकार का मत `ध्वनि` है तथा अभिनवगुप्त का मत `रसध्वनि` । परवर्तीकाल में `साहित्य चिन्तन` के अन्तर्गत `रस` को दृष्टि में रखकर जो स्थापनायें `हृत्प्रीतिक` `अखण्ड` `प्रकाशानन्द चिन्मय`, `वेद्यान्तर स्पर्शशून्य` आदि विशेषणों के माध्यम से की गयी इन पर `ध्वनि के परवर्ती(व्यंजना)काल का विशेष प्रभाव है ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने `ध्वनिकार` के `सहृदयों द्वारा श्लाघ्य `वाच्य` और `प्रतीयमान`[3] भेदों में से `प्रतीयमान` को महत्व प्रदान कर

१- ध्वन्यालोक - सं० डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल, सं० १९८३ द्वारा उद्धृत ।

२- अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान । वह चितवनि औरै कछू -
   जेहि बस होत सुजान । - बिहारी सतसई

३- योऽर्थः सहृदय श्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः
   वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।
   -ध्वन्यालोक - आनन्द वर्द्धन - (१-२)

'ध्वन्यालोक' की इस स्थापना का समर्थन किया है :-महाकवियों की वाणी में ध्वनित प्रतीयमान अर्थ (शब्दार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न) (पुन) अन्य ही हुआ करता है। जिस प्रकार सुन्दरियों के रूप में प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त 'लावण्य' की स्थिति सबसे भिन्न किन्तु सभी अवयवों के अंग रूप में रहा करती है।[1] इसीलिए ध्वनि काव्य का अन्तर्भाव रस अलंकार गुण वृत्ति आदि में नहीं हो सकता। ध्वनिकार ने इसे विशिष्ट कोटि का काव्य कहा है। 'ध्वन्यालोक' में इसी के विवेचन के लिए कहा गया है कि 'जिस काव्य में वाच्य-अर्थ अथवा वाचक शब्द वाच्य से भिन्न अर्थ का प्रयोजन रूप से द्योतन करते हैं वह (प्रयोजन रूप व्यंग्य अर्थ की प्रधानता वाला) काव्य ध्वनि' कहलाता है।[2] 'व्यंग्य अर्थ' अथवा 'प्रतीयमान अर्थ' का सम्बन्ध सहृदयाश्रित है। इसीलिए अब तक की शास्त्रीय चिन्तनधारा में ध्वनि सिद्धान्त के अनुरूप 'सहृदय' को भावुकतायुक्त एवं रसिक हृदय होना अनिवार्य बताया गया है। रस की आत्म-निष्ठता हेतु - प्रकारान्तर से 'काव्य' की वस्तुपरता के विपरीत आत्मगत बनाने में 'रसिक हृदय' की भूमिका महत्वपूर्ण है।

शास्त्रीय प्रतिमानों के अन्तर्गत रस, अलंकार, वक्रोक्ति एवं रीति मत की तुलना में ध्वनि सिद्धान्त बहुआयामी तथा तत्रगत समीक्षा का मूलाधार है। बाह्य सौन्दर्य एवं अभिव्यंजनापरक प्रतिमानों की तुलना में 'रस' एवं ध्वनि सिद्धान्त को एक ही प्रतिमान का पूर्ववर्ती एवं परवर्ती विमर्श कहा जा सकता है। 'ध्वनि' मत के माध्यम से अभिनवगुप्त ने 'प्रतीयमान अर्थ' के समर्थन द्वारा सहृदय को महत्व प्रदान कर ध्वनि-सिद्धान्त की सूक्ष्मता एवं व्यापकता में वृद्धि की है। व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने में उसी सहृदय को समर्थ माना गया है जो प्रतिभावान हो। आचार्य अभिनवगुप्त सहृदय का अर्थ 'जिसका प्रतिभा सम्पन्न' करते हैं तथा आचार्य

१- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
- ध्वन्यालोक लोचन (अभिनवगुप्त) ४-१ ।

२- ध्वन्यालोक - (आनन्द वर्धन) १-१३
सम्पादक - डा० गणिका प्रसाद शुक्ल, सं० १९८४ द्वारा उद्धृत

३- येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय ।
तन्मयीभवन योग्यता ते हृदय संवादभाजः सहृदयाः ।

मम्मट 'प्रतिमायुप' । 'सहृदय-माध्यिय' काव्य-विमर्श की इस स्वस्थ परम्परा को प्रकारान्तरेण 'वन' की महत्वपूर्ण भूमिका कहा जा सकता है जिसे आचार्य शुक्ल आदि विचारकों ने ठीक भूमि में 'रस-दशा' का संचार कहा है[1] । 'प्रतिभा' का अर्थ 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' किया गया है तथा व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए इस प्रज्ञा (वासना) को सहृदय की साहित्यिक अभिरुचि के लिए अनिवार्य बताकर 'ध्वनिवादी' आचार्यों ने 'ज्ञाता' एवं 'भोक्ता' का समन्वय कर दिया ।

भरतमुनि ने रस को अनुकार्यगत बताया था और 'भट्ट नायक' ने उसे सहृदयाश्रित कह कर 'रस' का स्थान 'सहृदय का हृदय' बताया । अभिनवगुप्त ने उसे प्रतीयमान- 'ध्वनि' कह कर भोजराज के 'शृंगार-प्रकाश' की मान्यता के निकट ला दिया । आनन्दवर्धन की दृष्टि में सहृदय ही काव्य लक्षणों का निर्धारक होता है । सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाला एक विशिष्ट तत्व ही काव्य का लक्षण कहा जा सकता है । अभिनवगुप्त ने जिसे 'सहृदय' कहा है भोजराज ने उसे 'रसिक' कहा है । डा० राघवन की मान्यता है कि 'भोजराज' का रसिक काव्य का आस्वादयिता का मनुष्य नहीं अपितु वह कतिपय मानवीय गुणों के नाते एक विशिष्ट मनुष्य है[2] । अलंकारवाद में जो चिन्तन विशिष्ट शब्द अथवा विशिष्ट पद - 'रीति' में केन्द्रित था ध्वनिवाद में वे सारी मान्यतायें 'न कर्मेति मयेति परस्य परस्येति वा' के द्वारा 'सहृदयैकवेद्य' 'आभ्यन्तरस्पर्शी' तथा लोक से जोड़ दी गई । डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का मत है कि 'दार्शनिक व्याख्याकारों के हाथ में पड़ कर रस अभिनय पक्ष से हटकर धीरे-धीरे सहृदय पक्ष में प्रतिष्ठित हो गया और 'चमत्कार दशा' से हटकर अनुभूति-मात्र रह गया[3] ।

रसचिन्तन का पूर्ववर्ती विभावगत दृष्टिकोण अब बदलकर विभावेतर

१- चिन्तामणि - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (कविता क्या है)

२- भोज कृत शृंगार प्रकाश की भूमिका में -

उद्धृत डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री द्वारा

३- साहित्य सिद्धान्त और शोध - डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, सं० [illegible], पृ० १२ ।

हो गया तो इसकी विवेचना ध्वनिसिद्धान्त के रूप मे हुई इसीलिए ध्वनि-रसवादी चिन्तक 'मम्मट' के काव्य-प्रकाश तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण की मान्यताए 'विषयीगत' है जिसमे रस मे 'रसानुभूति' की अन्तर्यात्रा हुई है । श्रव्य काव्य के रूप मे अद्वितीय स्थापना के लिए अलकार, गुण, रीति आदि को भी अपने मे समाहित कर वस्तु ध्वनि (संघटना-गुण आदि) रस-ध्वनि (रस-भाव-अनुभाव) तथा अलकारध्वनि मे समाहित कर लिया गया । मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' मूलत रस, ध्वनि, अलकार, प्रयोजन तथा हेतुओं से सम्बन्धित ग्रन्थ है जिसे डा० सत्यव्रत सिंह ने ध्वनि-सिद्धान्त की रचना कहा है[1]। किन्तु इस कृति मे अन्य तत्वों की तुलना 'रस' का भी विवेचन होने के कारण इसे 'रसध्वनि' का ग्रन्थ मानना अधिक समीचीन होगा ।

आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे भी पूर्व प्रचलित 'ध्वनि' शब्द के दो अर्थों का उल्लेख किया गया है । (१) शब्दार्थ युगल रूप व्यंजक,(२) व्यंजना प्रधान काव्य । शब्दार्थ युगल रूप 'प्रधानभूत स्फोट रूप (व्यंग्य व्यंजकस्य शब्दस्य) अर्थात् व्याकरण शास्त्र के विद्वान् जैसे - स्फोट सिद्धान्त की सहायता से वर्णों से भिन्न स्फोट को व्यक्त करने वाले वर्णों को ध्वनि कहते है, वैसे ही साहित्यिक वाच्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की व्यंजना कराने वाले शब्दार्थ युगल रूप काव्य को ध्वनि कहते है । अन्य अर्थ - व्यंजना प्रधानता के कारण ध्वनि काव्य है । इस स्थिति मे वाच्यार्थ को व्यंग्यार्थ बना देता है । पहली स्थिति मे 'स्फोट' सिद्धान्त के समानान्तर व्यंजक शब्द का 'व्यंग्य' ही महत्वपूर्ण होता है किन्तु दूसरी स्थिति मे वाच्य-वाचक सामान्य अर्थ की तुलना मे सहृदयाश्रित व्यंजना प्रधान काव्य 'उत्तम-कोटि' का काव्य होता है[2]। मम्मट की इस मान्यता पर आनन्द वर्धन का प्रभाव उल्लेखनीय है । ध्वनिकार जहां 'सूरिभि:' शब्द का प्रयोग करते है 'काव्य प्रकाशकार' वहा 'बुधै' का प्रयोग किये है ।

'ध्वनि सिद्धान्त' की मान्यता का मुख्य उद्देश्य है 'काव्य' के

१- काव्यप्रकाश - मम्मट, सम्पादक सत्यव्रत सिंह भूमिका

२- ध्वनि सम्प्रदाय का विकास - डा० शिवनाथ पाण्डेय- [illegible], पृ० ११०

'आत्म तत्व' को महत्वपूर्ण कह कर इस तत्व के रूप में 'ध्वनि' की स्थापना तथा केन्द्रीय तत्व को परिभाषित करके उसे परिनिष्ठित रूप प्रदान करना जोकि आचार्य आनन्द वर्धन ने किया है । परवर्ती आचार्य मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' मे उन्हीं का अधिकांश अनुकरण है । 'अभिनवगुप्त' की 'लोचन' टीका ध्वन्यालोक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विवेचना है जिसमें सहृदय का अर्थ समान हृदय वाला(१) वर्णनीय तन्मयी भवन योग्यता (२) तादात्म्य समापत्ति योग्यता तथा (३) स्वहृदय संवाद भाजकता आदि करने के अतिरिक्त 'भाव' 'हृदय' 'गृहीता' 'प्रमाता' की भी दार्शनिक तथा शैवाद्वैत के अनुरूप व्याख्या की गई है।[1][2]

अभिनवगुप्त का अन्य वैशिष्ट्य ध्वनि-चिन्तन की रस-चिन्तन में समाहिति है । 'प्रतिमान' के रूप में 'ध्वनि' को 'काव्य की आत्मा' या केन्द्रीय तत्व रूप मे पुनर्स्थापित करने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है । नाट्य एवं काव्य को पृथक करके दोनों को रस दशा का अन्तर करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्द वर्धन के ध्वनिमत की दार्शनिक पृष्ठभूमि निर्मित की है । इसके अतिरिक्त अभिनव कृत 'रस विवेचन' उनके ध्वनि सिद्धान्त को गृहण करने मे महत्वपूर्ण उपादान है जिसमें 'काव्यानुभूति' तथा 'नाट्यानुभूति' की स्वायत्तता उल्लेखनीय है । अभिनवगुप्त ने 'रस दशा' की सहृदयाश्रित 'प्रतीति' का विवेचन 'अभिव्यक्तिवाद' के रूप में करके 'रस' एवं 'ध्वनिमत' का समन्वय किया है । परवर्ती साहित्य चिन्तन मे प्रतिमान रूप में जिस 'रस' की विवेचना अनुभूति-काव्यानुभूति या नाट्यानुभूति के रूप में की जाती है वह अभिनवगुप्त की ही देन है । 'काव्य या नाट्य सामग्री में उस भावन की क्षमता उसकी अभिनय कुशलता या गुणालंकार मण्डित काव्यत्व में होती है । यह उसकी व्यंजना शक्ति है। यह सामग्री भावक के चित्त से सम्बद्ध तो होती है, पर[3] यह सम्बन्ध एक प्रकार के लौकिक सम्बन्धों से रहित लोकोत्तर सम्बन्ध से जुड़ती है।'

१- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी,सं०१९८५,पृ०७०।

२- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - सं० १९८५, पृ० ३१
येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनो मुकुरे
वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदया' ।
- ध्वन्यालोकलोचन - अभिनवगुप्त

३- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी,सं० १९८५,
पृ० ३३ ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र तथा आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी को 'रसदशा' सम्बन्धी स्थापनाओं तथा 'अनुभूति' 'कल्पना', 'प्रतिभा' आदि को प्रतिमान मत अवधारणा का श्रेय अभिनवगुप्त के रस-ध्वनि सिद्धान्त को है। 'लोकमंगल की साधनावस्था' या 'कविता क्या है' की 'रस-दशा' को समझने के लिए आचार्य शुक्ल के 'मन' की भूमिका की जानकारी अभिनवगुप्त का 'सहृदय' देता है। 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा सिद्ध करने के लिए 'रस-दशा' की 'संविद् विश्रान्ति' का अभिनवगुप्त का मत समीक्षा जगत के लिए विशेष महत्व का है। 'ध्वनि सिद्धान्त' में सहृदय की भूमिका को महत्व प्रदान कर आनन्दवर्द्धन, मम्मट, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने 'लोक भूमि' एवं 'परलोक चिन्तन' की दूरी कम कर दी।

ध्वनि परवर्ती रस-विमर्श पर ध्वनि-सिद्धान्त का प्रभाव इतना व्यापक है कि विश्वनाथ कविराज की रचना 'साहित्यदर्पण' तथा पण्डितराज की कृति 'रसगंगाधर' की रसात्मक परिणति में 'लोकोत्तर आनन्द', 'रसो वै सः' 'रस्यते इति रस' की ध्वनिपरक विवेचना स्वीकार्य हो सकती है। 'रमणीयार्थ प्रतिपादक'[1] का रमणीय 'ललितोचितसन्निवेशचारु' से तुलनीय है। रमणीयता का अर्थ लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान गोचरता तथा विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द में पुनः पुनः अनुसंधान रूप धारावाहिक भावना विशेष का प्रतिपादक शब्द ही काव्य कहलाता है तथा जो रचनाकार उस शब्द के सृजन से लोकोत्तर आनन्द देते हैं वे ही कवि हैं ('रमणीयता' का आधार पण्डितराज ने भी चर्वणा वृत्ति ही कहा है)। बार-बार कविता की उन पंक्तियों का पाठ (अनुसंधान सदृश तार तम्यता) करके सहृदयजन चर्वणात्मक वृत्ति द्वारा लोकोत्तर आनन्द (अखण्ड- तथा घना) प्राप्त करते हैं। पण्डितराज की 'सामान्य' के विपरीत 'विशिष्ट' (शब्द में) 'रमणीयता' तथा 'ध्वनि सिद्धान्त' का 'प्रतीयमान' अर्थ इस दृष्टि से तुलनीय है।

१- रमणीयार्थ प्रतिपादक : शब्द काव्यम्।

- रसगंगाधर - प्रथम आनन - (चौखम्बा) २०२०।

आस्वादजन्य प्रतिमान का परवर्ती उत्कर्ष—औचित्य

'काव्य-आत्मा' सम्बन्धित वस्तुपरक आस्वादजन्य 'प्रतिमान' के रूप में रस की परवर्ती परिणति 'रसध्वनि' के इस वर्ग में क्षेमेन्द्र की स्थापना 'औचित्य' तथा कृति 'औचित्य विचार-चर्चा' उल्लेखनीय है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है कि, "अलंकरण प्रवाह में जो स्थान 'वक्रोक्ति' या 'अतिशयोक्ति' का है वही स्थान अनुभूति प्रवाह में औचित्य का है ।"[1] आचार्य क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही अलंकार एवं गुण सम्बन्धी अलंकरण प्रवाह के अभिव्यंजना सम्बन्धी प्रतिमान के विपरीत 'औचित्य' को 'रस सिद्ध काव्य' का प्राण कहते हैं[2] । 'औचित्य' प्राणों का स्थिर धर्म है जबकि गुण अलंकार शरीर की बाहरी शोभा की वस्तुएं हैं । 'सत्य' शील आदि जिस प्रकार 'आत्मा' के अंग हैं उसी प्रकार 'औचित्य' भी रसात्मक कविता का अविभाज्य अंग है । औचित्य रहित कविता अलंकार गुण आदि के रहने पर भी जीवन रहित रहती है ।

आचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि में स्थिर तथा अविनश्वर प्राण सदा औचित्य ही है । जैसा कि इसके नाम से ही ध्वनित हो रहा है कि औचित्य उचित का भाव है । उचित का अर्थ है जैसा होना चाहिए, जैसा प्रभावकारी हो, जो हृदयंगम किया जा सके । कविता में औचित्य की स्थिति इसके सभी अंग एवं उपांगों को स्थिरता प्रदान करती है । पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल आदि सभी काव्य तत्वों का प्राण या जीवित है । इनमें गुण, अलंकार, रस आदि पर काव्य-शास्त्र में विचार किया जाता है तथा कारक, लिंग, वचन, विशेषण, क्रिया, उपसर्ग, प्रत्यय आदि व्याकरण शास्त्र के विषय हैं, किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के सभी अंग तक औचित्य का विस्तार करके इस काव्य-लक्षण को अति व्याप्ति से मुक्त कर दिया ।

1- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ मिश्र, सं० २०२३, पृ० १८७ ।

2- अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा' सदा ।
औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
—औचित्य विचार चर्चा - (क्षेमेन्द्र)
वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० [illegible]

कविता की समीक्षा में प्रयुक्त शास्त्रीय प्रतिमान के रूप में औचित्य को गुण, अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति के वर्ग - अभिव्यंजना या संरचना के पक्ष में ग्रहण किया जाय या रस ध्वनि, आदि के वर्ग का जो काव्य की आत्मा से सम्बन्धित ग्रहण या भोग के तत्व हैं। जब क्षेमेन्द्र ने `जीवित्य` को दोनों वर्ग के तत्वों का निकट वर्ती कहा तो इनकी पक्षधरता के सम्बन्ध में भी निर्णय करना आवश्यक है। दूसरा विचारणीय बिन्दु है औचित्य तथा रस के सम्बन्ध का तथा इसी से मिलता-जुलता अन्य प्रश्न है कि औचित्य-जीवित अर्थात् जीवन है या आत्मा।

डा० राघवन ने क्षेमेन्द्र के इस मत के सम्बन्ध में विचार करते हुए इसे जीवित कहा है तथा आत्मा का स्थान रस को दिया है। अर्थात् शब्दार्थ शरीर, आत्मा, रस, प्राण या `जीवित` है औचित्य। रस यदि काव्य की `आत्मा` से पृथक मान लिया जाय तो वक्रोक्ति को भी `जीवित` मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी? जबकि वक्रोक्ति मत को सभी आचार्यों एवं व्याख्याताओं ने अभिव्यंजनापरक रूपाश्रित प्रतिमान की कोटि में रखा है तथा गुण, अलंकार रीति की परम्परा का परवर्ती रूप स्वीकार किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्वयं `जीवित` शब्द का प्रयोग किया है जिसको डा० राममूर्ति त्रिपाठी `आत्मा` से पृथक नहीं मानते। डा० त्रिपाठी आचार्यों के कथन `रीतिरात्मा काव्यस्य` `विशेषो गुणात्मा`, `वक्रोक्ति काव्य जीवितम्` काव्यस्यात्मा ध्वनि` के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि `आत्मा` तथा `जीवित` में भेद नहीं मानना चाहिए[1]।

अगला विषय है-औचित्य और रस के परस्पर सम्बन्ध का। क्षेमेन्द्र ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि `आचार्य गण सदा से कहते आये हैं कि जो जिसके अनुरूप है, वही उचित है और इसी उचित का भाव औचित्य है।`[2] उन्होंने यह भी कहा है कि अलंकार बाह्य शोभा कारक ही है, गुण-युक्त तत्व ओज आदि

---

(1) राममूर्ति त्रिपाठी सं० पृ०

(2) औचित्यविचार-चर्चा (क्षमेन्द्र)

की तरह गुण ही है औचित्य ही स्थिर अविनश्वर जीवित है बिना इसके काव्य निर्जीव है । बिना इसके (तेन बिना) = निर्जीवम् `को यदि सीधे सम्बन्धित माना जाय तो तेन = जीवितम् हो जाता है । उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि रस सिद्ध काव्य का `जीवित` औचित्य है । इस कथन मे `रस` की महत्ता कम नही कही गई है, क्योंकि[1] ध्वनिवादियों ने इतनी सबल `पृष्ठभूमि` में `ध्वनि` के साथ ही `रस` को काव्य की आत्मा कहा चुके थे। क्षेमेन्द्र ने `ध्वनि` तथा `वक्रोक्ति` मत के उपरान्त औचित्य मत की स्थापना के साथ रस को काव्य का जीवित तथा औचित्य को `रस` का जीवित अर्थात् औचित्य `रस` ( काव्य तत्व ) का भी तत्व है । इस प्रकार `औचित्य` `आत्मपक्ष` से विचार करने पर एक आत्मवादी प्रतिमान है जिसे डा० राम मूर्ति त्रिपाठी ने आलोचना पक्ष का कहा है ।[2]

अभिव्यंजना परक परवर्ती प्रतिमान वक्रोक्ति

वाचकता पर आधारित शास्त्रीय प्रतिमानों के क्रम में वक्रोक्ति मत परवर्ती सूक्ष्म चिन्तन की देन है । एक समग्र प्रतिमान के रूप में इस मत का प्रतिपादन आचार्य कुन्तक की रचना 'वक्रोक्ति जीवितम्' (१०वीं शताब्दी) से माना जाता है[1]। साहित्य शास्त्र के परवर्ती काल में सूक्ष्म चिन्तन तथा समन्वय के परिणाम रूप में प्रतिपादित इस मत का श्रेय 'रसध्वनि' को है । आचार्य आनन्द वर्द्धन के 'प्रतीयमान अर्थ' एवं 'व्यंग्य व्यंजक भावाश्रित प्रतिमान' 'ध्वनिमत' की प्रतिक्रिया वक्रोक्ति मत में देखी जा सकती है । ध्वनिमत के खण्डन तथा अभिव्यंजनाश्रित सौन्दर्य की पुन प्रतिष्ठा के लिए प्रतिपादित इस मत में एक ओर भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट आदि अलंकार, गुण एवं रीतिवादी आचार्यों की परम्परा है तो दूसरी ओर आनन्द वर्द्धन, मम्मट एवं अभिनवगुप्त द्वारा समर्थित 'रसध्वनि' मत की सूक्ष्म विवेचना एवं खण्डन भी ।

साहित्य शास्त्र में प्रतिपादित 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' भले ही नवीन हो किन्तु 'वक्रोक्ति' का प्रयोग 'अलंकृति', 'अतिशयोक्ति' या 'वक्राभिधेय शब्दोक्ति' के अर्थ में कुन्तक से पूर्व भी मिलता है । बाणभट्ट की रचना 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' में क्रमश 'वक्रोक्ति निपुणेन आख्यायिकाख्यान परिचय चतुरेण' एवं 'श्लेषो क्लिष्ट स्फुटो रस' ' रूप में किया गया है[2]। 'राघवपाण्डवीयम्' नामक काव्य-कृति में सुबन्धु, बाणभट्ट तथा कविराज नाम के तीन कृतिकारों को 'वक्रोक्ति' में निपुण कह कर इनकी प्रशस्ति की गयी है । आचार्य भामह ने 'वक्रोक्ति' को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति' कहा है[3]। इनके अनुसार 'शब्द-वक्रता' तथा 'अर्थवक्रता' का समन्वित रूप वक्रोक्ति है[4]। 'वक्राभिधेय शब्दोक्ति' 'वक्रार्थ शब्दोक्ति' प्रयोगों से यह

1- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संस्क० २०२३, पृ० १६०

2- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, संस्करण १९७४, पृ० १३६ पर उद्धृत ।

3- काव्यालंकार - भामह, १-३६ (सं० आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा) ।

4- 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते' - काव्यालंकार - भामह - २-८५ (सं० आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा) ।

परिलक्षित होता है कि भामह ने `वक्रोक्ति` तत्व, शब्द एवं अर्थ में व्याप्त माना है। `शब्दवक्रता` एवं `अर्थवक्रता` का समन्वित रूप `वक्रोक्ति` कहकर उन्होंने अन्य स्थल पर काव्यालंकार में ही `लोकातिक्रान्तगोचरम्`, `अतिशयोक्ति`, `तामलंकारतया`[1] द्वारा यह स्पष्ट किया है कि `गुण के अतिशय का योग अतिशयोक्ति है जो `लोकातिक्रान्तगोचरता` द्वारा वाणी में अलंकारता के लिये लाई जाती है। `वक्रोक्ति इसी `अतिशयोक्ति` का पर्याय है[2] जिसका अर्थ होता है लोकोत्तर या असाधारण-चमत्कारपूर्ण प्रयोग। भामह ने `वक्रोक्ति` की व्यापकता को स्वीकार कर काव्य का समस्त सौन्दर्य इसी के आश्रित कहा है। जहां वक्रता नहीं है वहां अलंकारत्व नहीं है। शब्द और अर्थगत वक्रता का प्रयोजन होता है चारुत्व युक्त अभिव्यक्ति द्वारा `वैचित्र्य` का प्रतिपादन जिसे `काव्यशास्त्र` में विच्छित्ति या रमणीयता भी कहा जा सकता है।

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने `वाङ्मय` के `स्वभावोक्ति` तथा `वक्रोक्ति` (दो) भेद करते हुए शास्त्र तथा आख्यान को `स्वभावोक्ति` तथा `काव्य` को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना। डा० राममूर्ति त्रिपाठी की मान्यता है कि `इसका आशय यह नहीं है कि काव्य में `स्वभावोक्ति` होती ही नहीं। निश्चय ही उनकी ( दण्डी की ) दृष्टि में शास्त्रीय `स्वभावाख्यान` असुन्दर तथा काव्यनिष्ठ स्वभावाख्यान` सुन्दर होता है[3]। निष्कर्षतः आचार्य दण्डी `काव्य` में स्वभावोक्ति को अभीष्ट मानकर भी `वक्रोक्ति` को स्वभावोक्ति से व्यापकतर, चमत्कृति-युक्त तथा `अलंकृति` के पर्याय रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु भामह की तुलना में `दण्डी` की दृष्टि किंचित् संकुचित है। इनके विपरीत `आनन्दवर्धन`

१- निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥
— काव्यालंकार - भामह, २-८१

२- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९७४, पृ० ११९

३- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९८१, पृ० ४२।

को वक्रोक्ति मानकर 'दण्डी' भामह के निकट तक पहुंच जाते हैं । उपमादि अर्थालंकार तथा श्लेषादि शब्दालंकारों को भी वक्रोक्ति की सीमा में रखकर दण्डी ने समस्त अलंकारों का आधार अतिशयोक्ति बताया है । 'लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा' 'विवक्षा या विशेषस्य लोक सीमातिवर्तिनी' में निहित 'लोकोत्तर कथन की इच्छा' 'अतिशयोक्ति' एवं 'वक्रोक्ति' एक दूसरे के निकट आकर भामह और दण्डी की स्थापनाओं में समानता का द्योतन कराती हैं । डा० नगेन्द्र ने भामह और दण्डी के 'वक्रोक्तिमत' सम्बन्धी स्वीकृति का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'भामह स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति की परिधि के भीतर मानते हैं, परन्तु दण्डी के अनुसार दोनों भिन्न हैं ।'[1] आचार्य दण्डी के अनुसार 'स्वभावोक्ति' वक्रोक्ति से पृथक तथा कम महत्त्वपूर्ण है ।[2]

आचार्य वामन के अनुसार लक्षणा के बहुविध निबन्धों में 'सादृश्य निबन्धना लक्षणा' वक्रोक्ति कही जाती है । 'निबन्धना' लक्षणा के असादृश्य को उन्होंने 'वक्रोक्ति' नहीं माना है ।[3] 'विशिष्टा' को 'वक्रता' के निकट देखते हुए डा० नगेन्द्र 'रीति' एवं 'वक्रोक्ति मत' में 'समानता' स्थापित करते हैं,[4] किन्तु जैसी सूक्ष्म मति एवं विकट प्रतिभा 'कुन्तक' की रही है वैसी पूर्व-परवर्ती आचार्यों में विरल है । वामन ने वक्रोक्ति को अलंकार समूह का पर्याय न मानकर 'अर्थालंकार' की कोटि में रखा । आचार्य वामन की 'सादृश्य लक्षणा' सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यता आचार्य 'दण्डी' तथा आनन्द वर्द्धन की मान्यताओं के बीच की कड़ी हो सकती है । 'लक्षणा-अभिधा से भिन्न होने के कारण 'वक्रता' से किंचित युक्त होती है । आचार्य वामन विशिष्ट पद रचना को 'रीति' कहकर 'विशिष्ट' को शब्दगुणों से युक्त बताते हैं । आचार्य कुन्तक 'वक्रता' के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत शब्द-गुणों को भी समाहित करते हैं । अन्य आलंकारियों ने भी वक्रोक्ति का उल्लेख किया है

1- भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९७६, पृ० १४२

2- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, १९८१,पृ०७० ।

3- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति - काव्यालंकारसूत्र - (वामन) -४-३-८ -

4- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९७६, पृ० १४२ ।

किन्तु उनकी दृष्टि में इसका संकुचित रूप `अलंकार विशेष` ही है । आचार्य रुद्रट ने `वक्रोक्ति` को केवल `शब्दालंकारों` की कोटि का एक अलंकार बताकर उसके दो भेद `काकु` तथा `श्लेष वक्रोक्ति` किये[1]। आचार्य आनन्द वर्धन ने `वक्रोक्ति` को `अर्थालंकार` के अन्तर्गत समाहित किया तथा `रुय्यक` भी इसे अर्थालंकार ही मानते हैं[2]। `शृंगारप्रकाश` के रचयिता भोज के अनुसार `वक्रोक्ति` उपमादि अर्थ प्रधान अलंकारों की श्रेणी का एक अलंकार है[3]। इस प्रकार भामह, दण्डी, वामन आदि के समय तक अलंकारों के व्यापक रूप `अतिशयोक्ति` तथा वक्रोक्ति समानार्थी रहे हैं। प्रतिमानगत अवधारणा के सन्दर्भ में `रुद्रट` भोजराज, मम्मट एवं आनन्द वर्धन का अलंकार, रस तथा `ध्वनि` सम्बन्धी स्थापनाओं के दबाव से वक्रोक्ति का क्षेत्र सीमित होकर `शब्दालंकार` अथवा `अर्थालंकार` रूप में ही रह गया। अलंकार मत के संस्थापक एवं समर्थक आचार्यों की दृष्टि में अलंकार काव्य का स्वरूपदायक तत्व होने के कारण व्यापक अर्थ धारण करता था किन्तु `वक्रोक्ति` मत की स्थापना के पूर्व `ध्वनि` मत के बाद `अलंकार-अलंकार्य` में भेद किये जाने तथा `वाच्य`-`वाचक` आदि की विवेचना से चारुतापरक प्रतिमान अलंकार मात्र अपवादि बाहुबद्ध की तरह स्वीकारा जा रहा था अतः `वक्रोक्ति जीवितम्` की सर्जना द्वारा आचार्य कुन्तक ने `चारुता` को `वक्रता` रूप में स्थापित कर इसे काव्य का जीवन कहा[4]। "अभि-व्यक्तिगत प्रतिमानों की श्रेणी में `वक्रोक्ति` अलंकार से परवर्ती होने पर भी अधिक

१- वक्रोक्ता उक्ति -(भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत, सं० १९७६, पृ० १४४)।
तथा भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, १९८५, पृ० ६२ ।

२-(क) तत्र वक्रोक्त्या दिवाच्यालंकार व्यवहार एव - ध्वन्यालोक - २-२१
(ख) अलंकार सर्वस्व - रुय्यक

३- शृंगारप्रकाश - भोज - (एक अध्ययन) : डा० वी० डी० अग्निहोत्री १९८१ भूमिका में डा० राघवन के मत का उल्लेख ।

४- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२३, पृ० १७७ ।

सूक्ष्म तथा दार्शनिक विवेचन की अपेक्षा से युक्त है । कुन्तक की प्रतिभा के योग में इसे स्वतन्त्र-प्रतिमान रूप में स्थापित होने का अवसर मिला तथा अलंकार, लक्षणा, व्यंजना, आदि का तत्व `वक्रोक्ति` में समाहित किया गया[1] । एक प्रतिमान रूप में स्वीकृत ध्वनिमत के समानान्तर वक्रोक्ति मत का प्रतिपादन प्रकारान्तर से सर्जक या रचनाकार के महत्व का अभ्युदय है । `रुय्यक` के टीकाकार समुद्र बन्ध ने धर्ममुख, व्यापार मुख तथा व्यंग्य मुख के वर्गीकरण द्वारा भामह, रुद्रटादि आलंकारिकों को तथा उनके अलंकार, गुण एवं रीति मत को धर्म मुख में स्थान दिया, `व्यापार मुख` के अन्तर्गत वक्रोक्ति एवं भुक्तिवाद को स्थान दिया गया तथा व्यंग्य मुख के अन्तर्गत ध्वनि सिद्धान्त को मान्यता मिली[2] । इन तीनों कोटियों का केन्द्र `शब्दार्थ का सहित रूप काव्य` है । भामहादि आलंकारिकों के मत की सूक्ष्म विवेचना करते हुए समुद्रबन्ध, म० म० कुप्पू स्वामी तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उस परम्परा के अनुपालन में `भणिति वैचित्र्य` के प्रतिपादक `वक्रोक्ति जीवितकार` कुन्तक को महत्व प्रदान किया[3] । डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने `चारुत्व प्रवाह` के अन्तर्गत आने वाले प्रतिमानों में `कवि या सर्जक` पक्ष से अलंकार- रीति एवं `गुण-धर्म` सम्बन्धित मतों का परवर्ती विकास `वक्रोक्ति मत` रूप में स्वीकार किया है[4] । इस समन्वय के क्रम में गृहीता-सहृदय को महत्वपूर्ण मानकर ध्वनि मत के प्रतिपादक आनन्द वर्द्धन, मम्मट, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों को भी समान महत्व दिया गया है । सहृदय या भोक्ता की अन्य भूमिका रस निष्पत्ति के भुक्ति एवं अभिव्यक्तिवाद में महत्वपूर्ण है । इस प्रकार `शब्दार्थ वैशिष्ट्य` की काव्यगत `चारुता` की स्थापना के लिए आने वाले ग्रन्थ `वक्रोक्ति जीवितम्` में `वक्रोक्ति` को आत्मा कहकर उसे `ध्वनि` में समाहित करने तथा `अनुभूति प्रवाह` में जोड़ने के अतिरिक्त प्रायः `वक्रोक्ति` को `औचित्य` का समानार्थी मानने वाले डा० राघवन की स्थापना में

१- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२३, पृ० १७३

२- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२३, पृ० १४३ पर उद्धृत।

३- वही वही (समुद्रबंध का उद्धरण) ।

४- काव्यालंकार सार संग्रह एवं लघु वृत्ति की व्याख्या - सं० डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९६६ (भूमिका), (पृ० ३) ।

परिवर्तन का डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने कहा है कि "विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'दृष्टान्त' में भले ही आत्मा और वक्रोक्ति भिन्नार्थक हों पर काव्य में दोनों शब्द समानार्थक हो सम्भव है। काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में आत्मा शब्द का आशय सारसत्ता ही है जो 'वक्रोक्ति' का भी अभिप्रेत है[1]। डा० अम्बिका प्रसाद शुक्ल ने भी 'आत्मा' शब्द को समाज प्रचलित सन्दर्भ में स्वीकार कर, 'आत्मा' का अर्थ 'प्राण' न कह कर 'महत्वपूर्ण' या सारयुक्त किया है[2]।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के माध्यम से सर्जक या कवि को महत्व देते हुए कवि-कर्म को 'काव्य' की संज्ञा प्रदान करना तथा 'रसात्मक वाक्य' चारुता युक्त शब्दार्थ तथा 'साहित्य' की दृष्टि से साहित्यकार का महत्व 'कवि व्यक्तित्व' के सहारे 'काव्य व्यक्तित्व' तथा 'काव्य व्यक्तित्व' के सहारे 'कवि व्यक्तित्व' की महत्ता का प्रतिपादन है। मात्र सहृदय ग्रहीता या प्रेक्षक को भारतीय साहित्य शास्त्र में महत्व दिये जाने पर भी परवर्ती युग में 'सहृदय' तथा 'कवि' की प्रमुखता एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त में सर्जक की 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' का महत्व उल्लेखनीय है। कहना न होगा कि 'ध्वनि सिद्धान्त का सहृदय' तथा वक्रोक्ति मत का कवि-सर्जक सत्साहित्य में जब समान भावभूमि पर आते हैं तभी 'अनुभूति' और 'अभि-व्यक्ति' का समान महत्व होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने रससिद्धान्त की अभिव्यक्तिवादी व्याख्या तथा ध्वनिसिद्धान्त की 'सहृदयाश्रित' समीक्षा द्वारा जो समन्वय स्थापित किया था उसकी स्पष्ट परिणति 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' में देखी जा सकती है।

आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति मत के प्रतिपादन काल तक ध्वनि एवं रसवाद की सूक्ष्म व्याख्यायें हो चुकी थीं जिसका आधार परम्परा रूप में उन्होंने लिया है[3]। अलंकार एवं 'अलंकार्य' के विभाजन के साथ रसगुण कर्म को अलंकार्य (भाव एवं अनुभूति)

१- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राम मूर्ति त्रिपाठी, सं० १९८५

२- ध्वन्यालोक (आनन्द वर्धन) सं० डा० अम्बिका प्रसाद शुक्ल, १९७७ (भूमिका)

३- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९७६, पृ० १११।

माना जा चुका था जिसे उन्होंने अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ 'शब्दार्थ' को केन्द्र में रख कर समाहित एवं समन्वित किया।[1] वे कहते हैं कि जो 'स्वभावोक्ति' को अलंकार मानते हैं उनसे पूछना है कि आपके पास अब 'अलंकार्य' क्या है। शरीर ही (यदि) अलंकार है तो गहने किसे पहनाये जायेंगे। स्वयं अपने कंधे पर कोई सवार नहीं हो सकता।[2]

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में अन्य आचार्यों की तरह कुन्तक ने भी काव्य की परिभाषा लक्षण तथा उसी परिभाषा के माध्यम से वक्रोक्ति की वक्रता को 'सालंकारस्य काव्यता' कहकर अपनी तार्किक क्षमता एवं प्रतिभा का परिचय दिया है। काव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ -- 'कवेः कर्मः काव्य' करके उन्होंने स्पष्ट किया कि अलंकारयुक्त अवयव रहित सम्पूर्ण कवि-कर्मत्व ही काव्य है।' इस कथन मे अलंकरण को ही काव्यत्व (कवि कर्म) मानते हुए अलंकार को काव्य का स्वरूप धायक भी कहा गया। 'शब्द और अर्थ', 'वाचक और वाच्य' तथा 'अलंकार एवं अलंकार्य' को सापेक्ष मानकर ही 'वक्रोक्ति जीवित-कार' ने काव्य का स्पष्ट लक्षण बताया है -- '(वाचक) शब्द और (वाच्य) अर्थ दोनो मिलकर काव्य है, जो काव्य मर्मज्ञों को आह्लादित करने वाली यही कवि-व्यापार (अवस्था) युक्त रचना है।'[3] 'वक्रोक्ति जीवितम्' की स्थापना के अनुसार साहित्य शब्द का अर्थ है - शब्द और अर्थ का पूर्ण सामञ्जस्य। 'शब्द' और 'अर्थ' तत्व के प्रति कुन्तक की तटस्थता 'पूर्णसामञ्जस्य' में निहित है। शब्द सामर्थ्य(वक्रता) के अभाव मे अर्थ का (अभिव्यक्ति) निर्जीव लगता है अथवा अभिव्यक्ति के लिए काव्योपयोगी अर्थ के

१- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, १९८५, पृ० ६६

२- अलंकार कृता येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः। अलंकार्यतया तेषां किमन्यदव तिष्ठते। शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्। आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहतीति।

वक्रोक्ति जीवितम् - कुन्तक

वाङ्मय विमर्श में पृ० १७५ पर आ०वि०प्र०मिश्र द्वारा उद्धृत

३- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि॥

- वक्रोक्ति जीवितम् (१-७)

अभाव में अन्य अर्थ का वाचक होकर शब्द भी काव्य के लिए भार बन जाता है । इस प्रकार `साहित्य` के इस विवेचन मे `वाचक-वाच्य` का सामान्य सहभाव नही अपितु विशिष्ट सह भाव है । यह विशिष्टता ही वामन द्वारा कथित `रीति` से भी व्यापक, विशिष्ट-सहभाव युक्त है । गुणालंकार सम्पदा से युक्त एवं सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार को यहा व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है । काव्य लक्षण मे आगत `तद्विदाह्लादकारिणि` का अर्थ है उस काव्य के जानकार (मर्मज्ञ) को आह्लादित (आनन्द उत्पन्न) करने में समर्थ वक्रता ही काव्य का जीवित-सार-तत्व है । `बन्धे` तथा `व्यवस्थितौ` का प्रयोग भी विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है ।

पूर्व अलंकारवादियों की मान्यता से भिन्न कुन्तक के `वक्रोक्तिवाद` का मुख्य प्रतिपाद्य `काव्य-भाषा` है जिसे उन्होंने (इस प्रकार विचार किया) `लोकोत्तर आह्लाद की वैचित्र्याश्रित सिद्धि के लिए काव्य के इस अलंकार ( वक्रोक्ति ) क्या किसी ने पहले उद्घाटित किया है[1] ` लोकोत्तर आह्लादकारिता काव्य-भाषा का लक्ष्य होने से स्वाभाविक है । लोकोत्तराह्लाद समर्थ होने से काव्य-भाषा का सामान्य-भाषा से प्रस्थान भेद है । काव्य-भाषा में वह समर्थता कवि-व्यापार स्वरूप वक्रता है ।[2] डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने आचार्य कुन्तक की वक्रता को रेखांकित करते हुए इसे व्यापक भूमिका में स्वीकार करते हैं । डा० त्रिपाठी ने कुन्तक की वक्रता मे `ध्वनि` के `दाय` का संकेत किया है । परवर्ती समीक्षा मे अभिव्यंजनावाद की चर्चा तथा अभिव्यंजनागत प्रतिमान के रूप मे `भाषा और संवेदना`कार डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की स्थापनाओं पर भी कुन्तक की इस स्थापना के माध्यम से प्रकाश डाला जा सकता है । इटली के प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी क्रोचे की मान्यता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का विलायती संस्करण कहा है । डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० गुलाबराय, डा० राममूर्ति त्रिपाठी तथा अन्य हिन्दी समीक्षकों ने विभिन्न

१- लोकोत्तराह्लाद कारिवैचित्र्यसिद्धये
काव्यस्यायमलंकार: कोऽप्यपूर्वो विधीयते - वक्रोक्ति जीवितम् (कुन्तक)
भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज-डा०राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा उद्धृत,पृ० [illegible]

२- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० [illegible],
पृ० [illegible] ।

सन्दर्भों में `क्रोचे` के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्तिवाद की तुलना की है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भारतीय परम्परा में न खप सकने वाला, असंगत तथा शुक्ल जी के कथन को आप्तोक्ति कहा है[1] ।

डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने `वक्रोक्ति जीवितम्` में आगत `स्पन्द` शब्द की दार्शनिक पृष्ठभूमि को ग्रहण करते हुए कुन्तक के इस मत में `शैवाद्वैत दर्शन` की अविस्मरणीय भूमिका का संकेत करते हैं[2] । डा० त्रिपाठी ने `सामान्य स्पन्द` तथा `विशेष स्पन्द` के सहारे काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए विभिन्न स्थलों पर कुन्तक द्वारा प्रयुक्त इस शब्द की विशद्[3] विवेचना द्वारा वक्रोक्ति मत के विभिन्न अनुद्घाटित तत्वों को उद्घाटित करते हैं । सूत्र की वृत्ति का उल्लेख करने के साथ ही उन्होंने लिखा है कि `वास्तव में कुन्तक कश्मीरी आलंकारिक हैं और शैव दर्शन ( त्रिक दर्शन या स्पन्द दर्शन ) से परिचित हैं । परिचित ही नहीं- `वक्रोक्ति जीवित` के मूल में वही दृष्टि अन्तर्निहित है ।[4] निश्चय ही डा० त्रिपाठी की इस स्थापना में पर्याप्त सम्भावनाये हैं जिनके सहारे न केवल कुन्तक के बाद अपितु छायावादी कविता में विशेषकर प्रसाद की रचना कामायनी के आनन्दवाद-कश्मीरी शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) की पुनर्व्याख्या की जा सकती है जिसकी ओर छायावाद के अध्येताओं ने संकेत किये हैं ।

एक शास्त्रीय प्रतिमान के रूप में आचार्य कुन्तक की `वक्रोक्ति` की यह स्थापना निश्चय ही `कवि-प्रतिभा`, `स्पन्द`, `काव्य-भाषा`, `काव्य-चमत्कार`, `अपरिम्लान, प्रत्यय परिपोष पेशल` व `स्वभाव` आदि नवीन स्थापनाओं के लिए चिरस्मरणीय तथा अनुचिन्तनीय है । आज जबकि समीक्षा-जगत में पूर्व एवं

१- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२३, पृ० २१६

२- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं० १९८५, पृ० ७७-७९ ।

३- `अर्थ, सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्द सुन्दर:` (वक्रोक्ति जीवितम्) डा० त्रिपाठी द्वारा उद्धृत

४- भारतीय काव्य-शास्त्र के नये क्षितिज - डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ८८ ।

पश्चिम का शास्त्रीय मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रतिमानों का सहारा लिया जा रहा हो तथा 'रस-चिन्तन' पर मनोहर काळे आदि द्वारा प्रश्न-वाचक चिन्ह लगाये जाते हों तथा 'संस्कृत काव्य-शास्त्र' को आज की समीक्षा-आलोचना में दूर का माना जाता हो तब इस 'वक्रोक्ति मत' की प्रासंगिकता और भी महत्वपूर्ण हो जाती है । चारुता पर आधारित अभिव्यंजनागत प्रतिमान जिसका सम्बन्ध सौन्दर्य-शास्त्र से है तथा जिस सौन्दर्यशास्त्र की व्यापकता में सम्पूर्ण-कलागत समीक्षा के साथ काव्य-शास्त्र तथा समीक्षा की भी सम्भावनायें विद्यमान हों उसके साथ कुन्तक के इस वक्रताश्रित 'सौन्दर्य-शास्त्र' पर भी दृष्टि डालना अनिवार्य है ।

--

सौन्दर्य शास्त्र की पाश्चात्य परम्परा तथा शास्त्रीय प्रतिमान

पाश्चात्य समीक्षा का शास्त्रीय चिन्तन रोमीय एवं यूनानी आचार्यों से आरम्भ हुआ माना जाता है। यूनान के आचार्य प्लेटो (४२७ ई०-३२७ ई०) उनके गुरु सुकरात और शिष्य अरस्तू का क्रमिक चिन्तन काव्यकला, त्रासदी एवं अन्य ललितकलाओं के प्रभाव से ग्रहण किये जाने वाले आनन्द-सुख विवेचन आदि से सम्बन्धित है। भारतीय साहित्य शास्त्र की तुलना में पाश्चात्य समीक्षा समृद्ध न होने पर भी पाश्चात्य चिन्तकों की परम्परा एवं तत्वान्वेषिणी दृष्टि इतनी व्यवस्थित रही है कि अधिकांश कृतियों के न प्राप्त होने पर भी उनके मतों एवं सिद्धान्तों की चर्चा के विश्लेषण से ये अभाव पूरे हो गये हैं[1]।

प्लेटो ने काव्यशास्त्र पर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ न लिखकर, 'रिपब्लिक', 'इयोन', 'क्रातिलुस', 'गोर्गियास', 'सिम्पोज़ियम' आदि में साहित्य कला एवं नाटक आदि पर विचार किये हैं। अपने गुरु सुकरात के बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से पूर्णतः प्रभावित प्लेटो का साहित्य-शास्त्रीय चिन्तन मुख्यतः दर्शन, नीतिशास्त्र, इतिहास तथा आदर्श राज्य की परिकल्पना से सम्बद्ध है। एथेंस की पराजय तथा सुकरात का मृत्युदण्ड ऐसी प्रमुख घटनाएं हैं जिन्होंने 'प्लेटो' को दार्शनिक विषय पर गहन चिन्तन करने के लिए विवश किया। सुकरात द्वारा दी गई शिक्षा एवं संस्कार के प्रभाव से प्लेटो ने आदर्श समाज की कल्पना के कारण साहित्य कला एवं त्रासदी को अनुकरण का अनुकरण कह कर इसे प्रत्यक्ष जगत के सत्य से त्रिधा-पेत्य (थ्राइस रिमूव्ड फ्राम ट्रुथ) कहा[2]। स्वभाव से कवि एवं सहृदय होने पर भी प्लेटो ने होमर की काव्य कृतियों में प्रस्तुत उत्तेजक दृश्यों एवं इन्द्रिय संवेद्य वर्णनों को युवकों का पथभ्रष्टक कहा। होमर और हेसियोड ने देवताओं को क्रूर लोभी कपटी तथा प्रतिशोधी रूप में चित्रित किया है। उनके साहित्य शास्त्रीय चिन्तन की दो

१- नया साहित्य नये प्रश्न - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० १९७८, पृ० १२४

२- रिपब्लिक प्लेटो - आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, सं० १९८४, पृ० ७८ पर उद्धृत।

सीमायें स्पष्ट हैं -- पहली सीमा - 'रिपब्लिक' में तीसरे अध्याय से सम्बन्धित है जहाँ वे होमर द्वारा वर्णित दृश्यों तथा देवताओं के कामुकतापूर्ण चरित्रों का विरोध करते देखे जाते हैं । यहाँ वे काव्य कला को मिथ्या और अज्ञान का प्रचार मानकर उसका बहिष्कार करते हैं । दूसरी सीमा -- दर्शन एवं नीतिशास्त्र से अनुप्राणित है जहाँ वे सत् साहित्य का समर्थन करते हुए सत्य, शिव और सुन्दर में से 'सत्य' का अनुवर्तन शिव- (लोक मंगल) की सीमा में (स्वीकार) करते हैं[1] । प्लेटो के काव्य कला सम्बन्धी सिद्धान्तों की यह सीमा आदर्शवाद की सीमा है । इस सीमा तक आकर वे प्रतिमानों का निर्धारण करते देखे जाते हैं ।

काव्य-कला की समीक्षा की दृष्टि से प्लेटो का आदर्शवादी नैतिकता से प्रभावित कलात्मक चिन्तन नकारात्मक मान से आरम्भ हुआ है । दर्शन नीतिशास्त्र तथा ज्ञानात्मक विचारों की तुलना में वे कला तथा काव्य कला को (मिथ्याभासित) हेय, त्याज्य, कामुकता से पूर्ण, उत्तेजक तथा कलाकार को पथभ्रष्टक कहते हैं और कवि को देश से निकाल देने की सिफारिश करते हैं । इस अग्राह्यता एवं नकारात्मकता के दो आधार हैं - (१) दर्शन, (२) प्रयोजन । प्लेटो प्रत्यय जगत को दृष्टि प्रकृति एवं दैवी सत्ता का मूल रूप मानते हैं[2] । यह 'आइडिया' 'नित्य' परम 'सत्य' तथा ईश्वर की सृष्टि है । दृश्यमान जगत वस्तु जगत है जो प्रत्यय जगत का प्रतिबिम्ब या छाया है । कला और साहित्य का जगत वस्तु जगत का प्रतिबिम्ब अर्थात् अनुकरण का अनुकरण होने के कारण मिथ्या है । प्रयोजन या उपयोगिता की दृष्टि से 'कला' इसलिए त्याज्य है, क्योंकि उसमें चित्रित दृश्यों तथा देवचरित्रों के घटिया रूपों से युवकों में कायरता का संचार होता है तथा दु:खात्मक गम्भीर नाट्य कृतियों द्वारा निराशा, दैन्य तथा करुणा के उद्रेक से वीरता, साहस तथा धैर्य का अभाव हो जाता है[3] ।

कलाकृति तथा काव्य में वे रचनाकार को महत्वहीन मानते हैं । उनके मतानुसार कला की सर्जना, उत्तेजना एवं उन्माद का परिणाम है । उन्माद को

१- पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव - डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा, सं० १९६०, पृ० ५६ ।

२- पाश्चात्य काव्यशास्त्र - आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, १९८४, पृ० ८

३- पोयेट्री कॉलिंग्स: ऐण्ड मार्क्स दि मेकर - (प्लेटो) ।

प्लेटो ने डिवाइन मैडनेस की संज्ञा दी है । तीसरे प्रकार का उन्माद उनका है जो काव्य देवी से आविष्ट होते हैं । काव्य देवी कोमल और निर्मल आत्मा को अपने अधिकार में लेकर और उसमें उन्माद जगाकर प्रगीत तथा अन्य कविताओं को उत्पन्न करती है । ...[1] कलात्मक सृजन को प्लेटो ईश्वरीय प्रेरणा मानते हैं । महाकाव्य प्रगीत या नाटक के लिखने का श्रेय ईश्वर या सर्जना की देवी को है[2] ।

उन्होंने कला एवं काव्य की आदर्श सीमा बुद्धि के उन्नयन, आत्मा के उत्प्रेरण तथा नैतिक पक्ष को समृद्धतर करने से जोड़ी है । उनका यह दृष्टिकोण उपयोगिता एवं नैतिकतावादी है । उनका `सुन्दर` सत्य एवं शिव का पर्याय है । उन्होंने `आनन्ददायक` साहित्य की तुलना में सच्चरित्रता, वीरता एवं साहस को प्रेरणा देने वाले आदर्श काव्य एवं वीर चरित्र से युक्त नाटकों को सराहा भी है । उनको एक कवि का हृदय अवश्य मिला था, किन्तु वे अपनी नैतिकता की दृष्टि से विशेष प्रभावित हैं ।

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित काव्य-कला एवं गम्भीर नाटकों से सम्बन्धित ये प्रतिमान आरम्भिक एवं दार्शनिक होने पर भी परवर्ती चिन्तन के प्रेरक हैं । उनका प्रत्यय जगत, प्रेरणा की दैवी शक्ति, रचनाकार कवि एवं सर्जक की परा सत्ता साहित्य-शास्त्र की परम्परा निर्मित करने की दृष्टि से विशेष महत्व की है । उन्होंने अधिकांश स्थापनायें अपने गुरु सुकरात के माध्यम से की हैं जो एक ओर गुरु के प्रति आस्था की सूचक हैं तो दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व के उस चेतन जगत की उपज कही जा सकती है । एक `सौन्दर्य शास्त्री` के रूप में प्लेटो की ये सैद्धान्तिक मान्यतायें अरस्तू, हौरेस, लौंजाइनस एवं विक्टोरियन आदि विचारकों की प्रेरक बनीं । पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में हेगल, कांट, रस्किन, क्रोचे, रिचर्ड्स, इलियट आदि चिन्तक भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यूनानी शास्त्रीय चिन्तन के ऋणी हैं । स्वच्छन्दतावादी प्रेरणा में रचनाकार के भावजगत तथा कल्पना का सम्बन्ध प्लेटो और अरस्तू के विचारों से भी

१- पाश्चात्य काव्यशास्त्र - आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, स० १९८४, पृ० १३ में उद्धृत (फेड्रस का अंश)

२- कवि की काव्य-चेतना एक बाँसुरी है जिसमें स्वर फूंकने का काम ईश्वर करता है - (पाश्चात्य काव्यशास्त्र - देवेन्द्र नाथ शर्मा, सं० १९८४, पृ० १४) ।

स्थापित किया जाता है । आदर्शवादी नैतिकता तथा उपयोगितावादी सौन्दर्य-दर्शन की मूल प्रेरणा प्लेटो का दार्शनिक चिन्तन है जो प्रत्यय जगत, वस्तु जगत तथा कल्पना-जगत का स्पष्ट भेद से सम्बन्धित है । कला एवं काव्य कला को बहिष्कृत करने पर भी उन्होंने परवर्ती चिन्तकों को विचार करने के लिए समस्याग्रस्त 'व्यापक-जगत' की परिकल्पना की । समीक्षा क्षेत्र में उनका शास्त्रीय चिन्तन 'अनुकरण का अनुकरण' से सम्बन्धित होने पर भी सत्य-शिव एवं सुन्दर की एकात्मकता की मूल प्रेरणा है । प्लेटो ने इस आध्यात्मिक चेतना के प्रकाश में अनुभूति के दो रूप स्वीकार किये हैं - (क) आध्यात्मिक अनुभूति, (ख) ऐन्द्रिय अनुभूति[1]। काव्यानुभूति का सम्बन्ध उन्होंने इन्हीं दोनों अनुभूतियों से जोड़कर प्रथमत: उसे मिथ्या, तथा अनुकरण की अनुकरणात्मक प्रेरणा रूप में तथा पुन: उसके उच्च एवं आदर्श परिणति को सौन्दर्यानुभूति की सीमा से जोड़ दिया है ।

यूनान के अन्य विचारक अरस्तू की रचनायें मेरी पोयेटिक्स, रेटोरिक्स एवं मेटाफिजिक्स, फिजिक्स, 'पालीटिक्स' आदि का सृजन साहित्य-शास्त्र की दिशा में उल्लेखनीय है । अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे जिन्होंने प्लेटो द्वारा कला एवं काव्य कला पर लगाये गये अनुकरण के आरोप से बरी करने के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन एवं राजनीति तथा नैतिकता के दबाव से कविता को मुक्त कर स्वच्छन्द विषय रूप में त्रासदी, विरेचन तथा 'पोयेट्री एण्ड फाइन आर्ट' सिद्धान्तों के माध्यम से किया । इतना ही नहीं उन्होंने अपने गुरु प्लेटो के 'अनुकरणसिद्धान्त' से सदर्भित मिथ्यात्व (थ्राइस रिमूव्ड फ्राम द ट्रुथ) का खण्डन भी किया है किन्तु उन्होंने कहीं भी प्लेटो के नाम सहित उनके सिद्धान्तों का न तो उल्लेख किया है और न ही गुरु की मर्यादा एवं सीमा का कहीं भी उल्लंघन ही किया है[2]। उन्होंने प्लेटो के सिद्धान्तों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है ।

१- (क) रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९४९, पृ० ४६

(ख) लिटरेरी क्रिटिसिज्म - ए शार्ट हिस्ट्री - विमसाट-ब्रुक्स, पृ०१८

२- लिटरेरी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री - विमसाट - एण्ड ब्रुक्स सं० १९७० (भारतीय सं०), पृ० २१ ।

समीक्षा क्षेत्र में अपनाये जाने वाले मानक के रूप में अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त, विरेचन सिद्धान्त तथा त्रासदी के `प्लाट` (कथावस्तु) का महत्व विशेष उल्लेखनीय है । प्लेटो यदि गणितज्ञ एव दार्शनिक थे तो अरस्तू सौन्दर्यशास्त्री एव वैज्ञानिक । प्लेटो को `कवि` की भावुकता तथा कला को परखने की प्रतिभा प्राप्त थी किन्तु उस प्रतिभा को उन्होंने नीतिशास्त्र एव दर्शन के विरुद्ध कही प्रयुक्त नही किया जबकि अरस्तू जो कि प्लेटो के विद्यापीठ के मस्तिष्क थे, ने दर्शन आचार, राजनीति मनोविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, भौतिकी आदि विषयों पर व्यापक विचार करने के साथ ही `काव्यशास्त्र` तथा पालोटिक्स मे `कला` के सम्बन्ध में भी गहन चिन्तन का परिचय दिया है[1] ।

अरस्तू ने काव्य कला के सम्बन्ध में पोइटिक्स के अतिरिक्त पालिटिक्स, तत्व मीमांसा आदि कृतियों में चर्चा की है । विगत २५०० वर्ष के चिन्तन में अरस्तू को एक वैज्ञानिक, दार्शनिक मीमांसक तथा साहित्य तत्ववेत्ता रूप में उद्धृत किया जाता है[2] । भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानो के अनुरूप प्लेटो, होरेस या अरस्तू के तत्व चिन्तन मे समान विचार खोजना एक बौद्धिक व्यायाम ही है । जैसा कि आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा कहते है कि संस्कृत के रस और ध्वनि के लिए `सेन्टी मेन्ट्स` इमोशन तथा `सजेशन` शब्द प्रयुक्त होते हैं किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों अंग्रेजी के रूपान्तर से काफी दूर हैं[3] । इसी प्रकार अलंकार, वक्रोक्ति या रीति सिद्धान्त के समानान्तर विचार इन पाश्चात्य चिन्तको में स्फुट रूप से मिलते हैं किन्तु इनमें किसी प्रतिमान निर्धारण अथवा समानान्तर चिन्तन की खोज एक प्रयास मात्र ही है । अरस्तू की काव्य-शास्त्र सम्बन्धी मान्यतायें उनके सम्पूर्ण कृतित्व मे विद्यमान होने के साथ ही `पोइटिक्स` में व्यापक विवेचन `त्रासदी` दृश्यकाव्य का ही है । जिस प्रकार

१- लिटरेरी क्रिटिसिज्म- एशार्ट हिस्ट्री-(विम शाट-क्लीथ ब्रुक्स) स० १९५७, पृ०२१

२- ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्रिटिसिज्म, विलियम जे हैन्डी : मैक्स वेस्ट ब्रुक (एल्बर्ट गोल्सन) का लेख सं० १९७४ , पृ० १२६-१३७

३- पाश्चात्य काव्यशास्त्र - देवेन्द्रनाथ शर्मा, सं० १९८२, पृ० २४ ।

आचार्य भरतमुनि की कृति `नाट्य शास्त्र` अभिनय कला का ग्रन्थ है किन्तु उसमें `रस निष्पत्ति` तथा भाव-विभाव वृत्ति एवं प्रवृत्तियों की जो चर्चायें प्रसंगानुसार आई हैं उनमें अलंकार रीति, वक्रोक्ति आदि के अतिरिक्त नायिका भेद, काव्य के प्रयोजन हेतु एवं शब्द-शक्तियों का तत्व बोध रूप में मिलते हैं उसी प्रकार अरस्तू के ग्रन्थों में भी यूनानी काव्य कृतियों का वस्तुगत विवेचन तथा कला के सूक्ष्म तत्वों का विश्लेषण है। अरस्तू का `काव्य` शब्द केवल पोयेट्री के अर्थ में नहीं अपितु राजशेखर की काव्य-मीमांसा में प्रयुक्त `साहित्य` की तरह बहुआयामी है। उनके काव्य में (काव्य के) विविध भेदों उपादानों, प्रयोजनों के अतिरिक्त कथानक की संरचना तथा प्रकृति और काव्य से सम्बन्धित विषयों का समायोजन है। `पोएटिक्स` की आरम्भिक पंक्तियों के अनुरूप पूर्णता न होने का कारण है मूल ग्रन्थ की खण्डित रूप में प्राप्ति तथा यूनानी भाषा से अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में हुए अनुवाद की शक्ति और सीमा[1]।

अरस्तू की काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कृति मूलतः (ट्रेजेडी) नाट्य-शास्त्र से सम्बन्धित है। काव्य-शास्त्र नाम देने का उद्देश्य उन्होंने आरम्भ में ही बता दिया है। आचार्य भरतमुनि ने भी अपने शास्त्रीय ग्रन्थ को `नाट्यशास्त्र` शीर्षक देने पर भी काव्य के सभी तत्वों, उस समय तक के प्रचलित अलंकारादि का भी विवेचन अनुकार्य तथा अभिनेता की सीमा में किया है। `नाट्यशास्त्र` को पंचम वेद कहने के अतिरिक्त उन्होंने भी ज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग तथा काव्य के गुण धर्म को नाट्यशास्त्र में समाहित किया है। पूर्व एवं पश्चिम की इन कृतियों के `नाम` से यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि `काव्य` या `नाट्य` उनके समय तक सम्पूर्ण साहित्य का पर्याय था। अरस्तू की `त्रासदी` की विवेचना काव्य कला के समीक्षा प्रतिमान तथा सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से चिन्तनीय है। `त्रासदी` की परिभाषा में ही उन्होंने `कथावस्तु` (प्लाट) की गम्भीरता स्वतःपूर्णता कलात्मकता एवं विरेचन क्षमता का उल्लेख किया है[2]। यहीं पर काव्य

१- ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्रिटिसिज्म - (पोयेटिक्स मेथड आफ अरिस्टोटेल बट्स भावार एण्ड एनोटेशन,एस्कार वोल्सन का लेख)-पृ०११४

२- ट्रेजेडी इज देन, एन इमीटेशन आफ ए गोल्ड एण्ड कम्प्लीट ऐक्शन हेविंग दि प्रापर मेग्नीच्यूड, ... (अनुवाद) (ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्रिटिसिज्म में -पृ० ११२ (विलियम गोल्सेन) ।

और इतिहास में 'काव्य' की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन इस दृष्टि से है कि 'इतिहास' में वह होता है जो घट चुका होता है किन्तु काव्य या साहित्य में वह भी होता है जो सम्भव रहता है । इस सम्बन्ध में उन्होंने 'अनुकरण' का माध्यम 'प्रकृति' के लिए जैसी वे थी या है, जैसी वे कही सुनी या समझी जाती है, अथवा जैसे उन्हें होना चाहिए कहकर घटनाओं की सम्भाव्यता को भी स्वीकार किया है । इतिहास की तुलना में 'काव्य' की श्रेष्ठता अरस्तू का मौलिक चिन्तन है जिसके द्वारा उन्होंने दर्शन, नीतिशास्त्र तथा ज्ञानात्मक विधाओं से आगे 'काव्य' को स्वतन्त्र स्थान दिया है, क्योंकि प्लेटो का काव्य-चिन्तन नैतिकता और दर्शन का अनुगामी है । शास्त्र-विषयक अवधारणा के लिए उन्होंने प्रयोजन उपादान 'निमित्त' और 'तत्व' आवश्यक माने हैं[1]। इन चार बातों को उनके काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य-शास्त्रों के लिए भी लागू मानना चाहिए ।

प्लेटो द्वारा कला को प्रकृति की अनुकृति अर्थात् अनुकरण का भी अनुकरण कहे जाने के विरुद्ध अरस्तू ने आंशिक रूप से इससे सहमति व्यक्त की है कि कला प्रकृति की अनुकृति है किन्तु जैसी 'उन्हें होनी चाहिए' की घोषणा निश्चय ही अनुकरण की क्रिया में रचनाकार की मौलिकता की स्वीकृति तथा मूल के पुनरुत्पादन का आशय भी निहित है । अरस्तू ने कलात्मक अनुकृति को मूल से भी अधिक रमणीय तथा आकर्षक कहा है । इसीलिए उन्होंने 'अनधिगत आदर्श का प्रतिरूपण' कह कर अनुकरण को मूल पर आधारित होते हुए रचनाकार की सर्जना शक्ति के अनुरूप मूल से भिन्न तथा बहुआयामी भी बताया है । इस सम्बन्ध में अरस्तू की रचना 'पोयटिक्स' के प्रसिद्ध व्याख्याता बूचर का कहना है कि 'अरस्तू के अनुसार सौन्दर्यात्मक अनुकरण के तीन विषय हैं --(१) चरित्र (कैरेक्टर) भाव (इमोशन) तथा कार्य-व्यापार (एक्शन)।(जिसके यूनानी पर्याय क्रमश: 'इथोस' पाथोस तथा प्राक्सिस हैं)[2]।

१- फ्राम अरिस्टोटिल्स पोयटिक्स - लियोन गोल्डेन -
(ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्रिटिसिज्म - विलियम जे हैण्डी) पृ० १९६ ।

२- अरिस्टोटिल्स थियरी आफ पोयट्री एण्ड फाइन आर्ट्स द्वारा बूचर -
(आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा पाश्चात्य काव्य शास्त्र - सं० १९७३
में पृ० ११-१२ पर उद्धृत)।

चरित्र के अन्तर्गत विशिष्ट नैतिक गुण, भाव शब्द से अनुभूति या संवेदना । कार्य-व्यापार में कुमर का आशय आन्तरिक कार्य न कि बाह्य प्रक्रिया या घटना-शृंखला है । इसी क्रम में अरस्तू का यह कथन भी ध्यातव्य है कि 'कार्यव्यापार' में निरत मनुष्य' अनुकरण के विषय हैं । प्लेटो ने अनुकरण का आधार 'वस्तुजगत' तथा उसका भी आधार 'प्रत्यय जगत कहकर जिसका सम्बन्ध आइडिया' से जोड़ा था अरस्तु ने उसका सम्बन्ध 'मेन इन ऐक्शन' को 'आब्जेक्ट' बनाकर चरित्र, भाव तथा कार्य-व्यापार के समाहार के साथ ही व्यापक परिधि में सम्पूर्ण मानव जीवन को 'अनुकरण' का सौन्दर्यात्मक अनुकरण कह कर दिया[1] । कलाकृति मूलवस्तु को पुनरुत्पादित तो करती है लेकिन उस रूप में नहीं जो उसका स्वरूप है बल्कि उस रूप में जैसी वह इन्द्रियों को प्रतिभासित होती है ।

इसी क्रम में उनके सौन्दर्य-शास्त्र के 'आनुपातिक सौन्दर्य' का भी उल्लेख आवश्यक है । अरस्तू ने कथानक को गम्भीर, पूर्ण तथा कुछ विस्तृत (सटेन मैग्नाच्यूड) कहा है । अरस्तु बल देकर कहते हैं कि कथानक का विस्तार, आनुपातिक और उसकी घटना-शृंखलायें सुसम्बद्ध तथा सुनियोजित होनी चाहिए । कथानक के विस्तार के लिए उनका 'ला आफ प्रोबेबिलटी आर नैसेस्टी' ध्यातव्य है । 'जैसी उन्हें होनी चाहिए' का सम्बन्ध 'सम्भाव्यता और अनिवार्यता' से है ।

अरस्तु के 'अनुकरण सिद्धान्त' से सम्बन्धित उनका त्रासदी सम्बन्धी विवेचन है जिसमें वे त्रासदी को न केवल नाट्य रूपों अपितु महाकाव्य से भी उत्कृष्टतर मानते हैं । त्रासदी की गम्भीरता के अतिरिक्त उसमें सर्वाधिक महत्व अरस्तु कथानक या प्लाट को देते हैं । वे यह कहते हैं कि त्रासदी बिना चरित्र के हो सकती है किन्तु बिना 'कथावस्तु' के असम्भव है । इस सम्बन्ध में ड्रायडन का यह कथन भी ध्यातव्य है कि यदि उन्होंने हमारे चरित्र प्रधान नाटक भी देखे होते तो ऐसा न कहते[2] । ड्रायडन

१- पोयटिक्स - अरस्तू - (द्वि० भाग) - अनु० थियोग गोल्डेन) सकलित (हूमेनिस्टिक टेम्पुरी क्रिटिसिज्म - में पृ० ११८ पर)

२- पाश्चात्य काव्यशास्त्र - आचार्य देवेन्द्र शर्मा द्वारा पृ० सं० ३० पर उद्धृत ।

की इस टिप्पणी का अर्थ यह है कि अरस्तू ने यह टिप्पणी अपने समय तक की यूनानी नाट्य कृतियों के कारण ही की थी यदि वे परवर्ती चरित्र प्रधान को देखते सुनते तो अपने 'प्लाट' सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन किये होते । अरस्तू की कृतियों में आगत शास्त्रीय मान्यताओं को नवीन प्रतिमान की दृष्टि से देखने पर उनमें ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहां वे भारतीय काव्य-शास्त्र से मिलती जुलती कुछ बाते कहते हैं । उन्होंने आनन्दो की 'पद रचना' के क्रम मे शब्दों के कोटि भेद किये हैं -- अचित (करेन्ट) अपरिचित (स्ट्रेंज) लाक्षणिक (मेटाफरिकल) आलंकारिक (आर्नामेन्टल) नव-निर्मित (न्यूलीक्वाइन्ड) प्रवर्धित (लेन्थेन्ड) संकुचित (कन्ट्रैक्टेड) परिवर्तित (आल्टर्ड) संस्कृत काव्य-शास्त्र मे अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों के अतिरिक्त 'वक्रोक्ति', 'रीति', 'ध्वनि' आदि के अन्तर्गत भाषा के व्यंजना व्यापार की ओर संकेत है । अरस्तू 'अभिव्यंजना' की असाधारणता के लिये जिन नव-निर्मित शब्द प्रयोगों का अनुमोदन करते हैं वे (विशेष भणो भणिति) 'वक्रोक्ति' मत का स्मरण दिलाते हैं ।

अरस्तू का 'महाकाव्य' के लक्षण सम्बन्धी मत आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण के 'सर्ग बन्धो महाकाव्य' के निकट है । पात्रगत उच्चता भारतीय काव्यशास्त्र की कुलीनता तथा 'धीरोदात्त' की तुलना के योग्य है । इसी प्रकार अरस्तू ने वस्तु-अंगों की 'परस्पर अन्विति' द्वारा संस्कृत काव्य-शास्त्र की नाट्य संधियों तथा कथानक के निर्माण में नाट्य सिद्धान्तों की तरह आदि, मध्य तथा अवसान भी तुलनीय है । अलंकारवादी आचार्यों की तरह अरस्तू ने भी 'काव्य-दोषों' की चर्चा की है । असम्भव, अयुक्त, अनैतिक तथा शिल्प-विघातक' आदि दोष 'भाषागत अभिव्यंजना तथा काव्य-भाषा के रूप पर आधारित प्रतिमान के अन्तर्गत समाहित हो सकते हैं । 'प्रकृति' के साथ ही रचनाकार की 'सर्जनात्मक शक्ति' को महत्व प्रदान कर अरस्तू ने समकालीन समीक्षा में प्रचलित 'उत्पादक सिद्धान्त' एवं आन्तरिक सर्ग का आरम्भिक सूत्र प्रस्तुत किया है जिसे बूचर ने भी रेखांकित किया है[1]।

पाश्चात्य समीक्षा के शास्त्रीय प्रतिमानों के अन्तर्गत तुलनात्मक दृष्टि

१- अरिस्टोटिल्स थियरी आफ पोयट्री एण्ड फाइन आर्ट (भूमिका)
- बूचर

से अन्य उल्लेखनीय सिद्धान्तो के पुरस्कर्ता `होरेस` हैं जिनकी प्रसिद्ध रचना आर्सपोयेटिक (काव्य कला) है । आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि यह होरेस द्वारा दिया गया नाम नहीं अपितु `क्विन्टीलियन` द्वारा उनके कृतित्व की सराहना तथा स्थापना के लिए दिया गया है[1]। होरेस का सम्बन्ध `रोम` से था जिसका उत्कर्ष काल `आगस्टस` का शासनकाल माना जाता है । सुकरात, प्लेटो, एवं अरस्तु का सम्बन्ध यूनान (एथेंस) से था तथा होरेस के देशवासी यूनानवासियों की तरह साहसी कला-पारखी तथा वैचारिक दृष्टि से समृद्ध नहीं थे । `आर्स पोयेटिका` (काव्य की कला) `पिसो` नामक एक युवक को लिखे गये पत्र की शैली की समीक्षा कृति है जिसमें काव्य-शास्त्र` तथा `भाषण-शास्त्र` से सम्बन्धित सिद्धान्तों के संकेत हैं । `काव्यशास्त्र` के गम्भीर विषय को बोल-चाल तथा पत्र लेखन की शैली में संक्षेप में प्रस्तुत कर `होरेस` ने महत्वपूर्ण कार्य किया है ।

जार्ज सेन्टस बरी, `आर्स पोयेटिका` को `सिद्धियाकर` कृति मानते हैं[2] किन्तु `विलियम विमसाट` इसका खण्डन करते हैं[3]। शास्त्रवादी आलोचकों में अरस्तु के बाद `होरेस` बहु-चर्चित हैं जिन्होंने रोमीय कला एवं युग का प्रतिनिधित्व करते हुए आलोचनात्मक धारणा की एक झांकी प्रस्तुत की है ।

`होरेस` ने अपनी `समीक्षा` कृति में `शब्द-संयोजन` तथा `छन्द` की स्थिति का उल्लेख किया है । उन्होंने काव्य में सौन्दर्य के साथ-साथ `सुहृदय` की आह्लादन क्षमता का योगदान आवश्यक बताया जो गृहीता या दर्शक के मन का प्रस्तुतीकरण है । नाटक के कथानक के `प्रसिद्ध` या `कल्पित` होने के अतिरिक्त होरेस ने इसमें उचित `सामंजस्य` बताकर अरस्तु के सामंजस्यपूर्ण कथानक (प्लाट) का

१- पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, सं० १९८४, पृ० ७७

२- ए हिस्ट्री आफ क्रिटिसिज्म एण्ड लिटरेरी टेस्ट इन यूरोप - सं० १९०० (डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा उद्धृत) ।

३- लिटरेरी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री विमसाट एण्ड ब्रुक्स - सं० १९५७, पृ० सं० ९० ।

समर्थन देखा जा सकता है ।

शब्द विन्यास, उपयुक्त स्थल पर उपयुक्त तथा प्रभावकारी शब्दों के प्रयोग की राय 'आर्सपोइटिका' में होरेस ने दी है । अपने समकालीन रचनाकारों के लिए 'शब्द संयोजन' में सुरुचि और सावधानी ' संस्कृत काव्य-शास्त्र के 'विशिष्टा पद रचना रीति [1] ' से तुलनीय है । जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के वाङ्मय प्रवाह में अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त सूक्ष्म-सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम अभिव्यंजनाश्रित सौन्दर्य की परिकल्पना से सम्बन्धित है उसी प्रकार 'होरेस' द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों में 'व्यवहार या प्रयोग को ही भाषा का प्रतिमान कह कर बाह्य सौन्दर्य का समर्थन किया गया है । कविता का बार-बार संशोधन एवं परिमार्जन का समर्थन करते हुए होरेस ने कहा है कि 'जो कविता लम्बी अवधि तक संशोधित-परिमार्जित न हुई हो, दस बार कटी कटी छंटी न हो वह प्रशस्य नहीं होती' । होरेस के इस कथन की तुलना काव्य के हेतुओं से की जा सकती है । प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास से सम्बन्धित काव्य हेतुओं में 'प्रतिभा' की प्रशंसा करने के साथ ही होरेस ने अभ्यास का भी समर्थन किया है [2] ।

शास्त्रीय समीक्षा के व्यावहारिक पक्ष से किये गये इस विवेचन द्वारा होरेस ने न केवल यूनानी-शास्त्रीय समीक्षा को नई दिशा दी, अपितु अरस्तू के 'ऐसा है' को 'ऐसा होना चाहिए' रूप उन्होंने ही दिया । जिस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में 'क्षेमेन्द्र' का औचित्य सिद्धान्त रस-अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि का समन्वय है उसी प्रकार होरेस की समीक्षा पद्धति में रोमीय युग की साहित्यिक धारणा के अतिरिक्त शास्त्र द्वारा निर्मित पथ का अनुवर्तन देखा जा सकता है । बेन जान्सन, ड्राइडन, बुआलो, अलैक्जेण्डर, पोप आदि समीक्षक होरेस से प्रभावित हैं [3] ।

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के आरम्भिक युग के चिन्तकों में 'लौंजाइनस'

१- काव्यालंकार सूत्र वृत्ति . वामन (सं० डा० रामपूर्ति त्रिपाठी)

२- लिटरेरी क्रिटिसिज्म - ए शार्ट हिस्ट्री - विमसाट- ब्रुक्स '
सं० १९५७, पृ० ८०-८१ ।

३- पाश्चात्य काव्य-शास्त्र - आचार्य देवेन्द्र शर्मा, १९८४

का योगदान 'उदात्त तत्व' के कारण उल्लेखनीय है । 'पेरि हुप्सुस' इनकी प्रसिद्ध कृति है जिसका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से नहीं अपितु इसकी प्रमुख शाखा 'रेटोरिक्स' (वाग्मिता शास्त्र) से है । होरेस की अति प्रचलित शैली में लिखी गई लोंजाइनस की इस रचना में मात्र साठ पृष्ठ के लगभग है जिसमें 'उदात्त को अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष' कहा गया है । 'उदात्त' को परिभाषित करने के उपरान्त इन्होंने पहले वाग्मिता शास्त्र को उदात्तता के अवरोधकों (दोषों) का उल्लेख किया है जिसमें 'शब्दाडम्बर' भावाडम्बर तथा 'बचकानापन' प्रमुख है । 'लोंजाइनस' ने 'शब्दाडम्बर' को भाषा का शोथ रोग तथा क्लीवर तुल्य बताया है[1] ।

आलोचना को दीर्घ अनुभव की उपलब्धि कह कर लोंजाइनस ने रचनाकार तथा ग्रहीता के अतिरिक्त समीक्षक का पक्ष प्रस्तुत किया है । 'पेरि हुप्सुस' के नवम् अध्याय में होमर के दो महाकाव्यों की तुलना द्वारा लोंजाइनस ने 'इलियड' में गति तथा स्पर्धा तथा 'ओडिसी' में उदात्त सन्दर्भों की प्रचुरता का अभाव कहा है । डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इसी अंश के सहारे लोंजाइनस को आलोचनात्मक पक्ष को जबर्दस्त तथा कथन की शैली को प्रांजल एवं उर्वस्फूर्त बताया है[2] । कृति की उदात्तता का आधार लोंजाइनस के अनुसार उसकी आह्लादन क्षमता है । आह्लादन के तत्काल प्रभाव को भी विशिष्ट रूप से स्वीकार करने के पक्ष में है किन्तु जिस रचना से आवृत्ति के बाद भी आह्लादन नहीं होता वह उदात्त नहीं है । 'प्लेटो' द्वारा आनन्द को महत्व दिया गया था जो दिव्य उन्माद के रूप में पहले रचनाकार में पुन रचना में आता है । प्लेटो के इस मत को आगे बढ़ाते हुए इन्होंने 'आनन्द' के स्थान पर 'भाव' को सर्जनात्मक प्रक्रिया का आधार बताया है ।

उनकी 'भाषण शास्त्र' सम्बन्धी उक्त कृति का सम्बन्ध केवल भाषण कला से नहीं अपितु रचना की उदात्तता तथा प्रभावोत्पादकता से है । इस छोटी सी रचना के माध्यम से लोंजाइनस ने अपने समय की संस्कृति एवं सामाजिक अभिरुचियों के अनुरूप काव्य कला के दूसरे कला अभिव्यंजना मुक्त रूप पर बल देते हुए मुख्य रूप 'बहुधा' के

1- उदात्त के विषय में - (अनु०) डा० निर्मला जैन
2- पाश्चात्य काव्यशास्त्र - आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

सहायक एवं विरोधी तत्वों पर प्रकाश डाला है । उनकी प्रस्तुत कृति में सोलहवें अध्याय से उन्तीसवें अध्याय तक अलंकारों तथा ३० से ३८ अध्याय का सम्बन्ध शब्द रूपक बिम्ब एवं सौन्दर्य का विवेचन है । रचना की भंगिमा उक्तिवैचित्र्य तथा `उदात्त` के विषय में की जाने वाली स्थापनायें लोंजाइनस को वाङ्मरूप एवं सौन्दर्य का पताधर बना देती है ।

उनके शास्त्रीय कृतित्व को देखते हुए परवर्ती चिन्तकों ने उन्हें शास्त्रवादी अथवा स्वच्छन्दतावादी कहा है तथा अलग-अलग तर्क के सहारे उन्हें दोनों क्षेत्रों का विशेषज्ञ कहा जा सकता है । वैचारिक महत्ता, प्रबल तथा अन्तः प्रेरित भाव, अलंकार, शब्द-योजना आदि को समर्थन देकर उन्होंने अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी तथा रीतिवादी आचार्य वामन से मिलते जुलते सैद्धान्तिक मत प्रतिपादित किये हैं । आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उनके मत की समानता कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से बताई है । उनका प्रतिभा-व्युत्पत्ति एवं अभ्यास सम्बन्धी मत आचार्य दण्डी के निकट है । शृंगारिकता `भाव` तथा `सौन्दर्य मताकर्षी` (स्पेटिक्स) की विशेषतायें उनकी इस शास्त्रीय कृति में दर्शनीय हैं ।

`शास्त्र` के प्रतिमान निर्धारण की दिशा में लोंजाइनस भी `होरेस` की तरह उद्भावक ही कहे जायेंगे । उनकी समीक्षा सम्बन्धी कृति में रचना के सौन्दर्य तथा `प्रभावाभिव्यंजना` पर विशेष बल है जिसके नियामक तत्व भाषा में निहित है । `भाव` का समर्थन उन्हें रसवादी भी बनाता है किन्तु उनकी रस सम्बन्धी दृष्टि आचार्य विश्वनाथ की `रसात्मकता` से निकट तथा अलंकृति एवं सौन्दर्य की अनुगामिनी है ।

यूनान, रोम एवं अलक्जेण्ड्रिया के इन आचार्यों द्वारा एक समीक्षक, आलोचक तथा दार्शनिक की तरह कृति, कलाकृति तथा `काव्य कला` को केन्द्र में रखकर मत प्रतिपादित किये गये हैं । शास्त्रीय चिन्तन के आरम्भिक काल में नैतिकता एवं दर्शन का प्रभाव साहित्य शास्त्र के आर्ट-प्रोडक्ट रूप में मनवाने के पक्ष में था जबकि `अरस्तू` द्वारा अनुकरण विरेचन आदि प्रक्रियाओं के माध्यम से नई मौलिक उद्भावनायें हुईं जिनका शास्त्रीय समीक्षा में विशेष महत्व है । परवर्ती समीक्षकों में `होरेस` तथा लोंजाइनस` की विचार-धारा वस्तुगत दृष्टि से हटकर सौन्दर्य पर आ

टिको । रचना की प्रभावोत्पादकता के वाग्मिता पर आधारित तथा उदात्तता पर आश्रित बताने के साथ ही हौरेस एवं लोंजाइनस ने परवर्ती चिन्तन को भी महत्व प्रदान किया ।

`प्लेटो` और `अरस्तू` वस्तुवादी विचारक हैं जैसे - भरतमुनि किन्तु भामह के अलंकार तथा कुन्तक के वक्रोक्ति `वोचितम्` की भांति `हौरेस` ने जहां सौन्दर्य के विविध मतों का उल्लेख करने की आवश्यकता समझी है वहां उन्होंने पत्र लेखक का स्थान त्याग कर आचार्य का पद धारण किया है । भारतीय समीक्षा के मध्ययुग के अनुरूप हौरेस एवं लोंजाइनस` की कृतियों में समाज की ऐसी झांकी है जो विभिन्न रुचियों के लोगों का `चित्तानुरंजन` `आनन्द` एवं भावजगत का प्रतिनिधित्व कर समृद्ध समाज से परिचय कराती है । भारतीय काव्य-शास्त्र के विपरीत इन आचार्यों ने किसी सम्प्रदाय या विशेष मत को प्रतिष्ठित न कर `रचनाकार` के पक्ष को समर्थन देते हैं । पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की तुलना में भारतीय अलंकारशास्त्र व्यापक तथा भारतीय सौन्दर्य को भी अपनी ऊर्जा से मण्डित करता है । पश्चिम में साम्प्रदायिकता एवं छुआछूत की कमी के कारण व्यापक साहित्य सामने है जबकि भारतीय आचार्यों ने अपना सारा श्रम साम्प्रदायिकता के विरुद्ध किसी वाद में न रहकर शास्त्र-रचना करने में लगाया है ।

-0-

समीक्षा प्रतिमानों की उत्तरवर्ती परम्परा मध्यकालीन हिन्दी कविता के आलोक में

हिन्दी काव्य-समीक्षा के सन्दर्भ में यह निश्चित सा हो गया है कि कृति की समीक्षा के लिए प्रतिमानों का अनुसंधान उसी के गर्भ में किया जाना चाहिए और उन्हीं प्रतिमानों के आधार पर कविता का मूल्यांकन करना समीचीन है । तद्-युगीन कविता में सन्निहित साहित्यशास्त्रीय तत्वों के अनुशीलन के साथ ही उस युग के सांस्कृतिक परिदृश्य तथा रचनाकार की मनःस्थिति का सापेक्ष मूल्यांकन आज की प्रायोगिक समीक्षा (एप्लाईड क्रिटिसिज्म) का लक्ष्य बन चुका है । सांस्कृतिक प्रतिमानों से पर्यवसित कवि-प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के आलोक में जब हम हिन्दी की मध्यकालीन कविता पर सप्रश्न दृष्टिपात करते हैं तो एक स्थिति में मध्यकालीन हिन्दी कविता के दर्शन, भक्ति, रीति की परम्परा, शृङ्गार रस का परिपाक एवं कलात्मकता के सहारे उक्त परम्परा का मूल्यांकन करते हैं । जिसमें इतिहास दृष्टि मुख्य तथा आलोचना दृष्टि गौण हो जाती है किन्तु इसके विपरीत अन्य दृष्टि की समीक्षा-प्रक्रिया यह भी है कि हम अपनी किसी स्थापना एवं प्रतिमानों के अनुरूप मध्ययुगीन हिन्दी कविता का परीक्षण एवं समालोचन करते हुए उसमें अभीष्ट तत्व ढूँढ़ निकाले हैं । मूल्यांकन समीक्षण तथा अनुशीलन की उपर्युक्त प्रक्रियाओं के अनुरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र तथा डा० रामविलास शर्मा के अतिरिक्त डा० रामकुमार वर्मा आदि ने मध्ययुगीन हिन्दी कविता के गर्भ से जो तत्व ढूँढ़ निकाले हैं उन्हीं के सहारे 'हिन्दी समीक्षा' तथा 'साहित्येतिहास' के अध्ययन की एक बनी बनायी लीक पर चलकर तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, केशव, बिहारी, सेनापति, घनानन्द, मतिराम, आचार्य भिखारीदास, पद्माकर, देव आदि के कृतित्व की समीक्षा होती रही ।

(क) मध्यकालीन हिन्दी कविता और काव्यशास्त्रीय प्रतिमान -

मध्ययुगीन हिन्दी कविता में प्रयुक्त अप्रस्तुतविधान, आलंकारिक दृष्टि,

ध्वनि संवेदना, कल्पनाभिव्यक्ता, काव्य-भाषा शैली, कला-विधान, सौन्दर्य दृष्टि आदि का अनुशीलन करते हुए १- निर्गुण (संत, सूफी), २- सगुण (रामभक्ति, कृष्ण भक्ति) का विभाजन तथा इन शीर्षकों के अनुरूप जो अध्ययन अब तक किया गया है उससे `काव्य-शास्त्र` या रीति सिद्धान्त के अनुशीलन का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है । डा० रामकुमार वर्मा ने कहा है कि यह निराशा `पराजित जाति के संस्कार` के अनुरूप दिनानुदिन बढ़ते -बढ़ते सांस्कृतिक परम्परा को परिवर्तित कर देती है[१]। किन्तु भक्तिकाल के आरम्भिक चरण में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों की कलात्मकता मे नैराश्य या किंकर्तव्यविमूढ़ता नहीं अपितु आत्म-रक्षा से प्रेरित भारतीय संस्कृति कला एवं शास्त्र की पूर्व परम्परा की रक्षा प्रमुख है । उत्तर मध्यकाल के रचनाकारों की तरह भक्ति काल के कवि न तो यह कहते है कि `आगे के सुकवि रीझि है तौ कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है`[२] और न वह स्थापना ही करते हैं कि `लोग है लागि कवित्त बनावत मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत ।`[३] इस युग के कवि कबीर `मसि कागद छुयो नहीं कलम गही नहि हाथ` के कारण `कागद की लेखी` नहीं आंखिन की देखी`[४] कहते-कहते समीक्षकों की दृष्टि मे `कवि नहीं समाज सुधारक` बन गये हैं तो `कवित विवेक एक नहिं मोरे सत्य कहउं लिखि . . . ` के संकल्प वाले तुलसी को एक वर्ग विशेष का कर्णधार तथा सामन्तीय व्यवस्था का पृष्ठ-पोषक कहा गया है ।` इतना ही नहीं `कबीर` की तुलना में जायसी को `लोकजीवन` के निकट देखकर आचार्य शुक्ल ने उनकी `कवित्व शक्ति` की आराधना की तथा `तुलसी` के निकट लाकर वे `सूर` की कलात्मकता का सही मूल्यांकन नहीं कर सके । यह संकेत इस उद्देश्य से नहीं किया जा रहा है कि इसके द्वारा `दूसरी परम्परा` के बाद तीसरी

१- रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डा० रामकुमार वर्मा (विषय प्रवेश) १६८४ ।

२- काव्य निर्णय - आचार्य भिखारीदास (सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी)

३- घनानन्द कवित्त - डा० किशोरीलाल गुप्त

४- (क) मसि कागद छुयो नहीं कलम गही नहि हाथ - कबीर ग्रन्थावली ।

(ख) तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आंखिन की देखी -कबीर ग्रन्थावली ।

या चौथी परम्परा की खोज करना लेखन का अभिप्राय है अपितु इस उद्देश्य से कि 'इतिहास और आलोचना' अथवा इतिहास और आलोचक दृष्टि' की बजाय 'आलोचना और इतिहास' अथवा 'आलोचक दृष्टि और इतिहास' के अनुरूप मध्ययुगीन हिन्दी कविता पर एक दृष्टि डालकर उसमें सन्निहित साहित्य के 'शास्त्र' और 'काव्य' को रेखांकित किया जा सके ।

कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा आदि का 'काव्य' समीक्षा प्रतिमानों की शास्त्रीय स्थापना के लिए भले ही गौण हो किन्तु रसात्मकता, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकृति तथा अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-व्यंजना की कसौटी पर हर तरह से प्रासंगिक और चर्चित है । इन रचनाकारों की कृतियों में 'साहित्य-शास्त्र' के विभिन्न तत्वों का समायोजन विविध रूपों में मिलता है जिसके कारण हम यदि संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'काव्य' तत्व गौण तथा 'शास्त्र' तत्व की प्रधानता स्वीकार करते हैं तो हिन्दी भक्तिकाल में 'शास्त्र' तत्व गौण तथा 'काव्य तत्व' की प्रधानता स्वीकार कर सकते हैं । कविता करना कबीर का उद्देश्य भले ही न रहा हो, किन्तु दर्शन के पेड़ में भक्ति का बीज पकने से उत्पन्न भाव संवेदना से उद्भूत 'अध्यात्म' के पात्र से झलक कर गिरने वाली काव्य की कटोरी का रस आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'कम' नहीं मानते[1]। डा० नामवर सिंह ने 'कबीर' की संवेदना से आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व को जोड़कर 'तुलसी' तथा उनके समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक ही पंक्ति में खड़ा करके जो तुलनाएं की हैं उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि 'आचार्य शुक्ल तुलसीदास को काव्य के स्तर पर प्रतिष्ठित नहीं कर सके ।'[2] इस प्रतिष्ठित न कर पाने का कारण 'शुक्ल जी के छायावादी अनुभव' थे जो उनके (शुक्ल जी) द्वारा कबीर को कवि रूप में मान्यता भी नहीं देने देते[3]। डा० सिंह कबीर और तुलसी की तुलना करके आचार्य शुक्ल तथा

१- (क) कबीर - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं०   पृ०

(ख) दूसरी परम्परा की खोज - डा० नामवर सिंह,   सं०   पृ०

२- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह - १९८२, पृ० ३२

३- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह - १९८२, पृ० ३२

काव्य से मिलाते हुए ही ग्रहण करने के पक्ष में है[१]। तब 'भाव का हृदय से निकलना' रहस्य मानकर यह भी कहा जा सकता है। 'रस दशा' की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य की वाणी का 'शब्द विधान' जब आत्मा की मुक्तावस्था- ज्ञान दशा' के समतुल्य मानकर आचार्य शुक्ल ने इस रहस्य को जाना था तो 'कबीर' के सम्बन्ध में क्यों उसे नहीं मानते ? कविता की परिभाषा (चिन्तामणि)- 'कविता क्या है' मे आया हुआ उपर्युक्त कथन 'कबीर के ज्ञान मार्ग' 'मुक्तावस्था- ज्ञान दशा के अधिक निकट है[२]।

आचार्य शुक्ल ने भी कबीर की वाणी में 'उक्ति वैचित्र्य', 'प्रभावोत्पादकता' तथा चुटीले पन को स्वीकार किया है। 'उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुंह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थी'। उनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को आकर्षित करता था।' ... अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों के द्वारा ही उन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं जो नयी न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं।[३] आचार्य शुक्ल तथा आचार्य द्विवेदी 'चुटीली और व्यंग्य चमत्कार पूर्ण बातें' 'डाक चोट करने वाली भाषा' को समान रूप से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कबीर के काव्य में चमत्कार, कलात्मकता, उक्ति- वैचित्र्य, प्रतिभा की प्रखरता तथा लोक पर प्रभाव डालने की क्षमता है जो केवल कबीर की नहीं बल्कि भक्ति परम्परा की कविता की पूर्ववर्तिनी धारा 'प्रतिभाजन्य' रूप में स्वीकार की जा सकती है। दादूदयाल का 'प्रेम भाव निरूपण' सुन्दरदास की काव्य-कला में रीति-तत्व की उपस्थिति 'साहित्यिक सरस रचना' आदि कथन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षक दृष्टि के परिचायक तथा 'भक्ति काल की कविता'

१- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं० १९८२, पृ० २२

२- चिन्तामणि - भाग १ - (रामचन्द्र शुक्ल - 'कविता क्या है')

३- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, (नागरी प्रचारिणी)।

४- कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी -

के साहित्यिक तत्व के अनुसंधान के सूत्र बन सकते हैं जिनके आधार पर भक्तिकालीन काव्य में निहित तत्वों को रेखांकित किया जा सकता है[१]।

एक पूर्ण एवं तटस्थ समीक्षक के लिए समूची परम्परा की समझ तथा कृतित्व के मूल्यांकन की क्षमता आवश्यक है। इसी प्रकार परवर्ती कविता के समीक्षण के लिए भी मध्यकालीन हिन्दी काव्य तथा उसमें निहित काव्य-शास्त्रीय तत्वों का परिज्ञान आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा `त्रिवेणी` `तुलसीदास` भ्रमर गीत सार की भूमिका `सूरदास` जायसी ग्रन्थावली की भूमिका हिन्दी साहित्य का तथा चिन्तामणि (भाग १-२) के निबन्धों में मध्ययुगीन हिन्दी कविता के सम्बन्ध में जो स्थापनायें की गई हैं उनसे `हिन्दी समीक्षा-परम्परा` का बोध तथा कविता का पुनर्मूल्यांकन हो सकता है। डा० रामविलास शर्मा ने `सन्त साहित्य` भक्ति काव्य की देन शीर्षकों में तुलसी के कृतित्व के मूल्यांकन द्वारा आधुनिक समीक्षा के युग में `परम्परा के मूल्यांकन`[२] की सार्थकता व्यक्त की है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा `कबीर` `सूर साहित्य` हिन्दी साहित्य की भूमिका` तथा मध्यकालीन बोध का स्वरूप` लिख कर मध्यकालीन हिन्दी कविता के अज्ञात तत्वों को `ज्ञात` किया है[३]। इसके अतिरिक्त डा० माता प्रसाद गुप्त, डा० श्याम सुन्दरदास, डा० दीनदयाल गुप्त, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० मुंशीराम शर्मा, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० सरनाम सिंह शर्मा, डा० हरबंश लाल शर्मा आदि अनुसन्धाताओं और समीक्षकों द्वारा अपनी कृतियों में किसी एक रचनाकार के साथ समूचे काल को बांधने परखने के कार्य हो चुके हैं[४]।

आदिकालीन सिद्ध और नाथ कवियों तथा वीर गाथा के रचनाकारों द्वारा किया गया हिन्दी कविता का समारम्भ भक्ति और रीतियुगीन हिन्दी कविता का प्रेरणा-स्रोत तथा विभिन्न काव्य-तत्वों का बीज धारक है। सिद्धों और नाथों

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित समीक्षा कृतियां

२- परम्परा का मूल्यांकन - डा० रामविलास शर्मा, १९८१ पृ० ३०-३१-५०

३- इतिहास और आलोचक दृष्टि - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा प्रयुक्त

४- तुलसीदास, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, हिन्दी साहित्य का अतीत, सूर साहित्य, सूर निर्णय - कबीर।

की परम्परा से निर्गुण भक्तों की उलटबासियाँ और योग परक रूपकों का सूत्र जोड़ कर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदि काल' नाम की सार्थकता के अतिरिक्त 'भक्ति' के दर्शन लोक विश्वास तथा भारतीय संस्कृति के अनालोचित पक्षों को आलोकित और उद्घाटित किया है । योगियों का उन्मुक्त योगाचार तथा भिक्षु और भिक्षु-णियों की अनैतिकता की प्रतिक्रिया सन्तों के हठ योग में 'मायावाद' तथा नश्वर जगत रूप में देखी जा सकती है । सन्तों की रचना में आई हुई उलटबासियां,चमत्कार-पूर्ण कथन, कूट पद तथा अन्योक्तियों का सम्बन्ध इन्हीं सिद्ध और नाथों की चमत्कार प्रदर्शन भावना से है । इस प्रकार सेवन, नाड़ी (नारी साधना) सिद्धि प्राप्ति के लिए किये गये तन्त्र और योग की व्यापकता ने काव्य-भाषा और शैली की व्यापकता का रूप धारण किया था जिससे साहित्य को उभारने के लिए लोक प्रचलित भाषा में धर्म को चुन भारी कविता की सर्जना करके सन्त और सूफी कवियों ने साहित्य के साथ-साथ काव्य-कला की रक्षा की । पन्थ और सम्प्रदाय की इतनी सारी विषमताओं के बावजूद भक्तिकाल के कवियों ने ईश्वर, जीव, जगत, माया, शैतान आदि की साहित्यिक एवं दार्शनिक सीमाओं में रक्षा की भाँति निर्मित की जिस पर साहित्य का स्वर्णांकुर जम सका ।

निर्गुण और सगुण ब्रह्म के भेद अवतारवाद, कर्मकाण्ड, भक्ति तथा विभिन्न साधनाओं के माध्यम से सर्जना शक्ति का विकास तथा कविता में सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्परा की स्पष्ट छाप के साथ-साथ काव्य-भाषा, शैली कला पक्ष तथा 'शास्त्र' की रस, अलंकार, ध्वनि एवं वक्रोक्ति की स्थापनाओं का अनुपालन भी हुआ । काव्य-भाषा के माध्यम से प्रकट होने वाला रचना का 'अर्थ' एवं अभि-व्यंजना पक्ष प्रतीक योजना, मिथकीय परिदृश्य, भाव चित्र तथा बिम्बों के रूप में रचनाकार के 'व्यक्तित्व' को समझने का साधन है । इन स्थापनाओं के अनुरूप कबीर, जायसी आदि निर्गुणोपासक (रहस्यवाद में सगुणोपासना के निकट की भावात्मकता से युक्त) कवियों ने सूर,तुलसी, मीरा, नन्ददास, परमानन्ददास आदि सगुणोपासक रचनाकारों का द्वार खोला । निर्गुण अथवा सगुण पन्थ का भेद तो अब स्थूल एवं बाधित है किन्तु कबीर के 'राम नाम भजौरे' का 'दुलहिनि गावहु मंगलाचार' द्वारा स्वागत तथा रामदेव सन भाँवरि लेहूँ और 'तन रति करि मैं

मन रति करिहौं ` सहज सकल्प `हौं जोबन मदमातो `[1] आदि उक्तियां शिष्टता
का अतिक्रमण करते हुए युग और जीवन के दबाव की सूचक हैं । जायसी की
`उतम कस्तौर छोड़ रखवारी` बरनी का बरनी इमि सुनी` कथन तथा `तन
सिंहिनी कोकिल बैनी हंसगामिनी सारंग नैनी`[2] नायिकायें आगे चलकर `नायिका-
भेद` की दृष्टि से युक्त लगती हैं । तुलसी का विरुद्धों का सामंजस्य भी काव्य-
तत्वो के सामंजस्य की दृष्टि से ध्यातव्य है । तुलसी के `मर्यादा पुरुषोत्तम`
`सोइ दशरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान` की स्वीकृति, एक काव्य रूप की
दृष्टि से `मुक्तक शैली` के बाद प्रबन्धात्मक शैली का समन्वय, ब्रजभाषा एवं अवधी
का समन्वय आदि ऐसे प्रतिमान हैं जिनसे `तुलसी` की काव्य-दृष्टि शास्त्रीय अध्ययन
मनन तथा चिन्तन से आई है । यहीं तीर सब कहुक सारी को जायसी की विशिष्ट
सौन्दर्य-दृष्टि एवं `खेलन चढ़ु सब मिलि गोरी` का प्रस्ताव, जल-क्रीड़ा में नग्न
अवस्था में गोपियों को बाहर निकलने की सूरदास की योजना में `हमारो बसन
देहु मुरारि` सदृश वन्दनादि॰`सूरसागर` की मुक्तक काव्य-योजना को प्रबन्धात्मक रूप
प्रदान करती है । जायसी और सूर की जल-क्रीड़ा में अन्तर यह है कि जायसी के
मान सरोवर वर्णन में कोई पुरुष उपस्थित नहीं रहता जबकि गोपियों की `चीर
हरण लीला` में कृष्ण का कदम्ब की डाल पर चढ़ कर मुरली बजाते हुए गोपियों
का चीरहरण सूर के समाज का एक चित्र प्रस्तुत करता है ।

निर्गुणोपासक कवियों की राह पर चलकर आये हुए `सगुणोपासना`
के बराबर रचनाकार जो पहले निर्गुणोपासक रहते हैं बाद में वे भी सगुणोपासक हो
जाते हैं । सूर की विनय और भक्ति तथा तुलसी का यह कथन कि `अब लौं नसानी
अब ना नसैहौं` रचनाकार की गहराई का परिचय देता है । रसका परिपाक तथा
अप्रस्तुत विधान की योजना तथा `लोक मंगल की साधनावस्था` को तुलसी के काव्य को
समझने का सूत्र बनाया जा सकता है । सगुण भक्तों की कृति आध्यात्मिक,धार्मिक
राजनीतिक तथा कलात्मक दृष्टि से समृद्ध अभिव्यंजना कबीर और जायसी की तुलना

१- कबीर ग्रन्थावली (कबीर) · सं० डा० श्यामसुन्दरदास

२- पद्मावत · जायसी सं० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

में उत्कृष्ट 'एक कवि-एक युग का' प्रतिनिधित्व करती है ।

भक्ति काल की सम्पूर्ण सर्जना को शास्त्रीय प्रतिमान– रसात्मकता अलंकार विधान, वक्रोक्ति ध्वनि आदि मानों में न बाटकर 'रसात्मक प्रतिमान' का प्रायोगिक रूप तथा अलंकार, चमत्कृति उक्ति-वैचित्र्य या कथन की विभिन्न भंगिमाओं के रूप में ग्रहण एवं मूल्यांकन करना समीचीन है । शृङ्गार, वात्सल्य, भक्ति तथा शान्त रस की विभाव, अनुभाव संचारियों की अवतारणा तथा आलम्बन उद्दीपन आदि की लीलाओं के विलास, सूर तथा तुलसी के काव्य में प्रभूत रूप में विद्यमान है । तुलसी को 'आखर अरथ अलंकृत नाना छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना'[1] का ज्ञान एवं ध्यान है । वे 'भुनि अवरेब कवित गुन जाती'[2] के भी समर्थक हैं किन्तु अपने दैन्य भाव तथा दास्य भक्ति के समर्पण के कारण 'कवि न होउं नहि चतुर कहावउं मति अनुरूप राम गुन गावउं' की घोषणा करते हैं । कवितावली, विनय पत्रिका, गीतावली आदि कृतियों में तुलसी के काव्य-शास्त्रीय ज्ञान और पाण्डित्य का परिचय मिलता है किन्तु वह भूमिका से कथन आरम्भ करते हैं –'कवित विवेक एक नहि मोरे' अत: उन्हें रसवादी या अलंकारवादी कहना उनके व्यापक काव्य को संकुचित सीमा में रखना है ।

अन्य शास्त्रों के ज्ञान –'नानापुराण निगमागम सम्मतं' की तरह मानस में 'काव्य-शास्त्र' के तत्व भी सन्निहित है किन्तु तुलसी अपनी कृति द्वारा जन-सामान्य के लिए 'व्यास आदि कवि पुंगव नाना' तथा 'जो प्राकृत कवि परम सयाने' के कृतित्व को 'भाषा-बद्ध करब मैं सोई' के साथ प्रस्तुत करते हैं । इनमें 'भक्ति अतिरेक' नहीं किन्तु 'मनोरथ राशि' का संकल्प है । वैष्णव, शैव, सगुण, निर्गुण आदि के समन्वय की तरह तुलसीदास रस, अलंकार, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि प्रतिमानों का समन्वय करते देखे जाते हैं ।

'कीरति भनिति भूति भलि सोई सुरसरि सम सब कहं हित होई' के

मानने वाले तुलसी 'भनिति' को सुरसरि के समान लोक मंगलकारी बनाना चाहते हैं ।

रामभक्ति की तुलना में 'कृष्ण-भक्ति' के कवियों पर नैतिकता का उतना सबल बन्धन नहीं देखा जाता । इसीलिये इन रचनाकारों का शृङ्गार के प्रति बहुला मोह 'रसमंजरी' सदृश शास्त्रीय कृति के साथ-साथ 'रासपंचाध्यायी' एवं भ्रमरगीत की सर्जना करवाता है । 'नन्ददास' ने यह पहले ही कह दिया है कि -

रस मंजरि अनुसारि कै नन्द सुमति अनुसार
बरनत बनिता भेद जह प्रेम सार बिस्तार ।[1]

अर्थात् भानुदत्त कृत 'रसमंजरी' नामक शास्त्रीय कृति के अनुरूप इस 'रस मंजरी' की रचना द्वारा बनिता भेद (नायिका भेद) तथा समस्त रसों के तत्त्व प्रेम (रति) से उद्भूत शृङ्गार रस का विस्तार किया गया है । 'नन्ददास का नायिका निरूपण अत्यन्त सपाट और विशद है । उन्होंने अपने लक्षणों का सूत्र बनाकर ही नहीं छोड़ दिया है वरन् भिन्न नायिकाओं के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है ।[2]

प्रौढ़ा, धीरा, धीरा-धीरा, ज्ञात-यौवना, उत्फुल्ल यौवना, प्रोषित पतिका, आदि नायिकाओं के भेद तथा कवित्वमय उदाहरणों द्वारा नन्ददास ने 'रीतिकाल' के आचार्य कवियों से पूर्व कवि शिक्षा[3] सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना करके नायिका भेद का एक सुन्दर पथ विधान किया है । सूरदास कृत 'साहित्य लहरी' में भी काव्य-शास्त्र की परम्परा का अनुवर्तन देखा जाता है किन्तु 'साहित्य लहरी' की प्रामाणिकता के संदिग्ध होने के कारण सूर की चर्चा आचार्य रूप में कम

१- रसमंजरी - नन्ददास (डा० रामकुमार वर्मा द्वारा - रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन में) पृ० २६ पर उद्धृत ।

२- रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डा० रामकुमार वर्मा - सं० [illegible]

३- रसमंजरी नायिका-भेद की एक सुन्दर लक्षण कृति है -
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास -(षष्ठ भाग) सं० डा० नगेन्द्र

तथा सूरसागर के रचनाकार महाकवि रूप में अंकित हुई है । `सूरसागर` में शृङ्गार, वात्सल्य तथा शान्त (भक्ति) रस के अतिरिक्त लीला या `लौल्य रस` का भी प्रसार प्रभूत रूप में विद्यमान है । इन रसों के उल्लेख का उद्देश्य मात्र सूर की `रस-दृष्टि` का परिचय कराना है जबकि `उक्ति-वैचित्र्य` तथा `अलंकृति` चमत्कृति सूर को अलंकार एवं वक्रोक्ति कला का भी पुष्ठ-पोषक बनाती है ।

कबीर और तुलसी की काव्य-भाषा सम्बन्धी लोक-भाषा की परम्परा सूर साहित्य में भी देखी जाती है । मुरली, माधुरी, पनघट लीला, चीर हरण, रास लीला कौतुक आदि से सम्बन्धित उत्कृष्ट स्थलों को देखकर यह कहा जा सकता है कि `काव्य-शास्त्र` की सीमाओं का अति-क्रमण कर प्रबन्ध-काव्य के विपरीत मुक्तक तथा पद के माध्यम से `कृष्ण लीला` की अभिव्यंजना द्वारा सूर ने जो सर्जना की है उससे काव्य-लोक जीवन के अधिक निकट आया है । `रसिक सिरोमनि` की रस युक्त लीलाओं द्वारा विद्यापति आदि लोक-भाषा के रचनाकारों की परम्परा को समृद्ध करते हुए सूर ने अलंकार निरूपण तथा अप्रस्तुत योजना के प्रतिभायुक्त विधान द्वारा केवल `द्वादसकंध बनायें वाली` `व्यास-सुक देवे` की कथा को `भाषा पद कारि गाये` ही नहीं कहा अपितु इन पदों में चित्रात्मकता उक्ति वैचित्र्य, तथा संगीत की शास्त्रीय लय बद्धता का भी परिपालन किया है । सूर का कला विधान तथा शृङ्गारप्रियता भक्ति से रीति की ओर लाने में सहायक है ।

आचार्य शुक्ल ने तुलसी की `लोक मंगल` की साधनावस्था के विपरीत सूर साहित्य में सिद्धावस्था का दर्शन किया है[१] । तुलसी के व्यापक वैभव की तुलना में सूर के काव्य में आचार्य शुक्ल को `लीला पदों` में `नीति` एवं मर्यादा का अनुपालन भी लक्षित नहीं हुआ है किन्तु गोपनीय एवं रहस्यात्मक साधना को सूर ने मुक्त प्रकृति के मंच पर `नाटक` की तरह प्रस्तुत कर `काव्य` नाट्य तथा `गेयता` का समन्वय कर `सागर` को साहित्य-शास्त्रीय-प्रवीण का सागर बना दिया है ।

१- चिन्तामणि (भाग-१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - (काव्य में लोक मंगल की

सूर काव्य की विषय-वस्तु अभिव्यंजना के स्तर पर तुलसी की तुलना में अधिक प्रभावकारी है तथा `ब्रज-भाषा' की काव्य-भाषा रूप में स्वीकृति भी उनको सफल रचनाकार बना देती है ।

साहित्य-शास्त्रीय पुनर्विचारण के रूप में भक्ति काल की समूची सर्जना को स्वीकार किये जाने पर भी रीतिकाल की तुलना में शास्त्रीय ग्रन्थों के अभाव के कारण पूर्व मध्यकाल को `अन्धकार युग' कहा जाता है । पाश्चात्य सर्जना पर धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव तथा कला पर लगे प्रतिबन्धों के कारण रोमीय, यूनानी तथा लैटिन साहित्य की सर्जना के बाद पश्चिम में सातवीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक का काल अन्धकार युग माना जाता है । इस काल में भारतीय साहित्य-शास्त्र की उत्कृष्ट सर्जना आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ कृत रसगंगाधर, भानुदत्त कृत रसमंजरी, अप्पय दीक्षित कृत कुवलयानन्द तथा महिम भट्ट कृत `व्यक्ति विवेक' आदि के माध्यम से हुई है जो मध्यकाल से आकर जुड़ जाती है । इसी प्रकार संस्कृत के बाद प्राकृत-अपभ्रंश तथा डिंगल ( राजस्थानी- पुरानी हिन्दी ) के माध्यम से होने वाली सर्जना `अन्धकार युग' में नहीं हो सकती ।

`रीतिकाल' के `रीति-सिद्धान्तों' की शास्त्रीय-स्थापना जिन कृतियों तथा कृतिकारों द्वारा हुई है उनमें भी भक्ति के साम्प्रदायिक सिद्धान्त एवं दर्शन की आवृत्ति विभिन्न रूपों में देखी जा सकती है । `सेनापति' `केशव', `रहीम', `रसखान', बिहारी और `देव' से चलकर भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔध तक आती हुई भक्ति काव्य की परम्परा प्रेम, माधुर्य एवं शृंगारिकता के कारण भले ही प्रच्छन्न हो गई हो किन्तु भक्ति काल का `दाय' `काव्य' एवं शास्त्र की परम्परा के लिए `अमूल्य' है । `भक्तिकाल' के कवियों द्वारा `काव्य-भाषा' के रूप में किया गया जन-भाषा सम्बन्धी आन्दोलन `संस्कृत साहित्य' के समकक्ष `ब्रज-भाषा' को स्थापित करने में सक्षम हो सका ।

`विनय पद' अथवा `दरियाई' की भावात्मक रचना सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश की भावना के सूत्र में बांधकर `भारती' तथा `भारत' की राष्ट्रीय परिकल्पना का आधार बनी । `शक्ति', `सिद्धि', `विधि', `मुक्त' का भौगोलिक [illegible]

'साहित्य' का आश्रय भक्ति काल के इस पूर्व युग में देखा जा सकता है । विदेशियों के आक्रमण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न आत्महीनता की भावना से प्रेरित होकर 'हिन्दू' जागरण के अग्रदूत भक्त कवियों ने 'शास्त्र' के पथ को त्यागकर सुकुमार भावना से युक्त 'काव्य' की रचना करके 'काव्य-शास्त्र' को कविता के माध्यम से व्यक्त किया जो शास्त्र को जन-जीवन के निकट लाने में सहायक रहा । तुलसी के मानस (रामायण) या सूर के पदों के गायन का जो प्रचलन हिन्दी क्षेत्र में प्रारम्भ हुआ उससे - 'पोथी पढ़ने के अतिरिक्त जन-जन की भावना में 'राम', 'सीता', 'राधा', 'कृष्ण' आदि चरित्रों के सहारे 'काव्य' अनपढ़ जनता तक पहुँचा और यही सर्जना की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि तथा सिद्धि है ।

रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति तथा गुण आदि काव्य-तत्वों का समन्वित रूप भक्ति काल की रचनाओं में देखा जाता है । उत्तर मध्य-काल की रीति सिद्धान्त की प्रेरणा इन्हीं कृतियों में विद्यमान है । 'काव्य' तथा 'शास्त्र' साहित्य-शास्त्र के दो प्रमुख अंग हैं । 'शास्त्र' का सम्बन्ध चिन्तन, मनन, दर्शन एवं विज्ञान से तथा 'काव्य' का सम्बन्ध भाव-रस, 'अनुभूति' से जोड़े जाने के कारण 'कविता' को 'शास्त्र' की तुलना में सरल-सुगम तथा भावना के निकट माना जाता है । इस प्रकार भक्ति काल की इस सर्जना में 'काव्य की सर्वांगपूर्णता तथा 'काव्यानुशासन' के ग्रन्थों के न रचने पर भी 'अनुशासन', 'नियमन' जीवनानुभव तथा आलोचन की प्रवृत्ति विद्यमान है ।

समीक्षण प्रतिमानीकरण तथा मूल्यांकन की दृष्टि से 'पूर्वमध्यकाल' 'काव्य-शास्त्र' का 'बीजयुग' कहा जा सकता है । इस युग के समानान्तर चलने वाली संस्कृत 'काव्य-शास्त्र' की परम्परा यह प्रमाणित करती है कि काव्यानुशासन और नियमन हेतु 'शास्त्र' का सृजन इस युग में भी संस्कृत में हो रहा था । आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण, पण्डितराज जगन्नाथ कृत 'रसगंगाधर' के अतिरिक्त 'कुवलयानन्द', 'व्यक्ति विवेक', 'रसमंजरी' आदि रचनायें इसी युग में रची गईं । शास्त्रीय प्रतिमानों की दृष्टि से 'संस्कृत काव्य शास्त्र' की परवर्ती परम्परा समन्वय से युक्त है । अलंकार, शब्द शक्तियाँ, ध्वनि, वक्रोक्ति रस आदि के विवेचन

के अतिरिक्त इस काल में एक ही कृतिकार द्वारा 'रस' अथवा 'ध्वनि' के महत्त्व को स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य शास्त्रीय उपादानों को रस अथवा 'रसध्वनि' के पोषक रूप में अलग-अलग रूप में निरूपित किया गया ।

उपनिषद्, अध्यात्म, वेदान्त तथा धार्मिक ग्रन्थों में निरूपित 'ब्रह्मानन्द सहोदर' रस की परिकल्पना इसी युग की देन है जो 'उज्ज्वल नील मणि सिन्धु' 'भक्ति रसामृत सिन्धु' तथा शाण्डिल्य और नारदीय भक्ति सूत्रों से परिपुष्ट होकर 'रसिक प्रिया', 'कविप्रिया', 'भाव विलास', भवानी विलास, 'काव्य निर्णय' तथा शृङ्गार निर्णय आदि रीति ग्रन्थों में 'रस' के ऐहिक आनन्दवादी तथा इन्द्रिय-जन्य सुख का आधार बनी ।

(ख) समीक्षा प्रतिमानों की रीति-शास्त्रीय परम्परा : रीति काव्य या रीतिशास्त्र

भक्तिकालीन हिन्दी कविता के आध्यात्मिक रहस्यवाद, शृङ्गारिकता, परलोकोन्मुखी आदर्शिकता तथा भावात्मक आनन्दानुभूति के स्थान पर उत्तर मध्य काल में नायक-नायिका भेद पर आधारित लोकोन्मुखी सुख, इन्द्रियजन्य अनुभूति, शारीरिक अवयव की गठन आदि से युक्त परिवर्तित जीवन दृष्टि कविता में स्थान पाने लगी । सामन्तीय जीवन तथा दरबारी वातावरण का प्रभाव काव्य-भाषा, विषय-वस्तु, रसपरक अनुभूति एवं उक्ति-वैचित्र्य से होकर सम्पूर्ण कला-विधान पर परिलक्षित होने लगा । 'कुंदन को रंग फीको लगै' की स्पर्धा में 'झलकै अति सुन्दर आनन गौर'[1] की 'कलानिधि' बन कर कालिन्दी के नीर तुल्य अति महीन आवरण पटों से झलकने के परिणामस्वरूप 'नैन दुखी भयनि' 'निहारि बिना ही निहार बारि' एवं निराकुल हो गयी ।[2] आचार्य केशवदास, मतिराम, चिन्तामणि, भिखारीदास, देव एवं पद्माकर

1- कुंदन को रंग फीको लगै - - - - - बिहारी - मतिराम

2- छिप्यो छबीलो मुँह लसै नीले अंचल चीर, मनु कलानिधि झलमलै कालिन्दी के नीर । — बिहारी सतसई - (रीति काव्य की भूमिका से - डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत) ।

आदि आचार्य बिहारी, सेनापति घनानन्द, द्विजदेव ठाकुर सदृश कवि तथा शेख, आलम बोधा आदि स्वच्छन्द रचनाकारों ने भी युग के दबाव के अनुरूप लोकप्रियता की प्राप्ति तथा चमत्कार प्रदर्शन हेतु राधा और कृष्ण को 'लाल' तथा 'लली' की सीमा से आगे 'वृषभानुजा- गाय- तथा हलधर के वीर'[1] बैल बनाकर ही दम लिया ।

चमत्कार प्रदर्शन, दुरारूढ़ कल्पना, पाण्डित्य-प्रदर्शन एवं अतिरंजना ने कहीं मरुस्थल में बसन्त ला दिया तो कहीं प्रवाहित सरिता में विविध सुमनों की वाटिका लगाई तो कहीं पहाड़ों और पठारी भाग में भी मैदान की अमराई में कोयल की कूक सुनी जाने लगी । जब श्याम बिना कुंज ही केलन चलु सन मिलि औरो' का प्रस्ताव करने लगे और 'ब्रज डोलि निकुंज मग में पग पग पर बिना झुरमुट की ओट के ही पग पर 'सगुन' होने लगा[2] । 'रीतिकाल की यह कविता जितनी ही सरस रही हिन्दी समीक्षा के उद्भव काल में ऐसे उतने ही सहृदय आलोचक भी मिल गये । 'मिश्र बन्धु' पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन 'दीन' आदि ने अपनी सहृदयतापूर्ण टीकाओं और रसभरी समीक्षा द्वारा 'रीति' का उद्घाटन हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में किया । इस युग के आलोचकों की मानसिकता अधिकतर रीतिकालीन काव्य से बनी । इसका एक कारण यह भी था कि रीति ग्रन्थों में जो[3] काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त कथन था उसका व्यावहारिक प्रयोग उन्हीं पर किया जाये । समीक्षा प्रतिमानों की रीतिकालीन परम्परा का अवलोकन करने से पूर्व आधुनिक काल की समालोचना के आरम्भिक चरण पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है जहाँ से संस्कृत[4] के अनुतन प्रिय काव्य-शास्त्र से अलग हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना आरम्भ हुई है । काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष से प्रतिपादित शास्त्रीय

१- जो घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर - बिहारी सतसई (बिहारी)

२- लखि डोलत हरि राधिका - - -- पग पग होत प्रयाग- बिहारी सतसई (बिहारी)

३- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी-पृ०१९९-२००

४- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८६, पृ० २०० ।

प्रतिमान रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य मत से मुक्त होकर हिन्दी की स्वतंत्र समीक्षा का विकास आचार्य महावीर प्रसाद मिश्रबन्धु पद्मसिंह शर्मा तथा इनके पूर्ववर्ती निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट, चौधरी बदरी नारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' आदि द्वारा हुआ[1]। आचार्य द्विवेदी द्वारा शुद्ध काव्य-भाषा प्रयोग तथा गद्य एवं पद्य को समान-भाषा पर जोर दिये जाने के अतिरिक्त कविता को शास्त्रीय प्रभाव एवं रीति कुलीन कला-प्रियता, चमत्कृति उत्हात्मक व्यंजनाओं से मुक्ति दिलाने का जो प्रयास हुआ था उसका सीधा प्रभाव उस समय की समालोचना दिशा पर भी पड़ा। इसी समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आगमन निबन्ध लेखन तथा समालोचना क्षेत्र में हुआ। जिन्होंने अपने लेखन के आरम्भिक चरण में द्विवेदी युग के संस्कार ग्रहण कर-रीतिकालीन कविता की चमत्कृति को अस्वीकार करने के साथ ही अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों और टीकाकारों की प्रवृत्ति को तजकर नये पथ का अनुसन्धान किया।

आचार्य शुक्ल के समीक्षा क्षेत्र में पदार्पण करते समय तक मिश्रबन्धु विनोद 'हिन्दी नवरत्न' आदि ऐतिहासिक कृतियां प्रकाशित हो चुकी थीं। 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी और देव' सम्बन्धी विवाद में पं० पद्मसिंह शर्मा बिहारी के प्रशंसक तथा मिश्रबन्धु देव के समर्थक थे[2]। मतिराम, चिन्तामणि, बिहारी, केशवदासादि रीतिकालीन कवि एवं आचार्यों के कृतित्व का मूल्यांकन तथा इनके सरस काव्य का पाठ उस समय की रुचि थी जो पं० पद्म सिंह शर्मा के संस्कारों से प्रकट हो जाती है। शर्मा जी संस्कृत के आचार्य तथा फारसी के विद्वान थे जिसके कारण वे रीति कुलीन कलात्मकता एवं आचार्यत्व के समर्थक भी थे। साहित्य और समीक्षा के साथ-साथ रीतिकालीन रचनाओं पर टीकायें भी लिखी जा रही थीं। इन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आचार्य शुक्ल ने 'रीतिकाल' के साथ न तो सही समीक्षात्मक न्याय किया और न ही 'रस-दृष्टि' की नैतिकता की सीमा में वे 'रीति-युग' की 'रस-रीति' को ही स्थान दे सके।

अत्यधिक मांसलता वर्जित शृंगार-प्रियता और नायिका भेद की

१- हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी, निर्मल जैन, (भूमिका)

२- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,

प्रतिमान रूप में मान्य और चर्चित होने के कारण आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० सत्यदेव चौधरी तथा डा० ओम प्रकाश (कुलश्रेष्ठ) सदृश अध्येताओं के ध्यानाकर्षण का कारण बना । रीति सिद्धान्त की ओर मुड़कर इन अध्येताओं ने उन्हीं परम्परित अर्थों एवं सन्दर्भों में 'रीति' शब्द को ग्रहण करना आरम्भ किया । डा० भगीरथ मिश्र ने 'रीति' का अर्थ 'मार्ग' करते हुए भी इसमें 'कला' की अस्मिता स्वीकार की है[1] तथा डा० रामकुमार वर्मा भी इसी अर्थ के समर्थक हैं[2] । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'सम्पूर्ण काल' की ऐतिहासिक प्रवृत्ति के नामकरण के लिए 'शृङ्गार-काल' की सार्थकता का समर्थन किया है । उन्होंने भी आचार्य शुक्ल की चिन्तन परम्परा को आगे बढ़ाते हुए यह सम्भावना उभराई है । आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल के लिए शृङ्गार काल विकल्प रूप में माना था । 'रीति बद्ध' (शीर्षक) स्तम्भ के अन्तर्गत 'लक्षण बद्ध' तथा 'लक्ष्य मात्र' के प्रवर्तक कवियों को आचार्य मिश्र ने मुख्य रूप से रेखांकित किया है[3] । डा० नगेन्द्र ने 'रीति' तथा रीति सिद्धान्त का अशिष्ट लक्षण बताते हुए लिखा है कि 'हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण-ग्रन्थों के लिए होता है जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति ग्रन्थ कहते हैं, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे 'रीति-शास्त्र' कहते हैं[4] । डा० नगेन्द्र के इस लक्षण पर कुछ कहने से पूर्व उनकी सीमा का भी ध्यान आवश्यक है । उन्होंने उपर्युक्त परिभाषा 'रीति काव्य की भूमिका' के अन्तर्गत

1- हिन्दी साहित्य (द्वितीय भाग), भारतीय हिन्दी परिषद्, प्र० १६५६, पृ० ४२२ ।

2- रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डा० रामकुमार वर्मा,प्र० १६८४,पृ० २

3- (क) वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,सं० २०३४,पृ० २८५

(ख) 'शृङ्गारकाल के लिए आचार्य शुक्ल का कथन'

(कोई शृङ्गारकाल कहे तो कह सकता है) हिन्दी साहित्य का इतिहास

4- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १६४६, पृ० १३१

दी है जिसमें `रीति-काव्य` तथा `रीति-शास्त्र` के दो प्रमुख तत्वों का उद्घाटन तो हुआ है किन्तु `रीति` का स्पष्टीकरण इसमें नहीं है । इससे यह प्रकट होता है कि डा० नगेन्द्र के लक्ष्य में `देव` सदृश लक्षण ग्रन्थकार हैं जिनके लिए रीति का प्रथम रूप `रीति ग्रन्थ` प्रयुक्त हुआ है[1]। अन्य रूप `रीतिशास्त्र का विवेचन` कृति के प्रथम भाग से सम्बन्धित है जो `रीति काव्य की भूमिका` का विवेच्य विषय है । इसी क्रम में उन्होंने यह भी कहा है कि आचार्य शुक्ल से पूर्व `मिश्र-बन्धु विनोद` में एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की गई है । उक्त `मिश्र बन्धु विनोद`[2] में `रीति ग्रन्थों का प्रचार` तथा आचार्यत्व की वृद्धि की ओर संकेत है । `कविता करने की रीति` (कवि शिक्षा) एवं `विविध अंगों वाले ग्रन्थों के स्थानापन्न ग्रन्थों के माध्यम से मिश्र बन्धुओं ने `रीति काव्य` तथा `रीति शास्त्र` को अलग किया है तथा डा० नगेन्द्र ने भी इसी का अनुवर्तन किया है ।

डा० रामकुमार वर्मा रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों में से `कलात्मकता` को विशेष महत्व देकर इसके `कलाकाल` नाम का समर्थन करते हुए मुख्यतः इस युग की पच्चीकारी, सजावट की अधिकता एवं चमत्कारपूर्ण[3] वर्णनों पर दृष्टि डालते हैं । इस युग की महत्वपूर्ण कलात्मक उपलब्धि `सतसई` के उदाहरण द्वारा डा० वर्मा ने रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया है । उन्होंने `केशव की अलंकार योजना का समर्थन करते हुए `काव्य के सबसे बड़े कलाकार` की संज्ञा दी है, जो `एक अलंकार चित्र के भीतर अनेक अलंकारों की झांकियां प्रस्तुत करने में सक्षम है`[4]।

`रीति काल` परवर्ती समीक्षा में वर्णित तथा युग की काव्यगत उपलब्धि का एक भाग है जिसमें रीतिपरक की विवेचना करते हुए सभी समीक्षकों ने भाव, कला, शृंगार, विशिष्ट पद रचना, आचार्यत्व, लक्षण ग्रन्थों की रचना आदि

१- देव और उनकी कविता - डा० नगेन्द्र, संस्क० [illegible], पृ० १३५

२- रीति काव्य की भूमिका में डा० नगेन्द्र द्वारा पृ० १०२ पर प्रयुक्त ।

३- रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डा० रामकुमार वर्मा - लखनऊ.

ध्वनित अर्थों में समीदय युग की किसी न किसी प्रवृत्ति का दर्शन किया है । `रीति` को `काव्यरीति` अथवा `काव्य लक्षण` का पर्याय मानना उसको सकुचित अर्थ में स्वीकार करना है तथा `कलात्मक परिदृश्य` को सम्पूर्ण काल खण्ड की उपलब्धि मानने पर भी `रीति` का अर्थ मात्र `कला` नहीं किया जा सकता । अधुनातन समीक्षा में `व्यक्तित्व की छाप` तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षकों से प्रभाव ग्रहण करके यह भी स्वीकार किया जाने लगा है कि प्रत्येक रचनाकार की कृति में उसका काव्य-क्रम-काव्य शैली स्टाइल की अभिव्यंजना हुआ करती है[1]। वाल्टर पेटर का यह कथन इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि - `स्टाइल इज़ मैन हिम सेल्फ`[2] । काव्य व्यक्तित्व काव्य-शैली का ही दूसरा रूप है जो कृति में प्रच्छन्न रहता है । इस `स्टाइल` के हिन्दी अनुवाद रूप में रीति या क्रम को स्वीकार करने पर `शैली विज्ञान` और `रीति-विज्ञान` को भी एक मानना पड़ेगा । क्योंकि रीति-विज्ञान `काव्यशास्त्र` का परवर्ती क्रम-सम्बद्ध पर्याय है और शैली-विज्ञान आज के भाषा-विज्ञान तथा समीक्षा परक अध्ययन से मिलता-जुलता एक ऐसा समन्वित अनुशासन है जिसमें `काव्य-शैली` को ही समीक्षा का आधार बनाकर कृति के मर्म में निहित तत्वों का उद्घाटन किया जाता है । प्रस्तुत प्रकरण में `रीति` को भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में वामन आचार्य `वामन` के स्वीकृत अर्थ में ग्रहण करना इसलिए समीचीन है कि उत्तर मध्यकालीन कविता में निहित शास्त्रीय प्रतिमानों के आकलन द्वारा समीक्षा के क्षेत्र में इनकी परवर्ती उपलब्धि का रेखांकन ही इस अनुशीलन का उद्देश्य है ।

`रीति` भारतीय काव्य-शास्त्र का एक प्रतिष्ठित, बाहुल्य रूपायित एवं अभिव्यंजना दृष्टि पर आधारित प्रतिमान है जिसका एक रूप है कृति की बाह्य कलात्मकता-सौन्दर्यबोध तथा दूसरा रूप उसकी संगत शास्त्रीय विवेचना का आधार है । इतिहास ग्रन्थों में वर्णित युगकालीन कला, विलासिता, चमत्कार प्रियता तथा नारी सौन्दर्य के इन्द्रियजन्य आकर्षण ने न केवल एक सांस्कृतिक परम्परा को जन्म

१- स्टाइल इज़ मैन हिमसेल्फ - `वाल्टर पेटर` (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा) ।

युग दृष्टि का परिचय दिया[1]।

आलोच्य विषय के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण प्रश्न कवि शिक्षा के ग्रन्थों की मौलिकता से सम्बन्धित है । संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्य भामह, वामन, दण्डी, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने खण्डन-मण्डन की सूक्ष्म प्रक्रिया द्वारा एवं प्रचलित मतवाद का समर्थन अथवा नये मत की प्रतिष्ठा द्वारा जो वैदुष्य तथा कारयित्री प्रतिभा प्रदर्शित की वैसी सर्वांग दृष्टि एवं आलोचन क्षमता रीति-युगीन आचार्यों में नहीं थी[2]। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है कि 'संस्कृत से रीति की पकी पकाई सामग्री लेकर ये कवित्व शक्ति का ही प्रदर्शन करना चाहते थे अतः इनके मत्थे शृंगार ही था[3]. . . हिन्दी के इन कवियों की शास्त्रीय पक्ष पर दृष्टि नहीं थी । तथ्य की बात यह है कि ये ग्रन्थ शास्त्र चर्चा और विवेचन की दृष्टि से लिखते ही नहीं थे । अधिकतर प्रणेताओं का उद्देश्य शास्त्र के बहाने रचना-कौशल का प्रदर्शन था । इनके लिए बड़ी मुश्किल बड़ी बात थी कि ये संस्कृत ग्रन्थों को ठीक-ठीक समझ कर हिन्दी में यथावत् उतार दें[4]। आचार्य मिश्र ने कवित्व शक्ति का प्रदर्शन चमत्कृति तथा शृंगार की प्रवृत्ति से प्रेरित रीतियुगीन आचार्यों की प्रतिभा की सीमा और समझ को - संस्कृत ग्रन्थों को ठीक समझकर हिन्दी में उतारना तक है जबकि इसी युग के कई रचनाकारों में प्रसिद्ध प्रतिभायें भी हैं ।

रीति प्रवाह के अन्तर्गत चमत्कार प्रदर्शन के लिए कला के सूक्ष्मातिसूक्ष्म (काव्य) तत्वों का प्रस्तुतीकरण युग-आवश्यकता का परिचायक है । आश्रयदाता की दृष्टि राजकुल के लोगों के लिए काव्य-शास्त्र की सर्जना तथा आगे आने वाले सुकवि यदि इन कविताओं के सौन्दर्य गुण एवं रसात्मकता से रीझ सकेंगे तो कविताई होगी अन्यथा 'हारे को हरिनाम' की तरह राधिका कन्हाई सुमिरन का बहाना

१- वाङ्मय-विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संस्क० २०२१, पृ०

२- रीतिकाव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९४९, पृ० १४४

३- वाङ्मय विमर्श - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२१, पृ० १८१

४- ,, ,, ,, ,, , पृ० १८०

होगा । रीतियुगीन सामन्तीय वातावरण को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने `आदिकालीन` काव्य की प्रवृत्तियों की विकास अवस्था कहा है । इसी प्रकार डा० नगेन्द्र ने रीतिकाल युग की शृंगारिकता का सम्बन्ध प्राकृत अपभ्रंश से जोड़ा है जिसका समर्थन डा० भगीरथ मिश्र तथा डा० रामकुमार वर्मा ने भी किया है । संस्कृत साहित्य के समानान्तर रचे जाने वाले संस्कृत-काव्य-शास्त्र के उपरान्त प्राकृत, अपभ्रंश के युग में `काव्य` का `प्रभाव` तथा शास्त्र का अभाव था, जो परम्परा भक्ति काल में भी पूर्वार्द्ध युग तक देखी गई । मध्यकाल के उत्तरवर्ती चरण में दोनों परम्परायें एक में मिलती सी दिखाई पड़ती हैं । आचार्य केशव, मतिराम, भिखारीदास और देव केवल कवि ही नहीं अपनी संस्कृत शास्त्रीय प्रतिभा के वाचक और अध्येता थे । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल की प्रवृत्तियों के मूल्यांकन के साथ-साथ अपने गुरुवर आचार्य शुक्ल की परम्परा के अनुपालन के कारण `रीति काल` के अधिकांश कृतित्व को उसकी सीमा से बाहर कर दिया था जो आज भी समीक्षा क्षेत्र की विसंगति कही जाती है ।

`रीति काव्य` तथा `शास्त्र` के बीच की रेखा कहीं-कहीं समाप्त होते देखकर तथा सर्वथा पर आचार्यत्व का अभाव स्वीकार करने के साथ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र आदि विद्वानों ने रीतियुगीन, रीति सिद्ध, रीति बद्ध, तथा रीति मुक्त कोटियों में विभक्त किया गया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम `रीति ग्रन्थकार कवि` तथा `अन्य कवि` की कोटियां निर्धारित करने के साथ ही सामान्य प्रवृत्ति के अनुशीलन की सार्थक परम्परा निर्मित की थी,[1] जिसका परिपालन करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने `रीति काल` को `शृंगार काल` नाम देने की संस्तुति की[2] । शृंगार काल `शुक्ल जी की दृष्टि में `रस के विचार` का रेखांकन तथा रीतिकाल `काव्यरीति` के समन्वय नाम है[3] । यदि `रस के विचार` तथा `काव्यरीति` को एक काल खण्ड की प्रवृत्ति के दो अलग नाम लिये जायें तो उस खण्ड की `शास्त्र सम्बन्धी` कवि शिक्षा की परम्परा को `रीति` में समाहित किया

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१२, पृ० २४८

2- हिन्दी साहित्य का अतीत - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (विमर्शन) सं० २०२४, भाग-२, पृ० ३८२ ।

3- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१२, पृ० २३०

जा सकता है तथा 'रसात्मकता' को कविता का 'तत्त्व' मानकर 'अनुभूति' की प्रमुखता दी जा सकती है । प्रतिमानीकरण की दृष्टि से दोनों नामों की सार्थकता दो आचार्यों के दृष्टिकोण भेद से उद्भूत है । 'रसवादी' होने के अतिरिक्त नैतिकता एवं लोकमंगल की लक्ष्मण-रेखा खींचकर उसके बाहर की प्रवृत्ति को अपनी आचार्य दृष्टि से नगण्य तथा 'महत्वहीन' मानना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मूल्यांकन प्रक्रिया का परिणाम है न कि 'समीक्षण' अथवा प्रतिमानीकरण । इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा 'लक्षणबद्ध' (रचना) तथा 'लक्ष्य मात्र' से सम्बन्धित कविता का (पृथक) विभाजन 'रीति के नाम पर एकत्र राशि' अथवा समुदाय में सभी रीति ग्रन्थ प्रणेताओं का आचार्य सिद्ध न होने से सम्बन्धित समस्या है[1]। 'रीति का पल्ला सहारे के लिए' पकड़ने वाले कवियों को 'रीति सिद्ध', तथा 'रीति बद्ध' कविता करके 'आचार्य' कहलाने के हकदार कवियों को अलग कोटि में रखा । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इस वर्गीकरण में शुक्ल जी का विरोध एवं परम्परा अनुस्यूत है[2]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिहारी, मतिराम, चिन्तामणि, पद्माकर आदि को एक ही शीर्षक 'रीति ग्रन्थकार कवि' के अन्तर्गत स्थान दिया था[3]। 'लक्ष्यांग बद्ध रचना' को प्रतिमान रूप में स्वीकार करने पर भी आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी को रीति का आधार लेकर केवल लक्ष्य प्रस्तुत करने वाले रचनाकार रूप में मान्यता दी परन्तु उन्हें 'रीति बद्ध' रचनाकार ही रहने दिया । इस सम्बन्ध में 'हिन्दी साहित्य का अतीत' में यह तर्क दिया गया कि 'रीति बद्ध कृति उन्हीं की नहीं थी जो लक्षण लिखकर और लक्ष्य बनाकर उसमें उसका विनियोग करते थे, प्रत्युत उनकी कृति भी रीति बद्ध ही थी जो लक्षण ग्रन्थ न रचकर 'रीति का आधार लेकर केवल लक्ष्य प्रस्तुत करते थे ।'[4] संस्कृत काव्य-शास्त्र की पकी पकाई सामग्री लेकर रचना करने

१- हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं०२०२३, पृ० ३८१ ।

२- हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२, पृ० ३८१

३- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य राम चन्द्र शुक्ल

४- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २) - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२, पृ० ३८२

वाले रीति युगीन कवि मिश्र जी की दृष्टि में 'आचार्य' कहलाने के पात्र नहीं हैं । 'रीति बद्धता' से बाहर न होने के कारण वे भी उसी श्रेणी में स्थान पाये हैं । 'अच्छे से अच्छे शृंगारी कवि को 'रीति' परम्परा से छाँट कर पृथक किये जाने पर असहमत होने पर भी आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य शुक्ल की समस्या का समाधान नहीं कर सके । 'फुटकल खाते'[1] से अलग खाते में रखना समय-भेद का सूचक प्रयास है अतः बिहारी को उनकी 'शृंगारी वृत्ति' के कारण भी मिश्र ने नहीं रहने दिया जहाँ शुक्ल जी ने उन्हें स्थान दिया था ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा किया गया यह परिवर्तन 'शृंगार काल' नाम स्वीकार करने के कारण है । अनेक तर्कों के आधार पर जिस 'शृंगार' को मिश्र उजागर करना चाहते हैं शुक्ल जी ने उसे पहले ही कह दिया था । 'रीति काल' के दो मूल्यांकन कर्ताओं के दृष्टिकोण-भेद में समीक्षा- 'प्रतिमान' का अन्वेषण एक ही काव्य-प्रवृत्ति के दो अन्योन्याश्रित पक्षों का रेखांकन है । जिस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र में रस, अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति के व्यापक और संकुचित अर्थ किये गये हैं उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी 'रीति' का अर्थ उत्तर मध्यकालीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप किया जाना समीचीन है । सम्बन्धित युग की रचना के मूल्यांकन के समय रचनाकार की सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां कृति की समीक्षा के लिए अभिव्यंजित तथा वस्तुगत प्रतिमानों को जन्म देती हैं । लेखक चूंकि किसी न किसी रूप में जीवन का चित्रण करता है इसलिए उसकी जीवनानुभूतियों को उसकी भावनाओं, कल्पनाओं और जीवनानुभूति रंजित बुद्धि को उत्तेजित और प्रोत्साहित करने या कर सकने वाली शब्दावली और शैली में जब तक कोई समीक्षा या सिद्धान्तवाद या विचारधारा प्रस्तुत नहीं की जाती तब तक वह उसे प्रभावित या प्रोत्साहित अथवा प्रेरित नहीं कर सकती।[2] मुक्तिबोध की इस स्थापना के अनुसार रीति काल का 'काव्य' तथा 'शास्त्र' अन्योन्याश्रित है । इस युग के आचार्यों ने एक सिद्धान्तवाद -'रीति सिद्धान्त

१- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २)- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२, पृ० ३८३

२- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ग० माधव मुक्तिबोध, सं०१९७१ - पृ० ९०

लक्षण ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किया था जो तत्कालीन रचनाओं का प्रेरक रहा । नायिका भेद इसी प्रकार की एक विचारधारा है जो 'रीति' एक प्रकार से पृथक है ।

रीति युग के सृजन पक्ष पर विचार करते समय इस युग के रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है । 'रीति सिद्ध' रचनाकारों द्वारा सिद्धान्तवाद का अनुवर्तन उनकी विवशता थी । गजानन माधव मुक्तिबोध ने सृजनप्रक्रिया के जिन क्षणों का उल्लेख किया है[1] वे सब रीतिकाल के कवियों के लिए भी लागू होते हैं । आश्रयदाताओं की दृष्टि तथा रसिकों की रुचि के अनुरूप रचना करना 'तत्व तथा 'अभिव्यक्ति' का संघर्ष कहा जा सकता है । कवि शिक्षा एवं 'रीति सिद्धान्त' 'दृष्टि-विकास' के उपादान रूप में प्रेरक रहा है जो इस काल खण्ड की समस्त कृतियों पर - यहां तक कि स्वच्छन्द काव्य-धारा पर भी विद्यमान है । इस विचार को उद्धृत करने का उद्देश्य भी यही है कि समीक्ष्य युग की कविता के समीक्षा प्रतिमान इसी काल से ग्रहण[2] करना चाहिए । 'अथ चारित रमणीय'— काव्य तथा विचारित सूक्ष्म-शास्त्र चर्चा का तात्विक "समालोचन रीति साहित्य के दो पक्षों को समझने में सहायक है । रीति के शास्त्रीय तत्व का अनुशीलन 'रीति-सिद्ध' अथवा 'रीति बद्ध' कविता में करना आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का लक्ष्य है तथा इस दृष्टि से उनका विवेचन सार्थक है ।

रीति बद्ध लक्षण ग्रन्थकारों की चर्चा में जो सैद्धान्तिक तत्व उपलब्ध हैं उनका प्रायोगिक रूप रीति सिद्ध रचनाओं में देखा जाता है । 'लक्षण ग्रन्थकार' कृपाराम, केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, भिखारीदास ने जो रचनायें की हैं उनमें उत्तरमध्यकालीन कविता के प्रतिमान रेखांकित किये जाते हैं । मौलिकता स्वच्छ वाक्-वादिता, प्रतिभा तथा आचार्यत्व के संदिग्ध होने पर भी उत्तरमध्यकाल के इन रचनाकारों द्वारा हिन्दी का काव्यशास्त्र हिन्दी भाषा में रचकर शास्त्रीयता से मुक्ति

१- नयी कविता का आत्मसंघर्ष - मुक्तिबोध - १९६४, पृ० ३७
(१- तत्व के लिए संघर्ष, २- अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, ३- दृष्टि विकास का संघर्ष)।

२- रीतिकारों की काव्य-मीमांसा के आधार पर वाङ्मय लिखी है - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन ।

दिलाने का प्रयास उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए । अपने समकालीन कवियों के लिए कवि-शिक्षा तथा आश्रयदाताओं में सहृदयता उत्पन्न करने का जो कार्य इन रचनाकारों ने किया है उससे हिन्दी की स्वच्छन्द शास्त्र रचना का द्वार खुला । `स्वच्छन्द' से इस सन्दर्भ में अर्थ है शास्त्रीयता से काव्य-भाषागत मुक्ति जो `विक्टोरियन' युग के नाटककारों या वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि कवियों से पृथक एक आंशिक क्रान्ति के रूप में रेखांकित किया जा सकता है । रीतिकाल के ये लक्षण ग्रन्थकार भले ही संस्कृत काव्य-शास्त्र की सैद्धान्तिक रूढ़ियों को तोड़ने में समर्थ न हुए हों किन्तु लक्षण ग्रन्थों में `विचारित सुस्थ' शास्त्र को अविचारित रमणीय-काव्य से समायोजित कर नवीन काव्य-शास्त्र की परम्परा निर्मित करने के कारण ये रचनाकार उल्लेखनीय हैं । `काव्य' में रमणीयता उत्पन्न करने वाली नवता आचार्यों की प्रतिभा एवं ज्ञानात्मक संवेदन का परिणाम है । संवेदनात्मक ज्ञान के ठीक विपरीत होने पर भी रीतिकालीन रचनाकारों का ज्ञानात्मक संवेदन निश्चय ही इस युग का काव्य-शास्त्र है जिसे डा० सत्य प्रकाश मिश्र ने `कवि-शिक्षा' रूप में स्वीकार किया है[1] । डा० जगदीश गुप्त के `टाइप' के माध्यम से रीतिकालीन रचनाकारों का व्यक्तित्व विश्लेषण करते हुए डा० मिश्र ने युगीन परिस्थितियों को महत्त्वपूर्ण कहा है जिसके कारण उस युग के अध्येताओं तथा नव कवियों में `काव्य' का संस्कार तथा रुचि उत्पन्न हुई । आचार्य दण्डी के `विदग्ध' अभिनवगुप्त के `सहृदय' के स्थान पर भीखदास द्वारा प्रयुक्त किये शब्द `रसिक'[2] को आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० बच्चन सिंह तथा डा० सत्य प्रकाश मिश्र ने उपयुक्त मानकर इस युग में रुचियों को रेखांकित किया है । संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्य तथा इधर मध्यकालीन हिन्दी के रसिकत्व आचार्यों में अन्तर करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा ने भिन्न बिन्दुओं पर सहमति व्यक्त की है ।

1- कवि शिक्षा की परम्परा और हिन्दी रीति साहित्य - डा० सत्य प्रकाश मिश्र,
सं० [illegible], पृ० [illegible] ।

2- `रसिक' शब्द का प्रथम बार प्रयोग `भीख' की कृतियों में हुआ था भिखारी -
डा० रामपूर्ति त्रिपाठी, सं० [illegible], पृ० [illegible] ।

(१) रीतिकाल के इन आचार्यों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र की परवर्ती परम्परा का अनुवर्तन करते हुए `रस गंगाधर`, कुवलयानन्द, रसमंजरी तथा शृंगार-प्रकाश से शास्त्रीय तत्त्व ग्रहण किया है ।

(२) रीति युग के समीक्ष्य आचार्यों में संस्कृत आचार्यों की तुलना में मौलिकता, प्रतिभा, पाण्डित्य तथा गहन चिन्तन का अभाव है किन्तु इनकी `रसिक` ग्राहिता वृत्ति उल्लेखनीय है ।

(३) जिस प्रकार आचार्य भरतमुनि, भामह, वामन, दण्डी, अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने `रस` अलंकार `रीति` वृत्ति `वक्रता` आदि का पृथक अर्थ किया है वैसा सूक्ष्म और तात्त्विक विवेचन न होने पर भी उत्तर मध्यकाल की इस परम्परा में `रस`, `अलंकार`, `रीति` और वक्रोक्ति का पृथक अर्थ करना चाहिए ।

(४) उत्तर मध्यकालीन हिन्दी समीक्षा का मूल्यांकन पूर्ववर्ती रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि शास्त्रीय प्रतिमानों पर न करके `अलंकार-अलंकार्य` भेद स्वीकार कर `शृंगार कथन`, `अनुकृति कलात्मकता` तथा `उक्ति चारुत्व` के आधार पर करना चाहिए ।

आलोच्य काल की शास्त्रगत उपलब्धि तथा काव्य-गत समीक्षा के संश्लिष्ट प्रतिमानों को रीतिकाल के `मध्यशास्त्रीय प्रतिमान` कहना समीचीन है । इन प्रतिमानों के आधार पर रीति कालीन समीक्षा का समीक्षण करना श्रेयस्कर होगा ।

उत्तर मध्यकालीन समीक्षा का प्रमुख प्रतिमान शृंगार

भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा का अनुभूतिपरक प्रतिमान रस आचार्य भरत मुनि से मम्मट तक `रस निष्पत्ति' के माध्यम से चिन्त्य एवं विचारणीय रहा । `ध्वनि', `रीति' तथा `वक्रोक्ति' आदि अन्य कविता की आत्मा से सम्बन्धित तत्वों की स्पर्धा ने रस के परवर्ती रूप को मण्डित कर अन्तिम लेखनांकित कर दिया । आचार्य मम्मट कृत `काव्य प्रकाश' भानुदत्त कृत `रसमंजरी' तथा पण्डित राज जगन्नाथ कृत `रसगंगाधर' का प्रतिपाद्य भरतमुनि से भिन्न था[1] । इसी प्रकार उत्तर मध्यकालीन हिन्दी कविता की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव में `कविता' के साथ-साथ इसके परम्परित प्रतिमान `रस' में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन देखा जाता है । मुगल शासकों की विलासिता तथा दरबारी संस्कृति के सम्मिलित प्रभाव के कारण एक ओर जहाँ `रस' की गम्भीरता घट कर विलास पक्ष से जुड़ी वहीं दूसरी ओर रचनाकारों ने शृंगार[2] को ही `रसराज' मानकर नायिका भेदोपभेद की एक नवीन परम्परा चल पड़ी । इस परम्परा में आकर `काव्य-शास्त्र' `काम-कला शास्त्र' बन गया ।

"रसो वै सः" से चलकर "स्वप्रकाशानन्द चिन्मय." तक आने वाली रस-सिद्धान्त की अनुसंधान-वृत्ति ग्यारहवीं शताब्दी में भोजराज के `शृंगार-प्रकाश' में थक चुकी थी ।

`शृंगार' का अर्थ आंगिक शृंगार हाव-भाव, आकर्षण तथा आंगिक चेष्टाओं को मानकर रीतिकालीन आचार्यों ने भरत, मम्मट, भोज और जगन्नाथ का अनुकरण कम रसमंजरी का अनुकरण अधिक किया । आचार्य केशवदास, मतिराम, कुलपति मिश्र, चिन्तामणि तथा पद्माकर की यह रस परम्परा `शृंगार रस' परम्परा

1- प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का अध्याय १

2- भोज कृत शृंगार प्रकाश - डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री (भूमिका)

हो गयी जिसका केन्द्र बनी नारी और उसकी रूप सरचना[१]।

श्रृंगार को रसराज ही नहीं अपितु 'रस' का भी 'रस' मानकर कविता करने वाले रीतिकालीन रचनाकारों ने काव्य के लौकिक तथा चमत्कारिक पक्ष को ही महत्व दिया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि 'संस्कृत' की दुरुह शास्त्र-चर्चा बहुतों के लिए कष्ट-साध्य हो गई।[२] इस दुरुहता और कष्ट साध्यता का कारण आचार्य मिश्र ने दरबारी प्रभाव तथा सामाजिक परिवर्तन माना है किन्तु इस प्रवृत्ति का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। श्रृंगारप्रियता, अलंकृति, अतिशय चमत्कार तथा कलात्मकता की अभिवृद्धि के कारण 'लोगन कवित्त कीबो खेल करि जान्यो है' के विरुद्ध 'कविता' की शब्दावली में अलंकार प्रयोग के साथ ही 'कोहरि तिहरि कोहरि' रूप की व्यंजना के लिए रचनाकार ने एक सामान्य मुहावरा अपना लिया- जो 'ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि' - त्यों त्यों खरी निखरै सुनिकाई[३]।

आचार्य मतिराम का उपर्युक्त कथन केवल उन्हीं की कविता की निकाई नहीं अपितु सम्पूर्ण युग की मनसा को प्रकट करता है। रससिद्धान्त के अनुरूप विभाव, हाव, अनुभाव, संचारी आदि का कथन रीतिकाल के अभिनव रस-श्रृंगारवादी रचनाकारों ने भी किया किन्तु प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के होने पर भी सारी 'प्रतिभा' नायिका भेद उपभेद तथा अंगों के सूक्ष्म निरीक्षण में रिक्त हो गई। अतः इस युग की कविता 'लीला-केलि विलास' का माध्यम 'रीझिहैं तौ कविताई' के साथ ही 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो' रूप में विकसित हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डा० नगेन्द्र ने किंचित परिवर्तन के साथ रीतिकाल के कथ्य तथा शिल्प पर तत्-सामयिक परिस्थिति तथा सामाजिक विलासिता

१- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २) - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२

२- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २)- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२, पृ०

३- मतिराम की कवित्त पंक्ति

का प्रभाव माना है । विविध नायिकाओं के वर्णन में अंग-प्रत्यंग का प्रदर्शन, हाव-भाव की मुद्रा तथा महावर, काजल, सिन्दूर, भाल बेंदी, कर्णफूल, कटि मेखला, किंकिनी आदि को वर्ण्य-विषय बनाया गया[1] ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का अन्य तर्क है कि उत्तर मध्यकाल में 'दृश्य-काव्य-शास्त्र' का अन्य कारण इस्लामी धर्म का प्रभाव है[2] । इस्लाम धर्म की रूढ़ियों ने पर्दा प्रथा तथा सामाजिक बन्धन के कारण जिस नारी को इतना 'बन्द' रखा था रीति काल के रचनाकार उस नारी के कटि कुच कंचुकी का दर्शन कर चादर के बीच भी 'जगमगाति तन जोति' रूप में किया । नाट्य कला के अन्तर्गत अभिनय की मुद्रा, संगीत-वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि तथा गायन भी सम्मिलित रहा करता था । इसी कारण मुगल सल्तनत के विस्तार तथा नवाबों के शासन के परिणामस्वरूप धनवती संगीत विद्या को नवीन रूप मिला । आचार्य मिश्र भी मुगलों की रुचि तथा संस्कारों के विपरीत नाट्य कला को पाकर नाट्य-शास्त्र न रचे जाने का यह कारण स्वीकार करते हैं जबकि इन्हीं मुगलों के आश्रय में रह कर कविता करने वाले रचनाकारों ने नायिका-भेद के लिए अनेक नये-नये सौन्दर्य के प्रतिमान लक्षण ग्रन्थों में प्रस्तुत किये हैं । 'पर्दा-प्रथा' मुगलों और नवाब के आपाद मस्तक ढकी नारी को उसी धर्म में विश्वास करने वाले शासक के सम्मुख अर्द्ध-नग्न अथवा नग्न रूप में प्रस्तुत कर धार्मिक रूढ़ि की प्रतिक्रिया व्यक्त की गई तथा ऐसी कृतियों की सराहना भी की गयी । कुछ युग पहले जिस धर्म में निषिद्ध रहा हो उसी कलाकृतियों को प्रश्रय करने के लिए 'मल-मल' के महीने अथवा बेलरोरिया के पारदर्शी वस्त्रों रेशमी वस्त्रों में मनभावनी अंगों की गोलाई अथवा हीरे जवाहरात सोने चांदी के बरीदार दुपट्टे, छौंना और चोली में 'बेल बूटों' के माध्यम से अंगों का उभार चित्रित किया जाना प्रतिक्रियात्मक मानसिकता का परिणाम है ।

उत्तरमध्यकालीन कविता में प्रयुक्त 'रस' नायक-नायिका की रति-

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य का अतीत, रीति काव्य की भूमिका,

२- हिन्दी साहित्य का अतीत - (भाग २) - सं० २०२२, पृ० [illegible] ।

क्रिया से परिपुष्ट तथा समस्त इन्द्रियों के प्रभाव से गृहीत 'रूपराशि' का 'त्यों त्यों प्यासोई रहत ज्यों ज्यों पियत अघाय'[1] सम्बन्धी उपयोग है । आलोच्य युग की कविता के शृङ्गार को न केवल 'रस' अपितु 'लीला रस' या कला-रस कहना अधिक समीचीन है । प्रतिमान के रूप में समीक्ष्य युग का 'रस' ऐसे सहृदय के मनोविकारों से उद्भूत है जो 'गुलगुली गिल- गलीचा- गुनी जन' से युक्त 'कसाला से दूर' चांदनी चिक चरागन की माला का निकटवर्ती है[2] । नायिका-भेद की परम्परा तथा शृङ्गार के आलम्बन रूप में नारी को मानकर 'रस' या रुचि के जो मानक निर्धारित हुए, उनमें विलासिता की प्रधानता तथा 'कला कला के लिए' का अनुवर्तन है । दृश्य काव्य के रस से परिवर्तित श्रव्य काव्य का 'रस' अलंकृति से मिश्रित तथा 'वक्रोक्ति' से सम्पृक्त है ।

शृङ्गार रस - तथा उसके अन्तर्गत अपनाये गये नायिका भेद के इस प्रवाह में आचार्य केशवदास की 'रसिक-प्रिया' उल्लेखनीय है जिसका अनुकरण देव, पद्माकर, कुलपति मिश्र आदि ने किया । 'रसिकन' के हेतु रची गई 'रसिकप्रिया' के उद्देश्य पर प्रसंगात् ध्यान दे जाना समीचीन है ।

> अति रति गति मति एककरि विविध-विवेक विलास
> रसिकन को रसिक प्रिया कीन्ही केशवदास ।[3]

आचार्य केशवदास की इस कृति में कहीं 'रस' के सांगोपांग का वर्णन का ध्यान नहीं है । औपचारिकता या वासना के साथ आचार्य केशव ने रति-लीला की महत्ता का गुणगान नायिका-भेद के सहारे किया है । 'भाव' को बाह्य-प्रदर्शन के रूप में स्वीकार कर उन्होंने 'मुख' नयन एवं वचन को महत्त्व प्रदान किया है --

---

1- बिहारी सतसई (बिहारी)

2- रीति काव्य की भूमिका में - डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत पंक्ति का उपयोग

3- रसिक प्रिया - केशवदास (केशव ग्रन्थावली)

आनन लोचन बचन तें प्रकटत मन की बात ।
ताही सौं सब कहत है भाव कविन के तात ।।[१]

'रसिक-प्रिया' के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रभावों में विस्तार से नायक-नायिका भेद का निरूपण है । आचार्य केशव ने 'स्वीया' तथा परकीया भेद के उपरान्त विस्तार से शयन, सुरति क्रिया, विलास-सुख एवं 'केलि' के माध्यम से दैनिक चर्या में 'काम' को विशेष महत्व प्रदान किया ।[२] आरूढ़ यौवना, प्रादुर्भूत यौवना, सुरति विचित्रा आदि नायिकाओं के भेद प्रभेदों के द्वारा ऊढ़ा (विवाहिता) तथा अनूढ़ा (अविवाहिता) परकीया के जिन वासनाओं को रीतिकाल के आचार्य ने रीति-परम्परा का अविभाज्य अंग बनाया वह 'कविता' का भी अविभाज्य वस्तु बन गई । संस्कृत साहित्य के अध्ययन और मनन के कारण केशवदास का लक्षण निरूपण पाण्डित्यपूर्ण है किन्तु इन पर भोज कृत शृंगारप्रकाश का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

शृंगार को रसराज मानकर नायक-नायिका भेद को 'काव्य-शास्त्र' के रूप में स्वीकार करने वाले अन्य आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी हैं जिनकी रचनायें 'कवि कुल कल्प तरु' तथा 'शृंगार मंजरी' इस युग की लीला एवं क्रीड़ा-भाव की अभिव्यंजना से युक्त हैं । 'शृंगार मंजरी' का रचयिता शृंगार को 'आलम्बन' एवं 'दोष कथन' निरूपित करने की प्रतिज्ञा से आबद्ध होने पर भी विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं संचारियों के कथन की औपचारिकता पूरी करके नायिका-भेद पर ही अपने आचार्यत्व को केन्द्रित करता है । ग्रन्थ के आरम्भ में ही रचनाकार कहता है कि "आलम्बन शृंगार-विभाव नायिका-नायक तिनके सहाय संख्याधिक अंग रसानुकूल सात्त्विक भाव पूर्वोक्त ग्रन्थ वर्णित पद्मिन्यादि जाति संकर भेद ऐसे प्रकार सकल आरोप विशेष निरूपितु है ।"[३]

१- रसिक प्रिया - आचार्य केशवदास (३-१)

२- ,, ,, -

३- शृंगारमंजरी के प्रारम्भ का अंश - डा० सूर्य नारायण द्विवेदी द्वारा उद्धृत रीतिकालीन कवि और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्त में उद्धृत, पृ० ३३८ ।

प्रकृति के अनुसार- दिव्या, अदिव्या, कर्म के अनुसार मुग्धा नायिका के अविदित यौवना, अविदित कामा, विदित मनोयौवना आदि भेदोपभेदों द्वारा आचार्य चिन्तामणि ने अपनी प्रतिभा और आचार्य दृष्टि का परिचय अनुसन्धान और जिज्ञासा के लिए नहीं अपितु चमत्कृति एवं आत्म तुष्टि के लिए दिया है । मध्या-नायिका के लिए आरूढ़ यौवना, आरूढ़ मदना तथा प्रौढ़ा नायिका के प्रौढ़ यौवना, मदनमत्ता, रति प्रीतिमती आदि भेद सम्बद्ध ग्रन्थ अथवा कोश की शैली में निरूपित है[1]। इसी प्रकार परकीया नायिका के अभिसारिका नायिका के विविध भेदों द्वारा संस्कृत की परवर्ती विश्लेषण पद्धति को आगे बढ़ाकर उन्होंने सुव्यवस्थित दृष्टि का परिचय दिया है ।

नायिका भेद की प्रमुखता के साथ शृङ्गार के रसराजत्व के क्रम में तोष कवि की 'सुधानिधि' उल्लेखनीय कृति है[2]। तोष ने अपनी इस कृति के विविध छन्दों में रस के उपकरण-विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी आदि भेदों के अनुरूप वर्णन के उपरान्त रस प्रसंग में ही विस्तार से नायक-नायिका भेद निरूपित किया है । शृङ्गार के दो परम्परित भेद-सम्भोग तथा विप्रलम्भ के वर्णन में स्त्री प्रेम एवं सौन्दर्य को केन्द्रीय भाव रूप में अपनाया है । वचन, क्रिया, चेष्टादि द्वारा 'हाव' का चित्रण तथा विलास, विभ्रम, बिब्बोक, लीला आदि हावों के नाम द्वारा विविध शृङ्गारिक अवस्थाओं का चित्रण प्राचीन परम्परा के अनुरूप है । सुधा-निधि ने 'शृङ्गार' के वर्णन में 'सम्पति' का प्रयोग किया है किन्तु इसका आधार 'कामकला के फन्द' ही है[3]। संयोग में वियोग तथा वियोग में संयोग शृङ्गार की

१- 'शृङ्गारमंजरी' तथा 'कविकुलकल्पतरु' में नायिका भेद - रीतिकालीन कवि और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्त - डा० सूर्यनारायण द्विवेदी, पृ० २१६ ।

२- हिन्दी साहित्य का अतीत- भाग २ — आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

३- सम्पति जहाँ ही सुख जहँ, काम कला के फंद ।
सो सम्भोग शृङ्गार कहि, बरनत मति आनन्द ॥
—रससुधानिधि - तोष -

उपस्थिति मिश्रित श्रृङ्गार ' अथवा अन्य-जनक श्रृङ्गार रूप में वर्णित है । श्रृङ्गार का रस-राजत्व इन्होंने भी स्वीकार किया है । श्रृङ्गार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका भेद पर विस्तार से वर्णन तोष ने भी किया है । स्वीया और परकीया के भेदोपभेद अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह ही है ।

उत्तरमध्यकालीन 'श्रृंगार वर्णन परम्परा' के माध्यम से आचार्य दृष्टि का परिचय देने वाली 'मतिराम' की प्रसिद्ध रचना 'रसराज' है । अलौक-सामान्य आकर्षण शक्ति के कारण श्रृंगार का रसराजत्व सिद्ध होने पर भी सुकवियों की रुचि तथा कवि शिक्षा परम्परा का अनुपालन करते हुए आचार्य मतिराम ने इस रचना में अपनी सर्वांग दृष्टि तथा सहृदयता का भी परिचय दिया है । इनकी प्रस्तुत कृति भी नायिका भेद की परम्परा में लिखी गई है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसी युग में मतिराम नाम के एक अन्य कवि होने का प्रमाण दिया है[1] जिनकी रचनाएं -- छन्द सार पिंगल तथा अलंकार पंचाशिका है[2] । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'रसराज' की हस्त-लिखित प्रति दतिया के राजपुस्तकालय में होना स्वीकार किया है । मतिराम के कवित्व की प्रशंसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने की है ।

'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सु निकाई' उद्धरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डा० सूर्यनारायण द्विवेदी के अतिरिक्त अन्य समीक्षकों ने भी दिया है । उक्त पंक्तियां न केवल 'नायिका' के लिए अपितु मतिराम की कविता के लिए भी स्वीकारी जा सकती है । 'रसराज' के रचयिता ने नायिका को ही 'रस-भाव'- आलम्बन विभाव का केन्द्र कहा है । भानुदत्त कृत 'रसमंजरी' की नायिका-भेद सम्बन्धी सामग्री ग्रहण करने पर भी मतिराम की मौलिकता सैद्धान्तिक दृष्टि से उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी की उनकी भावों की अभिव्यंजना और कलात्मकता उल्लेखनीय है । हिन्दी रीति परम्परा के अन्य आचार्यों से पृथक मतिराम की पैठ 'शास्त्र' तथा काव्य पर समान रूप से देखी जाती है । 'मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरलता अत्यन्त

१- हिन्दी साहित्य का अतीत- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३२२
२- ,, ,, ,, ,, , पृ० ३२६

परिपाक उसी हृदय में सम्भव मानते हैं जिसमें रागात्मकता की प्रधानता हो । रागात्मकता की प्रधानता उन्होंने महाकवि कालिदास की तरह पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार मानी है । रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता के कारण अत्यन्त गम्भीर तथा तात्त्विक विषय रस को विशेष महत्त्व नहीं मिल सका है[1] ।

काव्य की आत्मा रस को नव भाव-प्रवाह रूप में स्वीकार करने वाले रीतियुगीन कवियों और रचनाकारों में 'रसलीन' प्रमुख है जिन्होंने 'रस प्रबोध' नामक ग्रन्थ मे रस का लक्षण बताते हुए कहा है कि - "विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के अनुकूल सम्मिलन से जिस अवस्था में व्यापकता की स्थिति पा लेते हैं उस अवस्था विशेष को रस कहते हैं[2] । शृंगार रस के भाव, विभाव और संचारियों का वर्णन उसके आलंबन-नायिका-भेद के सहारे विस्तार से किया गया है ।

आचार्य भिखारीदास ने रस सारांश और शृंगार-निर्णय की रचना द्वारा अपनी आचार्य दृष्टि का प्रतिपादन किया है । काव्य निर्णय के अतिरिक्त इनके प्रत्येक ग्रन्थ में शृंगार और नायिका भेद पर जैसा खुला विचार था वैसा उस काल के अन्य कवियों ने नहीं किया है । 'शृंगार रस' की प्रधानता के लिए 'शृंगार निर्णय' प्रमुख है । 'रस सारांश' की रचना रसिकों के आग्रह पर लिखा - जैसा कि उन्होंने कहा है -- "तिन्ह रसिकन्ह के हेत यह कीन्हो रस सारांश । आचार्य भिखारीदास का आचार्यत्व, डा० नगेन्द्र तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है । व इनकी रचना देखकर इन्हें "रसवादी" और अलंकारवादी न मानकर "रीतिवादी" तथा कवि शिक्षावादी मानना समीचीन है । 'शृंगार रस' को रसों का तत्त्व मानकर रचना करने वाले आचार्यों में पद्माकर, कुलपति मिश्र, प्रतापसाहि, जसवन्त सिंह और

१- देव और उनकी कविता - डा० नगेन्द्र, सं० १९५९, पृ० १३७

२- जो स्थायी इमि भाव थिति, मानस थिति छितिमाहि
ताको अंकुर भो कहे सो थायी कहि जाहि ॥
- रसप्रबोध - रसलीन

३- डा० पूर्णनारायण त्रिवेदी द्वारा शोधग्रन्थ में उद्धृत ।

सुरति मिश्र प्रमुख हैं । किंचित मौलिकता और परिवर्तन के अतिरिक्त इन आचार्यों द्वारा शृंगार रस निरूपण के लिए नारी की सुन्दरता उसके शरीर की संरचना,केश-विन्यास, वस्त्र तथा आभूषणों के अतिरिक्त शृंगार प्रसाधनों तक के वर्णन लक्षण ग्रन्थों में मिलते हैं ।

`नायिका भेद` के लिए `नायकों` का भी वर्गीकरण कुछ कृतिकारों ने किया है किन्तु जो प्रतिस्पर्धा नायिकाओं के वर्गीकरण तथा `नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का तात्कालिक उपयोग में रीति युग की कविता में हुआ वैसा न पहले था न बाद के शास्त्र में देखा गया । `शृंगार रस` का विशुद्ध लौकिक तथा स्वकीया नायिका के माध्यम से किया गया चित्रण काव्य के सौन्दर्य और सरसता की कलात्मक परम्परा है जिस पर `रीतिकालीन कला` और काव्य-कला ने नवता रमणीयता का पथ प्राप्त किया । इसीलिए युग के प्रतिमान रूप में शृंगाररस नायिका भेद तथा अभिनव रस सिद्धान्त की उत्तरमध्यकालीन त्रिआयामी परम्परा इस युग के काव्य और शास्त्र की संश्लिष्ट परम्परा है --

तन्त्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग
अन बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग ॥

उत्तर मध्यकालीन कविता का सौन्दर्यतत्व अलंकार

रीति युगीन कविता को अलंकृति को प्रतिमान रूप में स्वीकार करते हुए मिश्रबन्धुओं ने इस काल को अलंकार काल कहा था[1]। अलंकार प्रयोग की परम्परा का (शास्त्रीय) अनुशीलन करने से पूर्व इस शब्द के क्रमिक अर्थ-विकास पर एक दृष्टि डालना समीचीन है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के तत्व रूप में अलंकार शब्द का आरम्भिक प्रयोग भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में कथ्य की शैली के अर्थ में हुआ है। भामह कृत काव्यालंकार के प्रकाश में आने के साथ अलंकार विमर्श का आरम्भ श्रव्य-काव्य के प्रतिमानीकरण के लिए हुआ। दण्डी, वामन, रुद्रट, रुय्यक आदि अलंकारवादियों के अतिरिक्त ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति तथा रस-ध्वनि मतों के समानान्तर अलंकार की अलग-अलग व्याख्यायें होती रहीं[2]। सत्ता रूप में अलंकार के परिवर्तित न होने पर भी भामह ने वक्राभिधेय-शब्दोक्ति[3], दण्डी ने काव्य-शोभा कारक धर्म[4], तथा वामन ने सौन्दर्य तत्व के रूप में इसे स्वीकार कर विभिन्न समसामयिक साहित्यिक प्रवाह के अनुरूप क्रमानुक्रमगत परिवर्तन किये[5]। इस प्रकार भामह से अभिनवगुप्त के पूर्व तक अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में होता रहा तथा तत्सम्बन्धित शास्त्र को अलंकारशास्त्र कहा गया। ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रसध्वनिवादियों के दबाव में एक ओर 'रस' का युक्ति तथा अभिव्यक्ति-परक अर्थ किया जाने लगा तो दूसरी ओर 'प्रतीयमान' अर्थ की अवधारणा का समारम्भ हुआ। शास्त्रीय परम्परा के परवर्ती काल में जयदेव

१- मिश्र बन्धु विनोद - मिश्रबन्धु (आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा उद्धृत)

२- प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का अध्याय १ (शास्त्रीय प्रतिमान अलंकार)

३- वक्राभिधेय शब्दोक्ति रिष्टा वाचामलंकृति - भामह

४- काव्य शोभा करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते - काव्यादर्श - दण्डी

५- सौन्दर्यमलंकार: काव्यालंकार सूत्राणि - वामन

सदृश आचार्यों ने `अनलकृती पुन: क्वापि` के उत्तर में `असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णा अनलकृती` की स्थापना द्वारा अलंकार के अस्तित्वरक्षा का प्रयास किया ।

साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रसमञ्जरी तथा रसगंगाधर आदि शास्त्रीय ग्रन्थों की स्थापनाओं द्वारा रस, ध्वनि आदि के समायोजित सिद्धान्तों के प्रभाव से अलंकार किसी भी व्यापक आयाम त्याग कर इहलौकिक सौन्दर्यशास्त्र का अनुगामी बना । डा० नगेन्द्र ने इस परिवर्तन का मुख्य कारण अलंकार और अलंकार्य में भेद-दृष्टि को माना है[1] जबकि इस परिवर्तन का मुख्य कारण है शास्त्र की सूक्ष्म वाद-वादिता के स्थान पर लौकिक आनन्द की अनुभूति जो कालिदास, भारवि, दण्डी, अश्वघोष की ललित कृतियों से आई है ।

हिन्दी रीति साहित्य की सौन्दर्याश्रित परम्परा केशव की `कवि-प्रिया` से आरम्भ होती है । जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने ध्वनि-सिद्धान्त के परिपालन में रस की अभिव्यक्तिपरक व्याख्या की थी उसी प्रकार आचार्य केशवदास की शृ्ंगार रसाश्रित कवि दृष्टि ने उनकी आचार्य दृष्टि को भी प्रभावित किया । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है कि भाषा-भूषण, ललित ललाम, शिवराज भूषण, अलंकारमञ्जरी आदि रचनाओं में केशव की व्यापक अलंकार दृष्टि का अनुगमन नहीं अपितु रसमञ्जरी कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक की परम्परा का परिपालन है[2] । रीतिकाल की समस्त रसों के मूल-शृंगार की रसिक दृष्टि ने हिन्दी काव्यशास्त्र के अलंकार मत को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है । उत्तर मध्यकालीन आलंकारिकों के समानान्तर चलने वाली भानुदत्त, जयदेव, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ की रसिक परम्परा ने भी समीक्ष्य अलंकारवाद को प्रभावित किया है । `अस्थिर शोभा-तिशायी अलंकार` अथवा `हारादि अंगदादिवत्` की मान्यता हिन्दी और फारसी कविता के अलंकारों के अधिक निकट है । इस परिवर्तन का मुख्य कारण

१- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, पृ० ९६,९७

२- हिन्दी साहित्य का अतीत -(आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र,सं०२०२२,

है सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियां कवि शिक्षा तथा दरबारी प्रभाव की देन है ।

काव्यशास्त्र की समीक्ष्य परम्परा में केशवदास ने दण्डी के काव्यादर्श के व्यापक अलंकारवाद का अनुगमन किया किन्तु जसवन्त सिंह, मतिराम, भिखारीदास और पद्माकर ने जयदेव, भानुदत्त, अप्पयदीक्षित का अनुवर्तन किया है । यदि रीतिकालीन अलंकार विमर्श को शास्त्रीय परम्परा से जोड़कर देखा जाय तो आस्वाद्य रस - आस्वाद-रस, शृंगार रस के समानान्तर 'सौन्दर्य ही अलंकार' से 'भूषन बिन न बिराजई कविता वनिता मित्त'[1] की धारणा जुड़ जाती है । केशवदास के इस कथन के केन्द्र में स्थित 'वनिता' ही 'कविता' और 'मित्त' के भूषण-अलंकार को समझने में सहायक है । नारी के बहुविध नायिका रूप ने अलंकार की श्रेणी में मेंहदी, महावर, भाल का सिन्दूर, अंगराग-उबटन आदि प्रसाधनों और नित्य क्रियाओं को समाहित किया है[2] । नायिका की आंगिक सुन्दरता, नायक के मिलन सम्बन्धी शृंगार के विविध हाव-भाव तथा संचारी, एवं अंग-प्रत्यंग में मन के चमत्कार रूप में प्रयुक्त भूषण-अलंकार की चिरायामी परम्परा में समीक्ष्य अलंकारमत को ग्रहण किया जाना चाहिए । जिस युग में रस का तत्व शृंगार रस की रति हो, रति का आधार परकीया नायिका आरूढ़ यौवना का केलि विलास हो उस युग का अलंकार कोरा सात्विक सौन्दर्य हो भी कैसे सकता है ? भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट की अलंकारवादी सौन्दर्य-दृष्टि का अनुगमन करके केशव ने यह अनुभव किया होगा कि उनकी आचार्य-दृष्टि से उत्पन्न 'अलंकार चेतना' सामयिक नहीं है इसीलिए निस्संदेह का अनुभव करके 'बाला-बालकवि' की शिक्षा के लिए ही अलंकार ग्रन्थ की रचना की है[3] । 'बाला-बालकवि' में

१- कविप्रिया - आचार्य केशवदास (केशव ग्रन्थावली)

२- केशवकृत नखशिख वर्णन की विवेचना -- (हिन्दी साहित्य का अतीत में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)

३- समुझैं बाला बालकहुं बर्णन पंथ अगाध - कवि प्रिया केशवदास

वाला शब्द `ललना` का पर्याय है जो स्वत: लीला और क्रीड़ा मिश्रित चमत्कार होकर अभिनव अलंकार को प्रकट करता है ।

समीक्ष्य युग की कविता में प्रयुक्त अलंकार के चमत्कार ने आचार्यों को भी इस नयी समझ के लिए विवश किया है । डा० सूर्यनारायण द्विवेदी ने उत्तरमध्यकालीन अलंकार परम्परा का प्रवर्तन महाराज जसवन्त सिंह की कृति भाषाभूषण से माना है । डा० द्विवेदी का यह मत मूलत: आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के पूर्व स्थापित मत के समर्थन में आया है[1] । डा० नगेन्द्र, डा० राम कुमार वर्मा, डा० ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ तथा डा० भगीरथ मिश्र ने भी रीतियुगीन `अलंकार-निर्मिति` पर शृङ्गाररस की छाप देखी है । कविवर मतिराम कृत `ललितललाम` भूषण कृत `शिवराजभूषण` कुलपति कृत `कविकुलकण्ठाभरण`, भीखर कृत `भाषाभूषण` काशिनाथ कृत `अलंकारमणिमंजरी` तथा पद्माकर कृत `पद्माभरण` ऐसी प्रमुख रचनायें हैं जिनके आधार पर हिन्दी `काव्य-शास्त्र के अलंकार मत का अवलोकन किया जा सकता है । इन कृतियों और कृतिकारों के अतिरिक्त रीतिकाल के रस रीति एवं कवि शिक्षा सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों तथा स्वच्छन्द रचनाओं पर भी अलंकारवाद का गम्भीर प्रभाव देखा जाता है ।

उत्तर मध्यकालीन कविता में आगत अलंकार निरूपण तथा अलंकार विवेचन की लक्षण-ग्रन्थ-परम्परा के अतिरिक्त स्वच्छन्द कृतियों में भी देखा जाता है । इन अलंकारों का विकासात्मक रूप तीन रूपों में द्रष्टव्य है -- (१) अलंकार के लक्षण ग्रन्थों का सैद्धान्तिक विवेचन, (२) रीति-परम्परा के अन्य ग्रन्थों का अलंकार मत, (३) स्वच्छन्द और परम्परित अलंकार-प्रयोग `अलंकारशास्त्र` की नियामक तथा कविशिक्षा की भावना से रचित कविप्रिया, भाषा-भूषण, ललितललाम, पद्माभरण तथा अलंकारमंजरी की धारा इस

१- (क) रीतिकालीन कवि और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धान्त- डा० सूर्य नारायण द्विवेदी

(ख) हिन्दी साहित्य का अतीत - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२

काल की मूल परम्परा है जिस पर युगीन संस्कृति तथा साहित्यिक चेतना की छाप है ।

अलंकारशास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों की सर्जना का आरम्भ सूरदास कृत साहित्यलहरी तथा करनेस 'बन्दीजन' की 'कर्णाभरण' 'श्रुतिभूषण' और 'भूप भूषण' से माना जाता है किन्तु निर्विवाद रूप से 'अलंकार-प्रवाह' का प्रथम आचार्य केशवदास को माना जाता है । उनकी 'भूषन बिन न बिराजई - - - - तथा 'सुबरन को ढूढ़त फिरै कवि व्यभिचारी चोर'[1] उक्तियां इतनी प्रचलित हैं कि उन्हें 'अलंकारवादी' कहा जाता है[2] जबकि किसी वाद-विशेष के प्रति उनका झुकाव नहीं है । डा० वर्मा ने केशवदास को रसवादी कहा है[3] । अलंकारशास्त्र के प्रणेता केशव की प्रतिभा का सम्पूर्ण प्रभाव उनकी शास्त्रीय कृतियों पर देखा जाता है । आचार्य मिश्र ने पकी पकाई सामग्री लेकर रचना करने वालों को आचार्य ही नहीं माना है जबकि केशव आचार्य पद के दावेदार हैं । पाण्डित्य, प्रतिभा तथा 'कवित्व शक्ति' से सम्पन्न होने पर भी उनकी 'आचार्य दृष्टि' सर्वोपरि है जो उन्हें अपने समकालीन अन्य आचार्यों से अलग करती है । अपने युग की प्रवृत्ति के विरुद्ध भामह और दण्डी की आचार्य दृष्टि का अनुगमन कर केशव ने अपनी प्रतिभा प्रमाणित की है । 'कविप्रिया' के रचनाकार ने कविता के अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन--(सुनि गुनि विविध प्रकार) करके तब 'कविप्रिया' की रचना की है । अलंकार लक्षण तथा उसके उदाहरणों के समायोजन के अतिरिक्त गणना, अमित, युक्त, सुसिद्ध आदि नये अलंकारों की भी उद्भावना की है ।

१- कविप्रिया - केशवदास (हिन्दी साहित्य का इतिहास में उद्धृत)

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण २०४०, पृ० १६१

३- ~~हिन्दी रीतिकाव्य का~~ रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डॉ० रामकुमार वर्मा

महाराज जसवन्त सिंह की रचना 'भाषाभूषण' हिन्दी रीतिशास्त्र की अलंकार सरणि की प्रथम कृति है जिससे इस युग की वास्तविक परम्परा का आरम्भ होता है। उनकी इस कृति पर चन्द्रालोकीय कुवलयानन्द का स्पष्ट प्रभाव है। कहीं-कहीं रचनाकार ने अन्य अलंकार ग्रन्थों का भी सहारा लिया है।

लच्छन तिय अरु पुरुष के हावभाव रसधाम।
अलंकार संजोग ते भाषाभूषन नाम ॥[1]

जैसा कि उक्त दोहे से स्पष्ट है कि 'नायक-नायिका' लक्षण तथा हाव-भाव रसादिक तत्वों के अतिरिक्त अलंकार का समायोजन होने से कृति का भाषाभूषण नाम रखा गया है। भाषाभूषण में जिस चन्द्रालोक को आधार बनाया रखा गया है वह परिवर्तित चन्द्रालोक है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने गम्भीर अनुशीलन करके 'भाषाभूषण' तथा चन्द्रालोकीय कुवलयानन्द में वर्णित अलंकारों का साम्य दिखाते हुए कहा है कि चन्द्रालोक में 'अलंकृत्य . शतम्' (सौ अर्थालंकार) तथा आठ शब्दालंकारों के अनुरूप भाषाभूषण में भी एक सौ आठ अलंकारों का विवेचन किया गया है।[2] परवर्ती रचनाकारों ने भाषाभूषण की सहायता से अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों की सर्जना तथा इस रचना की टीकायें लिखी हैं।

मतिराम कृत 'ललित ललाम' अलंकार-शास्त्र की अन्य रचना है जिसमें अलंकार निरूपण 'उपमादि' से होता है। इस कृति पर भी चन्द्रालोक की छाया विद्यमान है। आचार्य मतिराम ने 'काव्यप्रकाश' तथा साहित्य-दर्पण का भी गहन अनुशीलन किया है जो इनकी इस रचना से स्पष्ट होता है।

१- भाषाभूषण - महाराज जसवन्त सिंह (हिन्दी साहित्य का अतीत में आचार्य मिश्र द्वारा उद्धृत)

२- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २) - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं० २०२२, पृ० १०८

इस कृति का प्रतिपाद्य काव्य के बाह्य शोभाधायक शब्द एवं अर्थ पर आश्रित अलंकार है। इसमें अलंकारों के लक्षण किसी एक ग्रन्थ के आधार पर नहीं अपितु पूर्ववर्ती आचार्य केशवदास की 'कविप्रिया' तथा महाराज जसवन्त सिंह के भाषाभूषण से भी ग्रहण किये गये हैं। 'ललितललाम' में केवल अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। 'अलंकार ग्रन्थ का 'ललितललाम' नाम विशेष प्रकार का है। ललित और ललाम दोनों शब्द सौन्दर्य और सुन्दर के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। जान पड़ता है कि 'ललित' शब्द विशेषण और ललाम शब्द विशेष्य है।[1] मतिराम की प्रस्तुत अलंकार विमर्श रचना में परम्परा की दृष्टि से चन्द्रालोक, कुवलयानन्द तथा भाषाभूषण की पद्धति का अनुकरण है तथा कवि-हृदय की प्रधानता तथा रसिकता के कारण उन्होंने काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण आदि रचनाओं से भी आवश्यकतानुसार सहायता ली है। मतिराम में सर्जना शक्ति तथा रचनाकार की प्रतिभा है किन्तु आचार्यत्व का गहन चिन्तन न होने के कारण डा० नगेन्द्र इन्हें आचार्य न मानकर कवि मानने के पक्ष में हैं।[2] और शास्त्र की गहन तर्कशीलता पर कवित्व और सहृदयता का यह प्रभाव 'मतिराम' को भाषाभूषण पद्धति के रचनाकार से अलग करता है। शास्त्र के गम्भीर विषय को काव्य में उतार कर उन्होंने 'काव्यशास्त्र' के समन्वित अलंकार मार्ग को प्रशस्त किया है।

महाकवि भूषण की प्रसिद्ध रचना 'शिवराजभूषण' अलंकार-शास्त्र की उल्लेखनीय कृति है जिसमें मतिराम के 'ललितललाम' की तरह आचार्यत्व की तुलना में 'कवित्व शक्ति' का प्रभाव है। वीररस के प्रसिद्ध कवि होने पर भी शिवराज भूषण में चन्द्रालोक, कुवलयानन्द और 'भाषाभूषण' का अनुगमन अलंकारों के लक्षण के लिए किया गया है। उदाहरण के रूप में भूषण ने अपने रचे हुए कवित्तों को ग्रहण किया है। इसमें कतिपय

१- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २) - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५३६

२- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १६५३, पृ० १४४

की कला अधिक तथा चिन्तन का अभाव है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डा० नगेन्द्र ने एक स्वर से इन्हें सहृदय कवि के रूप में स्वीकार किया है[1]। लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों पर विशेष ध्यान देकर इन्होंने सरल शास्त्र की रचना की है। इनके अनेक छन्द पहले स्वतन्त्र रूप में रचे गए थे और बाद में उन्हें 'शिवराज भूषण' में स्थान दिया गया है।

'कविकुलकण्ठाभरण' काव्य के अन्य अंगों के विवेचन से युक्त होने पर भी 'अलंकारशास्त्र' की प्रसिद्ध कृति है। 'कुवलयानन्द' को उपजीव्य कृति रूप में दूलह भी स्वीकार करते हैं। उक्त ग्रन्थ के आधार पर रचित १०८ अलंकार के अतिरिक्त रसवत् प्रेयस उर्जस्विन् तथा समाहित नाम से चार और भावोदय, भावसन्धि भाव सबलता के तीन अलंकारों से युक्त कर उन्होंने कुल एक सौ पन्द्रह शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों के लक्षण अपनी रचना में गिनाये हैं। इनकी विवेचना सरल तथा ग्राह्य अधिक है। 'दूलह' की 'कविकुलकण्ठाभरण' और बंद की रचना 'लालित्यलता' की तुलना करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "दूलह की उदाहरणों का प्रौढ़ता और बंद की चमत्कारप्रियता उन्हें रीति-शिक्षक की अपेक्षा 'कवि' या कलाकार रूप में प्रस्तुत करती है।"[2] रीतिकाल के सहृदय रचनाकार 'पद्माकर' भट्ट की रचना 'पद्माभरण' अलंकारशास्त्र की महत्त्वपूर्ण रचना है। पद्माकर की एक सहृदय की प्रतिभा प्राप्त थी।" उनकी पुस्तक को ध्यान से देखने पर जान पड़ता है कि पद्माकर ने यह पुस्तक 'बैरीसाल' के 'भाषाभरण' को देखकर बनाई है। फिर भी इन्होंने अन्धानुकरण नहीं किया है। 'ललित ललाम' शिवराजभूषण तथा कविकुलकण्ठाभरण की तरह 'पद्माभरण' में लक्षण चन्द्रालोक के आधार पर दिये गये हैं किन्तु उदाहरण पद्माकर ने स्वयं रचे हैं। इनके लक्षण इतने स्पष्ट हैं और उनका उदाहरणों से ऐसा समन्वय है कि अन्यत्र वैसा प्राय: कहीं नहीं मिलता। . . . . . ऐसा सन्तुलित प्रयास

१- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९५४, पृ० १९६

२- रीति काव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, सं० १९५४, पृ० १९६

हिन्दी में कम है ।[१] इन्हें भी आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आचार्य न मानकर कवि मानते हैं । कवि रघुनाथ की रचना `रसिक मोहन` महाराज रामसिंह का `अलंकारदर्पण`, रसिक सुमति को `अलंकारचन्द्रोदय`, प्रतापसाहि की `अलंकारचिन्तामणि`, अलंकारशास्त्र की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं जिनमें शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकारों का विवेचन है ।

इन लक्षण ग्रन्थकारों तथा सहृदय कवियों के अतिरिक्त `अलंकार-मत` को लोकप्रिय बनाने का श्रेय उन रचनाकारों को भी है जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थों की सर्जना किये बिना भी इस मत को पुष्ट और व्यापक बनाया है । सेनापति की गणना रीतिकाल के मुक्त कवियों में होती है । इसी प्रकार घनानन्द, आलम-शेख, बोधा ठाकुर, बेनी प्रवीन, ग्वाल, रसखानि आदि रचनाकारों को लक्षण ग्रन्थकारों में स्थान नहीं दिया जाता है । सेनापति ने अपने ग्रन्थ `कवित्तरत्नाकर` में श्लेष तरंग लिखकर अलंकारों के माध्यम से चमत्कार उत्पन्न करके इस युग में एक भिन्न पथ-प्रशस्त किया है । बिहारी भी इसी प्रकार के रचनाकार हैं जिनकी कृति `सतसई` में रसात्मकता के साथ-साथ अलंकृत पदावली की छटा भी दर्शनीय है । इन्हीं विशिष्टताओं के कारण समीक्षकों ने रीतिकाल की कलात्मकता के क्रम में बिहारी का उल्लेख विशेष रूप से किया है ।

हिन्दी कविता की उत्तर मध्यकाल के इस `अलंकारशास्त्र` पर संस्कृत की रचनाओं के अनुरूप, शिल्प तथा वर्ण्य-विषय का प्रभाव है । कहीं-कहीं मात्र अनुवाद करके हिन्दी के कवियों ने आचार्य बनने की कामना पूर्ण

१- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २) - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५६३

शब्दनु ते कछु अर्थ ते, कछु दुहु ते उरमानि ।
अभिप्राय जेहि भांति जहं, अलंकार सो मानि

(पद्माभरण)

की है । `अलंकारशास्त्र` की अधिकांश रचनाओं पर `कुवलयानन्द` तथा चन्द्रालोक का प्रभाव है किन्तु भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट के अतिरिक्त मम्मट, जगन्नाथ, विश्वनाथ की स्थापनाओं का प्रभाव भी कम नहीं है । इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के आचार्यों ने मात्र अनुकरण (नकल) कर लिया है । इनमें भी चिन्तन, अध्ययन तथा स्वतंत्र विवेचन की क्षमता थी किन्तु युग की प्रतिस्पर्धा तथा `रसिकता` की मांग के अनुरूप हिन्दी का अपना अलंकारशास्त्र रचकर समादृत-युग के कवियों ने कवि शिक्षा की परम्परा के साथ-साथ चमत्कार प्रदर्शन भी किया है ।

-

चमत्कार प्रदर्शन . कलात्मकता का युगीन परिप्रेक्ष्य

रीति, रसात्मकता, नायिका भेद तथा अलंकार निरूपण के अतिरिक्त हिन्दी की उत्तरमध्यवर्ती सर्जना के मूल्यांकन में `कला कला के लिए` का प्रतिमान प्रयोग में लाया जाता है । संस्कृत साहित्य शास्त्र में इस प्रतिमान को `वक्रोक्ति` कहा गया था जो व्यापक अर्थ में अलंकार की विधायिनी क्षमता तथा संकुचित अर्थ में एक अलंकार विशेष था किन्तु कुन्तक के मतानुसार वक्रोक्ति एक स्वतंत्र सम्प्रदाय भी है । वक्राभिधेयता, उक्ति-वैचित्र्य, वैदग्ध्य-भंगीभणितिरिति - अर्थात् सामान्य कथन के विपरीत काव्य की शब्दाश्रित व्यंजना वक्रोक्ति तथा रसाश्रित व्यंजना ध्वनि कहलाती है । इस काल के `काव्यशास्त्र` को डा० नगेन्द्र ने `रीति` की सीमा में व्याख्यायित किया है । डा० सत्यदेव चौधरी और डा० भगीरथ मिश्र ने भी युगीन काव्य तथा शास्त्र का चिन्तन एवं मनन करके `साहित्यशास्त्र` की सम्भावनाओं का अनुशीलन किया है । इसी क्रम में डा० रामकुमार वर्मा, डा० जगदीश गुप्त, डा० ओम प्रकाश तथा डा० सत्यप्रकाश मिश्र ने इस युग के विविध पक्षों का अनुशीलन किया है । रीति काव्य का `कलाविधान` कल्पना, स्वच्छन्दता, अलंकार प्रयोग तथा

चमत्कार प्रदर्शन सम्मिलित प्रभावों से युक्त है ।

रीतिशास्त्र के अनुशीलनकर्ता समीक्षकों ने 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' के माध्यम से युगीन काव्य का मूल्यांकन न कर सरलीकृत अध्येता-दृष्टि द्वारा निर्णय यह दिया है कि समीक्ष्य युग की कविता में रस, अलंकार तथा नायिका-भेद की प्रधानता है । सभी विचारकों ने 'दरबारी' प्रभाव तथा अरबी-फारसी और उर्दू कविता की निकटता का उल्लेख करते हुए इसे चमत्कार का कारण बताया है[1] । इस युग की अद्भुत ऐतिहासिक सृष्टि ताजमहल 'समय के कपोल पर अंकित अश्रुबिन्दु' होने के अतिरिक्त इन वर्षों की निरन्तर कला-साधना के फलस्वरूप बना हुआ हावभाव तथा चमत्कार का अनूठा उदाहरण है । उत्तरवर्ती मुगलशासकों की विलासिता तथा कलात्मकता अन्योन्याश्रित है जिसका अनूठा उदाहरण मयूरासन (स्वर्ण सिंहासन) है । 'जब भारत की राजनीति वस्तु चित्र संगीत और नृत्य के माध्यम से कला की अनवरत साधना कर रही थी और समस्त वातावरण राग से अनुरंजित हो रहा था तब यह कैसे सम्भव था कि काव्य भी कला की उपासना में रत न होता और मयूर सिंहासन की भांति अलंकार भी काव्य में विजड़ित न हो जाते[2] । कवि तथा चमत्कार की प्रशंसा इसी पर निर्भर थी कि उसे शब्द-विन्यास में कितना चातुर्य प्राप्त है । इसी प्रशंसा तथा कवि शिक्षा के कारण रीतिकाल की कविता में चमत्कृति के एक कुलधर्म बनाने के साथ हिन्दी के आचार्य कवियों ने अपनी

१- रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डा० रामकुमार वर्मा, संस्करण १९८४, विषय प्रवेश ।

२- रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन - डा० रामकुमार वर्मा, सं० १९८४, पृ० ५

सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग पच्चीकारी में किया । 'ताजमहल' का उदाहरण देकर डा० रामकुमार वर्मा, डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना ने सदर्भित युग के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों पर प्रकाश डाला है[१]। युगीन 'काव्यशास्त्र' की रूपाकृति का रेखांकन करते हुए सभी समीक्षक इस युग की सर्जना में बहुसंख्यक अलंकार-प्रयोग तथा अप्रस्तुत विधान के रूप में प्रयुक्त शब्दों की अर्थ-व्यंजना में विलासिता की प्रतिच्छाया देखी है । अलंकार शब्द शक्ति और रीति गुण के विवेचन में उल्लेखनीय नवीनता न होने पर भी देव, केशव, पद्माकर, बेनी प्रवीन तथा 'ठाकुर' आदि कृतिकारों के चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकारों की झड़ी तथा नायिका-भेद की पूरी प्रदर्शिनी लगा दी है । आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ की प्रतिभा के सम्मुख देव, पद्माकर, घनानन्द में वह प्रतिभा नहीं था किन्तु लोकप्रियता तथा लोक रुचि का प्रभाव इनकी कृतियों पर उभर कर सामने आता है ।

१- हिन्दी साहित्य (द्वितीय भाग)- डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६६

डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना,

कृति के गर्भ से उद्भूत प्रतिमान के परिप्रेक्ष्य में

रीति काव्य का पुनर्मूल्यांकन

हिन्दी रीति काव्य के समीक्षण और मूल्यांकन-परम्परा में समीक्षकों और आचार्यों द्वारा जो प्रतिमान निर्धारित किये गये उनमें कृतिकारों की दृष्टि या उस युग के सामाजिक मूल्यों को अनालोचित मानकर निर्णय किये गये हैं । शृङ्गारिकता, नायिकाभेद अलंकृति, चमत्कृति तथा उक्ति वैचित्र्य का रेखांकन उसी प्रक्रिया का परिणाम है । आचार्य केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति मिश्र, प्रताप साहि तथा आचार्य भिखारीदास की शास्त्रीय स्थापनाओं को ही प्रतिमान का केन्द्र बिन्दु मानकर डा० नगेन्द्र, डा० सत्यदेव चौधरी, डा० भगीरथ मिश्र आदि समीक्षकों ने रीतिकाव्य और `रीतिशास्त्र` का मूल्यांकन किया है । किसी एक रचनाकार की कृति विशेष में आगत पंक्ति अथवा प्रतिपादित मत के सहारे केशवदास को अलंकारवादी या देव को रसवादी सिद्ध किया गया । इसी परम्परा का अनुपालन करते हुए अनेक अध्येताओं तथा अनुसन्धान कर्ताओं ने अपने मत की पुष्टि के लिए रीतिकालीन काव्य पंक्तियों का आधार ग्रहण किया है । समीक्षण और मूल्यांकन के लिए उपर्युक्त प्रक्रिया आंशिक रूप से सत्य के निकट होने पर भी सम्पूर्ण काल खण्ड के शाश्वत प्रतिमान रूप में एकांगी और सीमित है । `भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त` पंक्ति के आधार पर केशव को अलंकारवादी मानने पर `रसिकप्रिया` का प्रतिपाद्य अनुद्घाटित रह जाता है । इसी प्रकार `भवानी विलास` के आधार पर `देव` को रसवादी मानने पर अन्य कृतियों का अलंकार निरूपण तथा `शब्द शक्तियों` के सहारे ध्वनि और वक्रोक्ति सम्बन्धी अनुशासन बाहर पड़ने लगता है । काव्य समीक्षा के शाश्वत प्रतिमान निर्धारण हेतु किसी कृतिकार की एक कृति नहीं अपितु उसकी सम्पूर्ण कृतियों के अध्ययन के साथ-साथ उस युग और समाज की सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक होता है । प्रतिमानीकरण की इस प्रक्रिया को निर्भ्रान्त बनाने के लिए उस युग के प्रतिनिधि रचनाकारों की

कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है । रचनाकार के मन में स्थित कृति के कथ्य और शिल्प की अवधारणा ही अभिव्यंजना का आकार ग्रहण करती है । अध्येता और समीक्षक के समक्ष कृति की अपनी बुद्धि और शक्ति की समन्वित सीमा और सम्भावना विद्यमान रहती है । कृति और कृतिकार की शिल्पविधि तथा शैली का अनुशीलन करते समय समीक्ष्य कृति की पृष्ठ-भूमि का भी अध्ययन भी अपरिहार्य है ।

रीतिकालीन कविता के नव्यशास्त्रीय प्रतिमानों के अनुशीलन के लिए उस युग की कविता के यथा-सम्भव अंश का अवलोकन करके ही 'काव्य और शास्त्र' को समझा जा सकता है । ऐसा करने पर जो निष्कर्ष निकलता है वह कृति की सीमाओं और सम्भावनाओं के अतिरिक्त कृतिकार के सामाजिक सम्बन्धों को भी जानने में सहायक होता है । "साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के लिए यह जानना एकान्त आवश्यक है कि कृतिकार का अपने पाठक या ग्रहीता समाज से कैसा सम्बन्ध रहा । क्योंकि जैसा यह सम्बन्ध होगा या इस सबंध की जैसी अवधारणा समाज करेगा उसी के अनुकूल सम्प्रेषण की परिपाटी वह कृतिकार अपनायेगा ।"[1] यह दृष्टिकोण ही पूर्ण दृष्टिकोण है जिसे अपना कर आचार्य केशव के आचार्यत्व तथा बिहारी के कृतित्व में समान युग की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है तथा अध्येता परम्परागत रूढ़ियों से बचकर कृति के गर्भ में स्थित सौन्दर्य कलात्मकता तथा "प्रेषणीयता" के आधार पर कविता की समीक्षा कर सकता है ।

'कृतिकार', 'उसके समाज के सम्बन्ध' तथा 'सम्प्रेषण' की (अज्ञेय समर्पित) परिपाटी को केन्द्र में रख कर डा० मोहन अवस्थी ने 'रीतिकालीन कविता और समकालीन उर्दू काव्य' का प्रणयन किया है । सामन्तीय व्यवस्था, दरबारी परिवेश तथा किशोर-किशोरी का 'शृंगार' व्यापक अर्थ में ग्रहण करने के लिए डा० अवस्थी ने 'हिन्दी' तथा 'उर्दू'

१- भारतीय साहित्य-परम्परा और सन्दर्भ -- अज्ञेय
सर्जना और सन्दर्भ - सं० १९८६, पृ० १९७

को मध्यकालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा खान-पान, वेश-भूषा, कर्मकाण्ड, विवाह, `गौने` आदि क्रियाओं के आधार पर कविता को जीवन से जोड़ने का सार्थक प्रयास किया है[1]। `रीति` का अर्थ `सुषमा` मान लेने पर सौन्दर्य की अतिशयता की प्रयोजनीयता में सभी प्रतिमान समाहित हो सकते हैं। सभी काव्यांग-- रस, अलंकृति, गुण-दोष, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि भी इसी सीमा में आ जाते हैं[2]। इसी प्रकार, वर्गीकरण की उस `रीतिबद्ध, रीति सिद्ध, `रीति मुक्त स्थिति से बचकर समूचे काल खण्ड को मात्र रीति-सौन्दर्य के माध्यम से जाँचा परखा जा सकता है। `रीति` के अन्य अर्थ `काव्यरीति`, `कवि-रीति`, छन्द-रीति`, तुक प्रयोग अलंकार रीति, `रसरीति` आदि सभी शब्दों के अर्थ-सौन्दर्य के उचित सामंजस्य रूप में ग्रहण किया जा सकता है। `ऐसी दशा में रीति-शास्त्र या काल के अन्तर्गत केवल रीति-सिद्धान्त की चर्चा करने वाले ग्रन्थ नहीं आते, वरन् उन समस्त ग्रन्थों का समावेश हो जाता है जिसमें काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया हो।[3]

उत्तर मध्यकालीन कविता में श्रृंगाररसाश्रित नायिका भेद की परम्परा, ऐहिक सुख युक्त इन्द्रिय संवेदन-युक्त बिम्ब एवं अप्रस्तुत विधान तथा `चिति की पुरनवासना` के साथ-साथ `पानी को सार, बखानो सिंगार ~~को~~ सिंगार सार किसोर किसोरी` की परिणति है। सामाजिक चित्रों के माध्यम से कविता को प्रेषणीय बनाने के लिए इस युग के कवियों ने वर्ण्य-विषय के रूप में आंगिक सौन्दर्य का चित्रण किया है[4]। रेशमी मखमली वस्त्र की पचतोरिया

१- रीतिकालीन कविता और समकालीन उर्दू काव्य - डा० मोहन अवस्थी

२- रीतिकालीन कविता (भूमिका) - आचार्य विश्वनाथ मिश्र

३- हिन्दी साहित्य (द्वितीय भाग) - भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, सं० १९५६, पृ० ४२२

४- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास-सं० डा० नगेन्द्र (षष्ठ भाग) सं० २०१५, पृ० १८६।

साड़ो तथा अंगों के उभार को प्रदर्शित करने के लिए कृतिकारों ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग करके शिल्प-विधि के स्थान पर महीन पच्चीकारी की है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी आलोच्य कविताओं में ऐसे समाज की उपस्थिति स्वीकार करते हैं जो मध्यम कोटि सुरुचि सम्पन्नता का द्योतक है।[1] तुलसी की 'वेद सुना बुरि विप्र पढ़ाहीं' या कबीर की 'दुलहिनि गावहु मंगलचार' के अतिरिक्त 'तन रति करि मैं मन रति करिहौं' की तरह रचनाकारों के मन में स्थित-दमित वासना की प्रतिक्रिया से उत्पन्न बिम्ब रीतिकाल में कम नहीं हैं। नीति, उपदेश, धर्म, शिक्षा, आयुर्वेद तथा कवि शिक्षा के सन्दर्भ एवं भक्ति के भी भावन व्यापार की परिणति इस युग में देखी जा सकती है।[2] रचनाकार सदैव शृङ्गाररस के दो संयोग-वियोगजन्य विभाव अनुभावों का चित्रण करता रहे यह असम्भव है। इसीलिए वह अपना उद्देश्य भी प्रकट कर देता है -- 'आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।' अन्यथा युग का प्रतिमान है 'नायिका' का सौन्दर्य तथा 'नायिका' से तात्पर्य है --

> पहिले जोबन रूपगुण शील प्रेम पहिचानि
> कुल वैभव भूषण बहुरि आठहु अंग बखानि ।।[3]

आठों अंग से पूर्ण अष्टांगवती नायिका में त्रिभुवन मोहन रूप - सुषमा की छटा जो अंगों की संरचना में उचित सामंजस्य बनकर 'स्तन मन नैन नितम्ब के इजाफे' से प्रकट होती है किन्तु उतनी ही जितना कि सहृदय-रसिक के मन में कोमलता द्रवत्व तथा सुख की अनुभूति करा सके। मध्यम कोटि समाज की सुरुचि सम्पन्नता, वेश-भूषा, खानपान तथा ग्रामीण 'किशोर-किशोरी'

1- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

2- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (रीतिकाल के अन्य कवि) सं० २०२१, पृ० २२२

3- देव और उनकी कविता में - डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत, पृ० [illegible]

की भंगिमायें भी सन्दर्भित कविता में है जो भक्तिकाल की पारलौकिक चेतना को लौकोन्मुखी बनाने में समर्थ है[1]। रीतियुग की सामाजिकता के अनुरूप अभिव्यक्ति की ईमानदारी के साथ ही प्रेम और स्वच्छन्दता से युक्त प्रकृति के आलम्बन एवं उद्दीपन युक्त चित्र सेनापति, पद्माकर, देव और बिहारी की कविता में देखे जाते हैं। "प्रवीनराय" को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के लिए कविप्रिया की रचना, सुजान की विरहानुभूति से युक्त "घनानन्द की प्रेम की पीर" तथा सुदामा की दीनता का नरोत्तम द्वारा चित्रण किसी एक प्रतिमान द्वारा नहीं मापा जा सकता है।

रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन की परम्परा द्विवेदी युग से पूर्व पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लालाभगवानदीन "दीन" तथा पं० कृष्ण बिहारी मिश्र जैसे सहृदय समीक्षकों द्वारा आरम्भ हुई थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की मर्यादित दृष्टि जब इन समीक्षाओं की ओर गई तो रीति युग की नायिका-भेद युक्त आंगिक सौन्दर्य की कविता की नयी धारा की ओर मोड़ने के लिए उन्होंने उस युग की भाषा, अलंकृति, स्वच्छन्दता एवं प्रकृति चित्रण की रूढ़ि को तोड़ने का सार्थक प्रयास किया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा बनायी गयी आधुनिकता की नैतिकतावादी लीक पर चलकर आचार्य शुक्ल ने तुलसी की तुलना में सूर के काव्य को जायसी की तुलना में, कबीर के काव्य को तथा मतिराम और पद्माकर की तुलना में केशव की कविता को सम्मान से बाहर कर दिया। इसी राह पर चलकर डा० हीरालाल दीक्षित, डा० विजयपाल सिंह, डा० किरन चन्द्र शर्मा आदि ने भी शुक्ल जी के निर्णयों के इर्द-गिर्द घूम फिर कर उन्हीं

1- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - सप्तम भाग - सं० डा० भगीरथ मिश्र (रीतियुक्त), सं० २०१५।

2- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास-षष्ठ भाग, - डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १६३।

घूम फिर कर उन्हीं स्थापनाओं को स्वीकार किया । 'मतिराम और पद्माकर' के सम्बन्ध में शुक्ल जी के निर्णय का समर्थन करते हुए डा० रामविलास शर्मा कहते हैं कि यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विवेकपूर्ण दृष्टि है जो उचित और आवश्यक है[1] । जबकि 'केशव की कविताई' की समीक्षा प्रयोगवाद और नयी कविता के शलाकापुरुष 'अज्ञेय' करते हैं और उनके कथन की भंगिमाओं की प्रशंसा करते हैं[2] । रीतिकालीन कविता में विद्यमान सामान्यजन 'मध्यमवर्गीय समाज' ग्रामीण चित्र तथा व्यंग्योक्तियों पर समीक्षकों का ध्यान कम हो गया है। अधिकांश अध्येता इस युग पर सामन्तीय व्यवस्था का ही घटाटोप देखकर बहुमूल सौन्दर्याभिरुचि की रूढ़ि के शिकार हुए । डा० नगेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक समीक्षा तथा स्वच्छन्दतावादी[3] दृष्टि को अपनाते हुए 'रीतिकालीन' कविता की तटस्थ समीक्षा की । 'बिहारी रत्नाकर' बिहारीबोधिनी आदि टीकाओं में संकेतित दृष्टियाँ समीक्षा में लुप्त सी हो गयी था जिनकी ओर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ध्यान दिया है ।

रीतिकालीन कविता में सामन्तीय युग की स्पष्ट छाप होने पर भी फाग वर्णन, त्योहार और उत्सव वर्णन, विवाह, गौन, आदि संस्कारों के चित्र यह प्रमाणित करते हैं कि आलोच्य कविता में 'जन' भी है । इस कविता की मानववादी दृष्टि तथा दरबारी कविता से मोह-भंग की स्थिति भी है । इसी युग में रचे गये लक्षण ग्रन्थों के रूप प्रस्तुत

१- परम्परा का मूल्यांकन - डा० रामविलास शर्मा, सं० १९८१, पृ० १००

२- हिन्दी साहित्य (अज्ञेय) । कविता और सन्दर्भ - सं० १९८६ ।

३- रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, भारतीय काव्य की परम्परा (भूमिका) ।

'रीतिबद्ध' कविता को नव्यशास्त्रीय प्रतिमान के रूप में देखना एक अन्य समस्या है । डा० कृष्णचन्द्र वर्मा ने इस युग के 'काव्यशास्त्र' के अतिरिक्त कविता को पश्चिमी जगत की स्वच्छन्दतावादी कविता के समतुल्य कहा है[1] तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने १७वीं अट्ठारहवीं शताब्दी की कला-संगीत की सापेक्ष्य दृष्टि से इस युग की संवेदना को ग्रहण करने की सम्मति दी है। मीर-देव घनानन्द तथा गालिब और पद्माकर की संवेदना में समकालीनता का आधार दिखाकर डा० चतुर्वेदी रीतिकाल के परवर्ती चरण की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है[2] ।

पूर्व मध्यकाल को जिस प्रकार निर्गुण और सगुण दो पूर्ववर्ती परवर्ती धाराओं के प्रवाह रूप में देखा जाता है उसी प्रकार रीतिकाल भी दो धाराओं में विभक्त है । कृपाराम, केशवदास और चिन्तामणि के साथ नन्ददास और सूर की रीति सम्बन्धी कृतियों को यदि रीति की पूर्ववर्ती सैद्धान्तिक परम्परा कहा जाय तथा बिहारी दास, पद्माकर ठाकुर, आलम शेख, घनानन्द आदि को सगुण-साकार किन्तु स्वच्छन्द धारा का रचनाकार कहा जाय तो परवर्ती रचनाकारों के साथ अधिक न्याय हो सकता है ।

रीतिशास्त्र की भामह, दण्डी, मम्मट, पण्डित राज जगन्नाथ, अप्पय दीक्षित आदि की परम्परा, प्राकृत अपभ्रंश की 'गाथा सप्तशती' की शृङ्गारिकता से आकर मिल गई जिसे प्रेम-सौन्दर्य और प्रकृति का रंग भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने दिया । भक्त कवियों के कृष्ण और राधा, 'लाल' और 'लली' रूप में मानवीय लीला करते-करते क्रीड़ा और

१- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (सप्तम खण्ड) - सं० भगीरथ मिश्र
सं० २०२६, पृ० ३

२- हिन्दी साहित्य : संवेदना का विकास : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,
सं० १९८६, पृ०

`प्रणय-लीला` लगी गयी है इसी अलंकार चमत्कार, शृंगार तथा मानवीय संवेदना के त्रिआयामी त्रिभुज के केन्द्र में रीतियुगीन कविता का प्रतिमान स्थापित किया जा सकता है। अलंकार-सौन्दर्य चमत्कार तथा उक्ति वैचित्र्य के बाह्य अभिव्यंजना-गत `काव्यरूप` के अन्तर में स्थित `अष्टांगवती नायिका` की सहज `सुषमा` के साथ-साथ भक्ति रसार्णव सिन्धु तथा उज्ज्वल नील मणि सिन्धु की परवर्ती रस दृष्टि इसके पास ही है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की अलंकार-अलंकार्य भेदमूलक दृष्टि से इस प्रतिमान की पृष्ठभूमि को समझा जा सकता है। भक्ति-रीति से रीति-आधुनिक काल की `अवधि की सीमा` में विस्तृत युग सापेक्ष्य और मुगलों के शासन की विलासिता और पतनोन्मुखी सामन्तीय व्यवस्था के साथ कम्पनी शासन के पूर्व डच, पुर्तगाली आदि विदेशियों के आगमन से उत्पन्न अंग्रेजियत के प्रभाव से उत्पन्न आधुनिकता से इसका मुख्य टकराव रहा है।

रीतिकाल के आचार्यत्व की तुलना में `कवित्व` की महिमा स्वीकार करने वाले आचार्य शुक्ल ने मूल्यांकन का जो पथ निर्मित किया था उसी पर चलते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी समीक्ष्य युग की कविता को कविता रूप में ही स्वीकार किया है। रसात्मकता की दृष्टि से शृंगार तथा `नायिका भेद` को स्वतंत्र प्रतिमान रूप में स्वीकार करने पर भी चमत्कृति की पहचान आचार्य शुक्ल ने की है। रीतिकालीन कविता में जितनी विविधतायें देखी जाती है उतनी किसी अन्य कालखण्ड की कविता में नहीं रही है। आचार्यत्व, कवित्व, रीतिबद्धता, स्वच्छन्दता, चमत्कार-पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा सहृदय को केन्द्र में रखकर रची गयी कविता में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक धारा का समन्वय इस काल की कविता की प्रमुखता है। उधर मध्यकालीन समन्वयवादी कविता में व्याप्त संवेदना और प्रेषणीयता को यदि `प्रतिमान` के रूप में स्थापित किया जाय तो उसका बाह्य रूप ही प्रमुख लगता है। `प्रेम`

शृङ्गार तथा विविध हावभावों को इस कविता में ‘घनानन्द’ का उद्घोष ‘अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेक सयानप बाँक नहीं’ ध्यातव्य है । उपर्युक्त पंक्ति का व्यंजनापरक अर्थ ‘सयानप’, बाँकापन (नहीं) तथा ‘मिलनके कपटों का निषेध कर ‘साँचों’ के चलने की प्रेरणा तत्कालीन कविता का प्रतिपाद्य है । ‘लोग हैं लागि कवित्त बनावत, ‘मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत’ से उपर्युक्त कथन को जोड़ने पर रीतिकाल का यह सीधा मार्ग प्रेम का मार्ग बन जाता है । ‘सयानप’ आचार्यत्व और रीति-बद्धता एवं वक्रताभिधेयता का बाँकापन हो सकता है ।

-0-

अध्याय ३

आधुनिक हिन्दी समालोचना समीक्षा प्रतिमानों की विवृत्ति एवं आवृत्ति

हिन्दी समालोचना का उद्भव— 'भारतेन्दु युग'

हिन्दी समीक्षा में प्रतिमानीकरण मूल्यांकन और समालोचन का आरम्भ आधुनिक काल की देन है । 'एक जीवन्त प्रक्रिया के रूप मे जिस आधुनिकता का विकास भारतेन्दु युग के साथ हुआ, उसे स्वर देने का कार्य हिन्दी समीक्षा ने किया ।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'आधुनिक काल' को 'गद्यकाल' कहे जाने का एक कारण यह भी है कि गद्य के विकास के साथ ही हिन्दी समीक्षा का वास्तविक उद्भव सम्भव हो सका[१]। समीक्ष्य काल की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के दबाव और टकराहट के कारण काव्य की मूल संवेदना मे द्वन्द्व और द्वैध का स्पष्ट चिन्ह इसी युग मे दिखाई पड़ा । स्वदेश-प्रेम, संस्कृति के प्रति अनुराग, राष्ट्रीयता तथा जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि के उदय के कारण कविता के अतिरिक्त निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि गद्यात्मक विधाओं के उद्भव के साथ ही हिन्दी समालोचना का भी जन्म हुआ[२]। इस विकास का मुख्य कारण समकालीन जीवन दृष्टि है जिसकी मुख्य विधा निबन्ध और आलोचना है ।

रीतिकाल मे संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा तत्कालीन परिस्थितियों के द्वन्द्व से हिन्दी का अपना 'काव्यशास्त्र' उद्भूत हो चुका था किन्तु तद्युगीन काव्यानुशासन में कविता की प्रधानता के कारण 'शास्त्र' की धारणा तथा तार्किकता असम्भव थी । 'समीक्षा' के द्वारा कृति में प्रवेश तथा तद्विषयक तत्व एवं शिल्प का संवेदनात्मक परिज्ञान ब्रज भाषा की कविता के माध्यम से असम्भव था जिसका परिहार गद्यकाल में हिन्दी समालोचना के साथ सम्भव हुआ ।

गद्यकाल के प्रथम चरण भारतेन्दुयुग में हिन्दी समीक्षा का आरम्भ

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (नागरी प्र०) सं० २०२६

२- डा० नगेन्द्र ने एक निबन्ध में इसी से मिलता-जुलता मत व्यक्त किया है।

भारतेन्दु के समीक्षात्मक निबन्ध 'नाटक' के प्रणयन से माना जाता है[1]। काव्य-शास्त्र के रूप में इसकी एक परम्परा पहले से आती दिखती है, पर रचना को शास्त्र से जोड़ने वाली प्रक्रिया के रूप में आलोचना का उदय आधुनिक काल में ही होता है। यह आलोचना काव्य का 'शास्त्र' नहीं काव्य का जीवन है, जो बार-बार रचा जाता है[2]। काव्य संवेदना और साहित्य की धारा हिन्दी समीक्षा में समानान्तर चलती है। इसके पूर्व शास्त्रीय प्रतिमानों की उद्भावना संस्कृत काव्य शास्त्र के माध्यम से हो चुकी थी जिसका विकास रीतियुगीन आचार्यों ने शक्ति और सम्भावना के अनुरूप किया था। "पुरातन के प्रति इस नूतन उद्घाटन में यदि प्रदर्शन वृत्ति न होकर जिज्ञासु वृत्ति होती तो हिन्दी की रीति-काव्य-परम्परा भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास में एक अपूर्व घटना होती, परन्तु पराधीन देश का वर्तमान ही नहीं अतीत भी गुलाम बन जाता है।"[3] रीति काव्य-परम्परा अपूर्व घटना भले न हो किन्तु काव्यशास्त्र को हिन्दी कविता के लक्षण-ग्रन्थों द्वारा प्रस्तुत कर रीतियुगीन आचार्यों ने प्रबुद्ध वर्ग के विषय 'शास्त्र' को सर्वजन सुलभ बनाने का सार्थक प्रयास किया। शुद्ध नागरिकता, मांसल-सौन्दर्य-दृष्टि तथा चमत्कार प्रदर्शन होने पर भी काव्य-सौन्दर्य का जो प्रतिमान उस युग में निर्मित हुआ था वह कम महत्वपूर्ण नहीं है।

'काव्य-शास्त्र' को कविता के समानान्तर-- किसी सीमा तक काव्य से श्रेष्ठ और समृद्ध माना जाता रहा है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के रचयिता भामह, दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ, राजशेखर तथा पण्डितराज जगन्नाथ में बहुमुखी प्रतिभा थी। 'रस', अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा गुण-दोष की पूर्व उद्भुत परम्परा पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक अपनी महत्तम उपलब्धि के साथ समाप्त हो गई। यह एक संयोग ही कहा जायगा कि

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (नागरी प्रचा०)

2- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास . डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १११, प्रथम -१९८६

3- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग)- सम्पादक डा० नगेन्द्र, पृ० सं० -

जिस युग मे संस्कृत काव्यशास्त्र के परवर्ती आचार्य `पण्डितराज` का `रसगंगाधर` लिखा गया था उसी युग में रीतिशास्त्र का भी सृजन हो रहा था । अपने युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप रीतिकाल के कवि और आचार्यों ने सृजन के साथ-साथ शास्त्र का नियमन और काव्यानुशासन प्रस्तुत करके व्यापक कार्य किया है । सामन्तीय व्यवस्था मे जुड़ी सहृदयता एवं विलासिता की कक्षा मे शास्त्रीय नियमन इसी रूप मे सम्भव था । केशव, मतिराम, देव, भिखारीदास, पद्माकर, कुलपति मिश्र आदि उत्तर मध्ययुगीन आचार्यों का शास्त्रीय योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

भारतेन्दु युगीन आधुनिकता का संवाहक `नाटक` रहा है । एक ओर संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी की अनूदित रचनायें हिन्दी नाटकों की समृद्धि का कारण बनी तो दूसरी ओर नाट्य सर्जना के नियमन हेतु `नाटक` नामक समीक्षात्मक कृति अन्य रचनाकारों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनी । `भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी साहित्य मे जो नवीन जीवन परिव्याप्त हुआ उसने आलोचना के स्वरूप और प्रकार मे भी नये तथ्यों का आविर्भाव किया । साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक होने लगा । काव्य समीक्षा मे तो किसी प्रकार अलंकार और रस पद्धति का प्रयोग चल सकता था किन्तु नये उपन्यास, नई कहानी और नये काव्य भी प्रस्तुत होने लगे थे जिनके लिए नये प्रतिमानों की आवश्यकता थी ।`[१] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का उपर्युक्त कथन भारतेन्दु की नाट्य समीक्षा के लिए स्वीकार किया जा सकता है । जिस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र का आरम्भ आचार्य भरतमुनि के `नाट्य-शास्त्र` से हुआ तथा पाश्चात्य समीक्षा के आरम्भ में रोमीय समीक्षा `पेरिपोयेटिकेस` ( आन पोयेटिक्स ) लिखी गयी उसी प्रकार हिन्दी समीक्षा का श्री गणेश भारतेन्दु की इस कृति से हुआ । समीक्ष्य कृति मे दी गयी दृश्य-काव्य की परिभाषा से यह परिलक्षित होता है कि समीक्षा के केन्द्र में दृश्यकाव्य `नाटक` होने पर भी `कवि` और `काव्य सर्जना` पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान है । `दृश्यकाव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हावभाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे । . . . . कविकथित वाणी के

१- `नया साहित्य नये प्रश्न` आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० १९५५ पृ० ५४-५५

उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य को दर्शकों के चित्त पर अंकित कर देना ही दृश्य काव्य है ।[1] `ग्रन्थ पढ़ने से काव्यजनित आनन्द की तुलना मे नाटक देखने से चतुर्गुणित आनन्द` की प्राप्ति नाटक के प्रति भारतेन्दु के अपर्व लगाव तथा संस्कार की परिचायक है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह मत भी इसी क्रम में आ जाता है कि `उनके समय तक काव्य-समीक्षा का प्रतिमान रसजनित आनन्द ही था`[2]। भारतेन्दु द्वारा `काव्येषु नाटक रम्य`, का समर्थन परवर्ती रस चिन्तन के सैद्धान्तिक विकास का प्रतिफल है । नाट्याचार्य भरतमुनि ने `कवि` या रचनाकार के स्थान पर अनुकर्ता द्वारा ही नाट्य मंच की क्रिया का सम्पादन अभिनय के रूप में कराया है जो `भाव`, `नृत्त` तथा `नृत्य` की क्रिया से युक्त है[3]। नाट्याचार्य की यह चूक भारतेन्दु के ध्यान मे थी अत उन्होंने नाटक की परिभाषा में `कवि की वाणी`, `उसके हृदयगत आशय`, `कवि कथित वाणी` आदि तत्वों द्वारा कवि कर्म को महत्वपर्ण कर दिया ।

भारतेन्दु एक निबन्धकार, नाटककार, कवि, अभिनेता तथा कला मर्मज्ञ एव संगीत-शास्त्र के ज्ञाता थे । अपने युग की साहित्यिक संवेना पर भी उनका ध्यान था । विवेच्य समीक्षा के माध्यम से उन्होंने काव्यकला की समकालीनता, यथार्थबोध तथा ग्रहीता की रुचि का विशेष ध्यान रखते हुए लिखा है कि `नाटककार को सहजभाषा, बोधगम्य शैली में ग्रहीता (सहृदयजन) की रुचि के अनुकूल नाटक की रचना करनी चाहिए । उनके विस्तृत निबन्ध से यह प्रकट होता है कि रचनाकार का ज्ञान, अध्ययन तथा जीवन और समाज की परिस्थितियों की विशद समीक्षा कृति को सफल तथा लोकप्रिय बनाती है । प्राचीनता का परित्याग, नवीन शैली, नवीन भाषा का अनुवर्तन तथा पात्र परिकल्पना की नवीनता की ओर भी भारतेन्दु का ध्यान गया है[4]।`सहृदय की ग्राह्यता ``देशीय रीति नीति`५८

१- हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना मे संकलित -(नाटक अथवा दृश्यकाव्य निबंध)

२- नया साहित्य नये प्रश्न - नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ५४-५५, स० १९५८

३- नाट्यशास्त्र - भरतमुनि

४- `सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं बोध होता ।`

(नाटक अथवा दृश्यकाव्य - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु ग्रन्थावली) ।

पहली आलोचक दृष्टि उनके युग प्रवर्तक व्यक्तित्व के अनुरूप है । इस निबन्ध से यह व्यक्त होता है कि पूर्व तथा पश्चिम के नाट्यशास्त्र का विस्तृत अध्ययन करके ही उन्होंने अपने युग की समीक्षा का प्रतिमान निर्धारित किया था । अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ शेक्सपियर क्रिस्टोफर मार्लो आदि नाटककारों की कृतियों के अध्ययन-अध्यापन से हिन्दी जगत में एक ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था जिसकी नयी अभिरुचि का ध्यान रचनाकार के लिए आवश्यक था । 'आधुनिकता' तथा 'समसामयिकता' की इस माग के अनुरूप कविता और समीक्षा में आने वाली परिवर्तित जीवन-दृष्टि भारतेन्दु के इस निबन्ध से प्रकट होती है । बंगाल में रंगमंच की स्थापना तथा वहां पाश्चात्य नाटकों के मंचन से प्रकट होने वाली सुरुचि सम्पन्नता भी भारतेन्दु को ज्ञात थी । नाट्य कृति तथा नाट्यशास्त्र को एक दूसरे से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य भी उनके द्वारा सम्पन्न हुआ।[1]

भारतेन्दु केवल शास्त्रीय परम्परा को ही मानकर चलने वाले समालोचक नहीं थे, अपितु मौलिक उद्भावनाओं का महत्व स्वीकार करते थे । 'कवि वचन सुधा' की इस टिप्पणी के अतिरिक्त समय-समय पर उनके द्वारा लिखित समीक्षायें भी उस युग के मानक का बोध कराती हैं । इन स्थापनाओं के मूल में निहित आलोचना का बीज भारतेन्दु ने बोया था जो आगे चलकर आधुनिक समीक्षा रूप में विकसित हुआ । एक रचनाकार के रूप मे कृति को युग और समाज से जोड़कर 'प्रयोग और प्रेषणीयता' की चुनौती उन्होंने भी झेली थी । 'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है' एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' आदि निबन्ध, नाट्य-कृतियों के अनुवाद तथा मौलिक नाट्य सर्जना द्वारा 'भारत दुर्दशा' का ज्ञान कराने और कराने वाले रचनाकार का समीक्षा क्षेत्र मे योगदान अविस्मरणीय है । काव्य-कृतियों में काव्य-भाषा रूप में ब्रज को स्वीकार करते हुए रीतियुगीन शिल्प-विधि का अनुपालन उनके 'परम्परा' से ग्रहीत संस्कार थे और नाटक, निबन्ध तथा समीक्षा में यथार्थवादी प्रयोग उनकी प्रगतिशीलता की देन थी ।

काव्य समीक्षा की विकास-यात्रा के क्रम में कृतिकार को दिशा-निर्देश के साथ लेखन की प्रेरणा भारतेन्दु मण्डल के अन्य लेखक बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण

१- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ११६, सं० १९८६।

मिश्र व चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय `प्रेमघन` आदि ने भी दी है । `हिन्दी प्रदीप`, `ब्राह्मण`, `कवि वचन सुधा`, `प्रेमघन सर्वस्व` आदि पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी निबन्ध (गद्य) लेखन का आरम्भ हुआ तथा पढ़े लिखे लोगों को हिन्दी पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई । `हिन्दी प्रदीप` की टिप्पणियों द्वारा रचना का स्तरोन्नयन तथा गुण-दोष एवं प्रभावोत्पादकता पर डाला गया प्रकाश `आलोचना` की एक सुदृढ़ शुरुआत है । इसी समय चौधरी बदरीनारायण `प्रेमघन` ने आनन्दकादम्बिनी में `संयोगिता स्वयंवर` की समीक्षा लिखी थी । मार्च सन् १९७८ से अप्रैल सन् १९८६ के आसपास तक `रणधीर प्रेममोहिनी` (लेखक लाला श्री निवास दास) की समीक्षा के अतिरिक्त `भारतवर्ष की जातीय भाषा`[1] में उर्दू हिन्दी मिश्रित भाषा का समर्थन भी देखा जाता है । आलोचना के विकास मे पुस्तक समीक्षाओं का योगदान असंदिग्ध है । जिसके समर्थन मे डा० निर्मला जैन ने कहा है कि, "हिन्दी मे आलोचना का विकास पुस्तक समीक्षाओं के माध्यम से हुआ । ... समकालीन साहित्य के मूल्यांकन क्रम में सामान्य सिद्धान्तों और प्रतिमानों का निर्माण होता है । ... आलोचना के इस स्वरूप का उद्घाटन हिन्दी के साहित्यानुशीलन के विकास-क्रम के अन्तर्गत काफी पहले हो गया था[2]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके गुण-दोष[3] के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं (बाल कृष्ण भट्ट, प्रेमघन) ने चलाई ।" डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी[4] ने हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना की शुरुआत नाटक से मानी है । `आलोचना तथा

१-(क) हिन्दी प्रदीप (मार्च सन् १९७८) पृ० स० १६

(ख) हिन्दी प्रदीप (अप्रैल सन् १९८६), पृ० १७, २१

(ग) ,, ,, (जुलाई सन् १९८५), पृ० (१-५) — स० बालकृष्ण भट्ट

२- हिन्दी आलोचना, बीसवीं शताब्दी - डा० निर्मला जैन, सं० १९७५

३- ,, ,, ,, - (भूमिका) ,,

४-

तथा `समालोचना` शब्द का भिन्न प्रयोग आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण का परिचायक है । कृति पर आधारित समीक्षा को शुक्ल जी ने `समालोचना` कहा है तथा अन्य समीक्षाओं के लिए उन्होंने `आलोचना` शब्द का प्रयोग किया है । डा० निर्मला जैन ने आचार्य शुक्ल जी का `समालोचना` सम्बन्धी मत उद्धृत करके `नाटक` के लेखन से समीक्षा का आरम्भ संदिग्ध कर दिया । वास्तविकता यह है कि हिन्दी समीक्षा का आरम्भ भारतेन्दु के `नाटक` से होने पर भी पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले पुस्तक-परिचय सम्बन्धी स्तम्भ तथा टिप्पणियों से स्वस्थ आलोचना का आरम्भ हुआ है । प्रतिमान निर्धारण तथा व्यवहार की दृष्टि से हिन्दी गद्य के उद्भव काल के साथ ही उपर्युक्त दोनों धाराएं समानान्तर रूप से प्रवाहित हुईं । भारतेन्दु युग की यह कृति `दृश्य-काव्य या नाटक` समालोचना कम सैद्धान्तिक समीक्षा अधिक है जिसमें `नाटक` केन्द्रीय विधा है । `पत्रकारिता` तथा `पुस्तक परिचय` को समीक्षा का परवर्ती चरण कहना चाहिए जिसे शुक्ल जी ने वास्तविक समीक्षा (समालोचना) कहा है ।

भारतेन्दु युगीन हिन्दी समीक्षा का परवर्ती चरण द्विवेदीयुगीन समीक्षा का प्रेरणा स्रोत है । `हिन्दी प्रदीप`, `कवि वचन सुधा`, `सार सुधा निधि` आदि पत्रिकाओं के माध्यम से भी बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, काशीनाथ शर्मा, दुर्गाप्रसाद मिश्र आदि साहित्यकारों ने भाषायी दृष्टि से हिन्दी उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी रूप का समर्थन किया । नाटककार, कवि, निबन्धकार, कहानीकार, आलोचक, उपन्यासकार आदि रूपों में इस युग के साहित्यकारों ने यथार्थवादी दृष्टि अपनायी है । डा० रामविलास शर्मा ने काव्य समीक्षा के प्रतिमान निर्धारण में प० प्रतापनारायण मिश्र के स्वभाव की तुलना निराला से की है । प्रतापनारायण मिश्र का स्वभाव निराला से मिलता-जुलता था । इसी स्वच्छन्द एवं अक्खड़ स्वभाव के कारण भी मिश्र ने कविता के मूल्यांकन और प्रतिमानीकरण में अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया ।[1] काव्य

१- आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण -- डा० रामविलास शर्मा, पृ० २८३, स० १९७७ ।

समीक्षा की दिशा में उठाये जाने वाले प्रश्न तत्कालीन समीक्षा के मानक कहे जा सकते है । 'काव्य-भाषा' के प्रश्न पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा बालकृष्ण भट्ट का रुख नर्म था किन्तु प्रतापनारायण मिश्र का नहीं ।

'सच्ची कविता' मे चित्त को 'एक सच्ची और वास्तविक भावना' की तस्वीर का होना[2] कविता के युगीन प्रतिमान के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । प्रयोगवाद और नयी कविता की 'काव्य-भाषा' में देशज तथा लोक प्रचलित मुहावरो का प्रयोग 'तारसप्तक' के रचनाकारों ने किया था, जिसे अज्ञेय ने 'भाषा को नवीन संस्कार देना' कहा है । इस दृष्टि से भाषागत प्रयोग के समर्थक प० प्रतापनारायण मिश्र एव बालकृष्ण भट्ट है । शास्त्रीय काव्य-भाषा मे विद्यमान जहर का ध्यान भट्ट जी को था । उन्होंने अपने एक अन्य निबन्ध में पुरानेपन को त्यागने तथा नवता को अपनाने की सलाह दी है । रीतियुगीन काव्य-प्रवृत्तियो पर आधारित कविता को बालकृष्ण भट्ट ने 'तालाब' का सड़ता हुआ जल कहा है जिसमें प्रवाह और गति नही होती[2] । 'रूढ़िबद्ध कविता मे गिनी गिनाई बाते रचनाकारों के लिए बची रहती है । उन्हीं का बार-बार 'पिष्टपेषण' करते हुए रचनाकार एक पेटर्न बना लेता है ।' कथानक रूढ़िया, बारहमासा वर्णन, षड्ऋतु वर्णन , शृङ्गार वर्णन, विरह वर्णन आदि वृत्तिया भट्ट जी की दृष्टि मे पुरानी पड़ गयी थी इसीलिए एक समीक्षक रूप मे उन्होने कवियो को इसे त्यागने की सलाह दी है[3] । 'जीवन्त रचना' की सार्थकता की पहचान भट्ट जी को थी जिसे वे हिन्दी समीक्षा के आरम्भिक युग में लिख चुके थे । अपने समकालीन कवियो से नवलता की माग करने के अतिरिक्त उन्होंने 'काव्य-भाषा' से संबंधित अनेक स्थापनाये की है । 'समीक्षा-प्रतिमान' की दृष्टि से भारतेन्दु और भट्ट जी के मत को पुरातनता का परित्याग, सहृदय पाठक एव दर्शक की रुचि, बोलचाल

१- हिन्दी प्रदीप में प० बालकृष्ण भट्ट का निबन्ध, अक्टूबर (सप्त) १९८६, पृ०स० १५

२- हिन्दी प्रदीप प० बालकृष्ण भट्ट, मार्च (सप्त) १९८०, पृ० १८

३- वही ,, ,, ,,

की देशज भाषा का प्रयोग, लोक-प्रचलित विश्वासों का उचित समायोजन, जीवन्तता का अनुपालन तथा प्रयोग और प्रेषणीयता के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इन्हीं सूत्रों को लेकर प्रगतिशील और प्रयोगधर्मी रचनाकारों तथा समीक्षकों ने 'नया सौन्दर्यशास्त्र' रचने का दावा किया है। आधुनिक काल के आरम्भिक चरण में क्रान्ति द्रष्टा रचनाकारों ने 'नवदृष्टि' का समर्थन करके यह प्रकट कर दिया है कि 'शास्त्रीय रूढ़ियां' और 'लोक का बन्धन' कही जाने वाली पुरातनता को भारतेन्दु युग में ही त्यागा जा रहा था। इन्हीं प्रवृत्तियों ने आगे चलकर 'द्विवेदी युग' में और भी अनेक रूप ग्रहण किये हैं।

आधुनिक समीक्षा का नवजागरण   द्विवेदी युग

भारतेन्दु युग की समीक्षा में व्यावहारिक दृष्टि का अभाव अध्येताओं को भले खटकता हो किन्तु स्वस्थ पत्रकारिता तथा काव्यभाषा सम्बन्धी द्विवेदी युगीन प्रतिमान की पृष्ठभूमि निर्मित करने का श्रेय इसी युग को है। गद्य की भाषा 'खड़ी बोली' किन्तु पद्य की भाषा 'ब्रज' या अवधी मिश्रित ब्रज की परम्परा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को ग्राह्य नहीं थी। इसीलिए कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली को अपनाने की प्रेरणा आचार्य द्विवेदी ने दी। 'कविता की भाषा कैसी होनी चाहिए ?' निबन्ध द्वारा उन्होंने रीतिकालीन प्रवृत्तियों की पोषक ब्रज भाषा को त्याग कर आधुनिकता की संवाहिका खड़ी बोली को स्वीकार करने का आन्दोलन चलाया। डा० रामविलास शर्मा ने इस दिशा में नवजागरण का अग्रदूत आचार्य द्विवेदी को माना है[१]। साहित्य क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी के आगमन से 'समीक्षा का स्वरूप अधिक व्यवस्थित हो चला। उन्होंने नवीन युग को

१- आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव जागरण -- डा० रामविलास शर्मा, सं० १९७०, पृ० सं० २७७

सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्यिक निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थीं।[१] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में 'खड़ीबोली का आग्रह' तथा 'गद्य' और पद्य की भाषा की 'एकात्मकता' द्विवेदी जी की देन है जिसे डा० शर्मा आधुनिक काल का नवजागरण कहते हैं। काव्य भाषा की सरलता तथा सामयिकता के अतिरिक्त शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग उस युग का प्रतिमान है जो रीतिकालीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्वीकार किया गया था। गुण दोष विवेचन की शैली, शृंगारिकता, नायिका भेद निरूपण अलंकृति तथा पिंगल शास्त्र की रीतिकालीन परम्परा को परिवर्तित कर द्विवेदी जी ने सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीयता की ओर कविता को मोड़ना चाहा। डा० निर्मला जैन के अनुसार 'सबसे अधिक प्रखर और निर्मम स्वर' वाले आचार्य द्विवेदी ने 'साहित्य की गतिविधि के नियम संचालन का भार स्वेच्छया उठा लिया था'।[२] डा० शर्मा, आचार्य वाजपेयी, डा० जैन आदि से सहमत होने पर भी काव्य समीक्षा के प्रतिमान निर्माता आचार्य द्विवेदी और उनके युग का मूल्यांकन किये बिना उपर्युक्त स्थापनायें परस्पर पूरक होने पर भी एकांगिनी लगती है। उर्दू फारसी मिश्रित गद्य की हिन्दुस्तानी भाषा तथा कविता की ब्रजभाषा के स्थान पर संस्कृत निष्ठ खड़ी बोली को प्रयोग में लाने के साथ साहित्य के प्रवाह में एक गतिरोध एवं संक्रान्ति की स्थिति आई थी।

नायिका भेद, अलंकृति, पिंगल शास्त्र आदि रीतिकालीन प्रवृत्तियों का उन्मूलन किये जाने पर भी मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्धात्मक कृति 'साकेत' पर उपर्युक्त प्रवृत्तियों के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। जन-सामान्य में कविता की जो अभिरुचि पहले से थी उसका परित्याग चाहकर भी गुप्त जी नहीं कर सके। 'हैं है कब लिपट गये थे तभी प्राणेश्वर'- पंक्ति का 'कवित्त', मुझे फूल मत मारो (गीत-पद), वेदने तू भी भले बनी (पद) तथा अभिमील मनस्सर से

१- नया साहित्य नये प्रश्न - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० १६५८, पृ० ५५

२- हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी - डा० निर्मला जैन, सं० १६७५, पृष्ठ ७।

से उतरा यह इस तरह 'तरता-तरता' के साथ 'बरता-बरता', 'हरता-हरता' का तुक 'रीतिकाल का ही प्रभाव है'[1]। उर्मिला विरह वर्णन की अतिशयता साकेत नवम सर्ग के प्रबन्धात्मक प्रभाव को क्षीण कर देती है। इसी प्रकार हरिऔध की कृति 'प्रियप्रवास', 'वैदेही वनवास' तथा 'रसकलश' में संस्कृत की शब्दावली के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग है। 'प्रियप्रवास' की विरहोत्कण्ठा में भी 'प्यारे जीवें जगहित करें, गेह चाहे न आवें'[2] सदृश अस्वाभाविक कथन तथा 'लोक सेविका राधा' का पवनदूतिका सम्बन्धी अंश विरोधाभास तथा आदर्श से परिपूर्ण है। उपर्युक्त कृतियों में छन्द, रस, अलंकृति आदि का प्रयोग रीतियुगीन रूढ़ियों का रूप है। 'साकेत' नवम सर्ग का छन्दोविधान आचार्य केशवदास की रामचन्द्रिका का स्मरण कराता है तथा 'प्रियप्रवास' की भाषा शास्त्रीय नियमों से जकड़ी हुई लगती है। उस युग की कविता में प्रायोगिक विषमता होने पर भी द्विवेदी जी के प्रतिमानों के अनुरूप उनका लेखन निश्चित रूप से सिद्धान्त और प्रयोग की एकता का परिचायक है।

"पिछले कई सौ वर्षों से साहित्यालोचन के गम्य मार्ग में आगत रूढ़ियों को हटाकर आचार्य द्विवेदी ने समीक्षा का मार्ग प्रशस्त बनाया। 'सूर ससी तुलसी रवी' या 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' तथा 'उडगन केसवदास' सदृश कथन की दलदल में अटक रही साहित्य समीक्षा की गाड़ी को उन्होंने आगे ठेल दिया[3]।

हिन्दी आलोचना का अध्ययन और मूल्यांकन करने वाले सभी समीक्षकों ने आधुनिकता के विकास में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के योगदान को महत्वपूर्ण कहा है। डा० श्यामसुन्दरदास ने द्विवेदी जी का श्रेय उनके लेखों में न मानकर 'भाषा को परिमार्जित और सुन्दर रूप देने में माना है'[4]। आचार्य नन्ददुलारे

1- साकेत (नवम सर्ग) - मैथिलीशरण गुप्त (साहित्य सदन [illegible])

2- प्रियप्रवास - हरिऔध (साहित्य कुटीर) [illegible]

3- हिन्दी साहित्य- बीसवीं शताब्दी - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ४५, सं० १९७० ।

4- सरस्वती - सं० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मे डा० श्यामसुन्दरदास का लेख ।

वाजपेयी द्विवेदी जी द्वारा समीक्षा के नवीन पथ प्रशस्त किये जाने की विशेष उपलब्धि मानते हैं।[1] डा० रामविलास शर्मा उन्हें रीतियुगीन प्रवृत्तियों के उन्मूलन-कर्ता रूप में अग्रगण्य करते हैं।[2] डा० निर्मला जैन, डा० उदयभानु सिंह तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी इन्हीं मतों के सहारे अपनी-अपनी स्थापनायें की हैं।[3] काव्य समीक्षा के क्षेत्र में नये पथ के निर्माता रूप में आचार्य द्विवेदी का योगदान आलोच्य विषय की सीमा में आता है जिसका सीधा सम्बन्ध आचार्य वाजपेयी तथा डा० शर्मा के उपर्युक्त मतों से है।

हिन्दी काव्य समीक्षा के मान अथवा कविता के आधुनिक प्रतिमान निर्माता रूप में द्विवेदी जी का योगदान निर्विवाद है। लेखक, सम्पादक, आधुनिक हिन्दी के निर्माता तथा समकालीन साहित्यकारों के प्रेरक आचार्य द्विवेदी की बंदना विविध रूपों में की गयी है। श्री स० ही `अज्ञेय` ने अपने एक निबन्ध में `द्विवेदी युग` नामकरण का कारण आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा और उनकी पत्रिका `सरस्वती` में प्रकाशित लेख एवं टिप्पणियों को कहा है।[4] आधुनिक हिन्दी कविता, समीक्षा, निबन्ध, नाटक, उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओं को नये युग में ले जाने का श्रेय आचार्य द्विवेदी को है। समीक्षा से उत्तम रचना की प्रेरणा के अलावा कृति को नवदृष्टि मिलती है। समीक्षा को इस दिशा में सार्थक बनाने वाले प्रथम साहित्यकार द्विवेदी जी ही है।

काव्य समीक्षा के नये युग के प्रणेता आचार्य द्विवेदी के निबन्ध उस युग के प्रतिमानों का प्रतिनिधित्व करते है। गम्भीर नैतिकता, काव्यानुशासन

१- हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० १९७०, पृ० ४५।

२- आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण— डा० रामविलास शर्मा, सं० १९७०, पृ० ४५

३- (क) हिन्दी आलोचना बीसवीं शताब्दी - डा० निर्मला जैन-सं० १९७४, पृ० ८
   (ख) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग - डा० उदयभानु सिंह, पृ० ३३७ पर
   (ग) हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास — डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८६, पृ० १९६

४- आधुनिक हिन्दी साहित्य - अज्ञेय

तथा प्रखर और निर्मम स्वर से युक्त ये निबन्ध उस समय 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे, जिनके प्रभाव से नायिका भेद तथा शृङ्गार रस की उच्छृङ्खलताओं के उन्मूलन के साथ-साथ सामन्तीय वातावरण भी कविता से समाप्त हो गया। 'नायिका भेद' पर लिखे गये एक निबन्ध में उन्होंने 'दरबारी दुराचार' पर करारा व्यंग्य किया है। राज्याश्रय में पलने वाले कवियों द्वारा 'दस वर्ष की अज्ञात यौवना से पचास वर्ष की प्रौढ़ाओं का सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद वर्णन, 'दुराचार को सुकरता के लिए दूती का उपयोग' तथा 'राजा जी के रसास्वादन को बढ़ावा देने वाली' कविता को साहित्य से अपदस्थ करने की मनसा,[1] द्विवेदी जी के दृष्टिकोण का परिचय देती है। रीतियुगीन प्रवृत्तियों पर निर्मम प्रहार करके उन्होंने केवल उन समस्याओं को ही उजागर नहीं किया अपितु स्वस्थ गार्हस्थ्य जीवन का शृङ्गार तथा सामाजिकता एवं नैतिकता का पथ भी निर्मित किया।

'साहित्य की महत्ता' उनका अन्य महत्वपूर्ण निबन्ध है जिसका वाचन उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में किया था।[2] साहित्य का प्रतिपाद्य, उसकी शक्ति, सर्जना तथा प्रेरणा रूप में उसकी भूमिका पर प्रकाश डालकर आचार्य द्विवेदी ने नयी मान्यतायें प्रतिपादित की हैं। 'साहित्य' की रूढ़िबद्ध व्युत्पत्तियों से पृथक कर इसे व्यापक रूप में स्वीकार करने के साथ ही 'जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का ससाधन', 'ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम साहित्य'[3] आदि स्थापनायें इसी निबन्ध में की गयी हैं। 'युग और समाज के घटनाचक्रों के धारक-साहित्य' की पहचान इसी निबन्ध में हुई है। साहित्य के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं मानवीय पक्ष पर प्रकाश डालकर युग-प्रवर्तक साहित्यकार ने महान शिक्षक एवं नियामक की भूमिका का निर्वाह किया है। 'साहित्य में साहित्य में..... साहित्य में . . का उद्घोष उनके दृढ़

1- रसज्ञ रंजन - लेखक महावीरप्रसाद द्विवेदी में संकलित उपर्युक्त निबन्ध

2- साहित्य की महत्ता - (लेखक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी) हि० सा० सं० कानपुर अधिवेशन में पठित निबन्ध) ।

3- वही - ,, ,, ,,

व्यक्तित्व का परिचायक है । उनका यह उद्घोष 'साहित्य की महत्ता' को व्यापक बनाने के साथ-साथ परतंत्र जनता के मौन को भंग करता है । जाति विशेष के उत्थान में साहित्य की राष्ट्रीय भूमिका नवजागरण का स्वर लिये हुए है । 'भारत-भारती', 'पंचवटी', 'जयद्रथ वध' आदि कृतियों में मुखरित उपर्युक्त संवेदना युगीन प्रतिमान की परिचायक है ।

समीक्षा प्रतिमान का तद्युगीन रूप कला 'कला के लिए' के स्थान पर 'कला जीवन के लिए' में देखा जा सकता है । पं० रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त तथा श्रीधर पाठक आदि रचनाकारों ने कविता को जीवन से जोड़ने का सार्थक प्रयास किया है जो उस युग की पहचान है । भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस के कर्णधारों की भूमिका को साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रदान करने में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन', प्रयाग, 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी तथा विभिन्न दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों का योगदान अविस्मरणीय है । 'साहित्य' को राजनीतिक चेतना प्रदान करने में द्विवेदी युग उल्लेखनीय है । कला को जीवन से जोड़ने का अन्त:करण लोक प्रचलित मुहावरों का प्रयोग तथा 'दादरा', 'ठुमरी' आदि संगीत स्वरों का परित्याग भी है । मैथिलीशरण गुप्त ने अपने एक लेख में 'दादरा' 'ठुमरी' को दरबारी राग कहकर उनके स्थान पर फाग कजली जैसी लोक धुनों को अपनाने की सम्मति दी है[2]। काव्य-भाषा की सहजता तथा बोधगम्यता के साथ-साथ समय की आवश्यकतानुसार कविता के रूप और शिल्प में परिवर्तन एक सहज-प्रक्रिया है जिसे तीव्र करने में 'कवि कर्तव्य', 'कवि और कविता' तथा अन्य निबन्धों का महत्त्वपूर्ण योगदान है[3]।

रीतिकालीन रूढ़ियों को तोड़ने में द्विवेदी जी द्वारा स्थापित प्रतिमान सहायक सिद्ध हुए[4]। 'कवि कर्तव्य' तथा 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो' आदि निबन्धों में कवि द्वारा समकालीन जीवन मूल्यों को स्वीकार करने की प्रेरणा है ।

१- साहित्य की महत्ता - पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, सं० १६२०

२- सरस्वती - १६१२ में जगन्नाथ प्रसाद भानु की रचना काव्य प्रभाकर की आलोचना में मैथिलीशरण गुप्त का कथन

३- 'ज्ञान भारती' महावीरप्रसाद द्विवेदी (कवि और कर्तव्य), पृ० ५०८

४- 'पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियां हैं ।'
कवि और कविता - म० प्र० द्विवेदी, ज्ञानभारती, पृ० २०८

इस चेतना के प्रभावस्वरूप रचनाकार द्वारा साहित्य की प्रचलित खड़ी बोली, जिसमें जन-सामान्य की दैनिक जीवन की भाषा मिश्रित हो, को अपनाने की छूट जीवन्त भाषा अपनाने का आधार बनी[1]। 'कविता' के अभिव्यंजनागत रूप एवं कलात्मकता की तुलना में विषयवस्तु को महत्वपूर्ण मानते हुए आचार्य द्विवेदी ने अर्थवत्ता तथा कवि प्रतिभा पर विशेष बल दिया। डा० रामविलास शर्मा ने (आधुनिक काल के) द्विवेदी युग की तुलना अंग्रेजी समीक्षा के नवजागरण काल से की है[2]। जिस प्रकार फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का प्रभाव पड़ने से औद्योगिक क्रान्ति का आगमन हुआ था और उसकी प्रतिक्रिया 'रोमाण्टिक रिवाइवल' के रूप में देखी गई, उसी प्रकार हिन्दी प्रदेश में आने वाले नव जागरण के परिणामस्वरूप रीतिकालीन सामन्तीय व्यवस्था का विरोध आधुनिक काल में हुआ जिसका दूसरा चरण द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। रोमाण्टिक कवियों के आदर्श शेक्सपियर और मिल्टन थे और द्विवेदी युग के कवियों के आदर्श तुलसी और सूर थे। कालरिज, कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ में जिस प्रकार परम्परा से जुड़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार साकेत में तुलसीदास तथा प्रियप्रवास में सूरदास की कथावस्तु का अनुगमन देखा जा सकता है। छायावाद युग से पूर्व की स्वच्छन्दतावादी धारा के रूप में उत्तरवर्ती द्विवेदी युगीन काव्य-परम्परा में पथिक, द्वापर, प्रियप्रवास, विष्णुप्रिया को माना जा सकता है। युगीन सन्दर्भ तथा परम्परा से जुड़ने के क्षेत्र में इन रचनाओं ने द्वन्द्व का स्थान लिया किन्तु सर्जन क्षमता के अभाव में यह युग दीर्घजीवी परम्परा बनाने में असमर्थ रहा।

१- कवि का काम है कि वह स्वाधीनतापूर्वक अपने मनोभावों को व्यक्त करे।

हिन्दी आलोचना 'बीसवीं शताब्दी' में - डा० निर्मला जैन द्वारा पृष्ठ ८ पर उद्धृत।

२- महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण - डा० रामविलास शर्मा, १९७७, पृ० २७७।

द्विवेदी युग की समानान्तर समीक्षा साहित्यिक प्रतिमानों का सन्दर्भ

साहित्यिक एवं व्यावहारिक प्रतिमानों के अतिरिक्त तुलनात्मक समीक्षा के आकलन के लिए मिश्रबन्धु, प० पद्मसिंह शर्मा, प० कृष्ण बिहारी मिश्र आदि की आलोचनाओं का उल्लेख इस सन्दर्भ में आवश्यक है। डा० निर्मला जैन का कथन है कि 'पदार्थ निर्णय, पिंगल-गणागण, गुण-दोष, भाव-रस, वृत्ति, पात्र, अलंकार काव्यांग आदि मिश्रबन्धुओं की समीक्षा के बिन्दु थे।'[1] इसी आधार पर डा० जैन ने मिश्रबन्धुओं की रुचि और काव्य संस्कार को रीति बद्ध बताकर कहा है कि - 'आधुनिक दृष्टिकोण से कोई नवीन मानदण्ड प्रस्तुत करने का प्रयास उन्होंने नहीं किया।' मिश्रबन्धुओं की प्रकाशित कृति 'हिन्दी नवरत्न', 'मिश्रबन्धु विनोद' पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के लेख के माध्यम से करारी चोटें की हैं। मिश्रबन्धुओं द्वारा 'नवरत्न' कहे जाने पर आपत्ति करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा था कि 'उच्च भावों का उद्बोधन' समाज देश या धर्म का अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ, मानव चरित्र को उन्नत करने की सामग्री से अपने काव्य को अलंकृत करना[2] यही नवरत्न कहे जाने का आधार हो सकता है। इस आधार पर द्विवेदी जी ने मात्र तुलसी-सूर और भारतेन्दु जी को 'नवरत्न' की संज्ञा के योग्य स्वीकार किया है। आचार्य द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं के दृष्टिकोण में मूल अन्तर 'रीतिबद्धता' और रीति विरोध के कारण आया है। जिन शास्त्रीय परम्पराओं के आधार पर हिन्दीनवरत्न में समीक्षा की गयी है द्विवेदी जी उसके विरोधी थे। यही कारण था कि मिश्रबन्धुओं की भूमिका प्रतिपक्षी की भूमिका हो गई।

इसी काल के प्रसिद्ध समीक्षक प० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा दृष्टि द्विवेदी युग के प्रतिमान की समानान्तर प्रक्रिया समझने में सहायक हो सकती है।

१- हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी - डा० निर्मला जैन, स० १९७५, पृ० १२

२- सरस्वती पत्रिका (स० महावीर प्रसाद द्विवेदी) -
हिन्दी नवरत्न की समीक्षा - जनवरी अंक १९१०
(समालोचना समुच्चय मे संकलित) ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने प० पद्मसिंह शर्मा को शृङ्गारिक परम्परा का आलोचक न मानकर उन्हें शब्द और अर्थ का समीक्षक कहा है । वे अभिव्यंजना परीक्षा के आचार्य थे । शब्दगत और अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा अबाध प्रवेश था, हिन्दी मे किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया ।[1] उनकी तुलनात्मक समीक्षा को विशेष उपादेय मानकर वाजपेयी जी ने अन्यत्र लिखा है कि (पद्म सिंह शर्मा) की तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की ओर नई प्रवृत्ति जागृत हुई, नये कवियों को अपने अनगढ़ उद्गारों को मांजने और संवारने की प्रेरणा मिली । इस प्रकार शर्मा जी की समीक्षा नये रचनात्मक साहित्य के लिए भी कुछ कम उपादेय नहीं रही ।[2] पद्मसिंह शर्मा जी संस्कृत तथा फारसी के विद्वान् होने के साथ-साथ भाषा के प्राञ्जल रूप के समर्थक थे । शुद्ध भाषा तथा संस्कृत निष्ठता की ओर प० महावीर प्रसाद द्विवेदी का भी झुकाव था किन्तु शर्मा जी का फारसी के प्रति रुचि और झुकाव उन्हें द्विवेदी जी से पृथक करता है । प० पद्मसिंह शर्मा आर्य समाज के उपदेशक तथा समाज सुधारक रूप में जीवन आरम्भकर साहित्य जगत में आये थे । सुधारक रूप दोनों का था किन्तु द्विवेदी जी गम्भीर स्वभाव के लेखक थे तथा शर्मा जी अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा लिखते थे । इन्हीं संस्कारों ने दोनों समीक्षकों को अलग-अलग पथ का अनुयायी बना दिया । शर्मा जी ने 'बिहारी' को देव की तुलना में श्रेष्ठ कवि कहा था जबकि मिश्रबन्धुओं ने 'देव' को श्रेष्ठ माना था । इन्हीं के समकालीन समीक्षक प० कृष्ण बिहारी मिश्र 'मतिराम ग्रन्थावली' के सम्पादक और शोधक थे । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्विवेदी जी के समकालीन आचार्य पद्मसिंह शर्मा के योगदान को उसी क्रम में सम्मिलित करके देखते हैं तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी बड़ी सफाई से आचार्य द्विवेदी, मिश्रबन्धु तथा

१- हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - नन्ददुलारे वाजपेयी
संस्करण १९७०(विज्ञप्ति), पृ० १

२- नया साहित्य नये प्रश्न - नन्ददुलारे वाजपेयी, संस्करण १९७०,
पृ० ५६ ।

पद्मसिंह शर्मा में संस्कृत प्रतिमानों की अवज्ञा न करते हुए हिन्दी लेखक के प्रति सहानुभूति जैसी समानता देखी है[1]। रुचि संस्कार तथा रीतियुगीन कवियों के प्रति झुकाव, मिश्रबन्धु, प० पद्मसिंह शर्मा तथा प० कृष्णबिहारी मिश्र को द्विवेदीयुग की मुख्य धारा से अलग कर देता है। `सरस्वती' पत्रिका के लेखक रूप में इनका योगदान महत्वपूर्ण है। द्विवेदी युग के समीक्षा प्रतिमान की परख के लिए परम्परित शास्त्रीय चिन्तनधारा के अनुयायियों में उपर्युक्त लेखकों की भूमिका उल्लेखनीय है। प० पद्मसिंह शर्मा का प्रभाव `कवि की कृति में अंगीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षक रूप पर है। यह भी उनका श्रेय हो सकता है।

समीक्ष्य युग के प्रतिमानों के निर्धारण की दिशा में परम्परा विरोधी और संवादी स्वरों में तटस्थता की भी एक मध्यम मार्गीय स्थिति है। भारतेन्दु मण्डल के लेखक प० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त की भाषा परम्परानुसार मिश्रबन्धु और पद्मसिंह शर्मा तक चली आती है। द्विवेदी जी की भाषा-सम्बन्धी नीति `काव्य' तथा `गद्य' की भाषा के बीच से समीक्षा-भाषा का विकास समीक्ष्य युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है[2]। `देव और बिहारी' तथा `बिहारी और देव' जैसे स्वस्थ विवाद संस्कृत आचार्यों की शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डन परम्परा का स्मरण कराते हैं। शास्त्रीय समीक्षा के अभिजात्य संस्कार के कारण मिश्रबन्धुओं की सराहना आचार्य द्विवेदी ने भी की है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के द्वितीय चरण - द्विवेदी युग में काव्य-समीक्षा के निम्नलिखित प्रतिमान निर्धारित किये गये, जिनके द्वारा कविता का

१- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८६, पृ० २००।

२- बोलना एक भाषा का और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा का प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।
कवि और कविता - पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

नियमन, भाषा का परिष्कार तथा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समालोचना का समन्वय हो सका ।

(१) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शिक्षक, आचार्य तथा 'काव्यानुशासन' के निर्माता रूप में दृढ़ता का परिचय दिया । उन्होंने काव्यानुशासन का प्रखर और निर्मम स्वर अपनाते हुए 'कवि और कविता', 'कवि कर्तव्य' 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो' आदि निबन्धों द्वारा रीतिकालीन रूढ़ियों का विरोध किया ।

(२) काव्य-भाषा, व्याकरण तथा संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का समर्थन करते हुए भी 'लोगों की रुचि का विचार रखकर' सहज और मनोहर रचना पर जोर दिया । पुरानी (रीतिकालीन) कविता के स्थान पर नयी (आधुनिक) कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न करने की प्रेरणा उन्होंने अपने समकालीन रचनाकारों को दी । कविता का लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा है कि, 'किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक 'लेख' बात या वक्तृता का नाम कविता है[1] नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है । जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं है ।' इसी आधार पर नयी कविता की लक्षणविधिनता पनपी है ।

(३) कविता में 'नवता' का समर्थन तथा पुरातन रीतियुगीन प्रवृत्तियों का विरोध इस काल की प्रमुख उपलब्धि है । 'जो साहित्य अपने दृष्टिकोण, अपनी रचना-पद्धति में समय की आवश्यकताओं और सामाजिक मर्यादाओं को पूरा नहीं करता उसे सत् साहित्य नहीं कहा गया[2] । 'पिंगल शास्त्र को कवि का बंधन', 'नायिका भेद' को दुराचार में वृद्धि तथा वयस्कों में जातीय एवं सांस्कृतिक उत्थान की प्रवृत्ति जागृत करने के लिए साहित्य की उपादेयता पर जोर दिया गया ।

१- कवि और कविता - (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी), ज्ञानभारती, पृ० १०

२- हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी - निर्मला जैन, सं० १९७५, पृ० ८ ।

(४) मानवीय अनुभूति, कल्पना की ऊहात्मकता, अतिशय शृङ्गारिकता के स्थान पर सामाजिक एवं नैतिक मूल्य-निर्धारण के साथ-साथ प्रकृति वर्णन, आदर्श देवत्व गुण से युक्त पात्र तथा राधा, उर्मिला, विष्णुप्रिया आदि पात्रों के चित्रण को प्रेरणा इन्हीं मूल्यों से मिली। 'प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ स्वाधीनतापूर्वक मनोभावों की अभिव्यक्ति' की छूट देने पर भी समाजोत्थान, नारी जागरण तथा राष्ट्रीय हित को महत्वपूर्ण माना गया। इस प्रकार समाज सापेक्ष्य कविता की कलात्मकता को प्रेरणा मिली।[1]

(५) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके समर्थक लेखक डा० श्यामसुन्दरदास, श्री सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त के मत के विरुद्ध मिश्रबन्धु, प० पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र आदि समीक्षकों की दृष्टि में पदार्थ निर्णय, गुण-दोष, भाव, रस, अलंकार तथा छन्दोबद्धता मुख्य थी। मिश्रबन्धु तथा पद्मसिंह शर्मा की विचारधारा उस युग की समीक्षा का सवादी स्वर प्रकट करती है।

इन प्रतिमानों के प्रभाव स्वरूप 'भारत भारती', 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास', 'जयद्रथ-वध', 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'शकुन्तला' आदि कृतियों के प्रकाशन के साथ-साथ 'खड़ी बोली' को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृति मिली। आधुनिकता का सम्बन्ध सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता से जुड़ने के कारण ही नवजागरण, नारीजागरण, अछूतोद्धार की भावना सशक्त हुई। " 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' " के एक छोर से दूसरे छोर पर 'गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया पगतल में' की संवेदना, 'नर से बढ़ कर नारी' की प्रेरणा है। 'न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है' के अतिरिक्त 'कौन थे' के साथ-साथ 'और क्या हो गये हैं' की चिन्ता इस युग की चिन्ता है। 'सीता की कुटिया में राजभवन' कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन धारण, लोकसेविका राधा का स्वरूप तथा 'सिद्धार्थ की

१- महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण - डा० रामविलास शर्मा, सं० १९७७, पृ० ३०० ।

बाधा नारी' के विपरीत 'सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियां पूत शीला' सदृश आदर्श इस युग की कविता में देखा जाता है ।

आदर्श पात्र, इतिवृत्तात्मक कथावस्तु, प्रबन्धात्मक कृतियों की सर्जना, कल्पना उनहात्मकता तथा शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति का परित्याग इस युग की रचनाओं में देखा जाता है । मातृभूमि, रणभूमि तथा अतीत के प्रति आस्था के साथ-साथ रामायण और महाभारत कालीन संस्कृति के प्रति अनुराग इस युग की उल्लेखनीय विशेषता है । विरह, करुणा, प्रेम, आदि ऐसे मूल्य हैं जिनमें छायावादी कविता तथा आचार्य शुक्ल की समीक्षा के विकास को प्रेरणा दिया है ।

<u>समीक्षा प्रतिमान और आचार्य शुक्ल की समीक्षा</u>

भारतेन्दु युग में अंकुरित हिन्दी समालोचना द्विवेदीयुगीन समीक्षकों की शुद्ध भाषा खड़ी बोली का संयोग पाकर विकसित और जीवन्त हुई । 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी कविता और साहित्य समालोचना का जो प्रतिमान स्थापित किया गया था परवर्ती काल में वह प्रशस्त पथ बन गया । साहित्येतिहास की आधुनिकता के अनुकूल सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा में प्रतिमान निर्धारण का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है । यह एक साहित्यिक संयोग ही है कि द्विवेदी जी द्वारा सरस्वती पत्रिका के माध्यम से साहित्य के जिन मान और मूल्यों की स्थापना हुई थी उनका विवेचन तथा हिन्दी साहित्य की काव्य-परम्परा में उसे व्यापकता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रदान की । द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक काव्य प्रवृत्ति की 'स्वच्छन्दतावाद' में परिणति, छायावाद (नव रहस्यवाद)

१- नया साहित्य : नये प्रश्न -- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० १९७६, पृ० ५६ ।

का उदय तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का समीक्षा क्षेत्र मे आगमन (१९२०-३७) एक ही समय में हुआ[१]। 'शुक्ल-प्रेमचन्द -प्रसाद युग' नाम से जाना जाने वाला बीसवीं शताब्दी का आलोच्य काल हिन्दी कविता के प्रतिमानीकरण के लिए एक ऐसा प्रस्थान बिन्दु है जहा से 'छायावादोत्तर हिन्दी कविता' के समीक्षा प्रतिमानो का उद्भावन होता है ।

'कवि और कविता' निबन्ध में आचार्य द्विवेदी का नयी धारा के कवियों के लिए किया गया निर्णय तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन में प० पद्मसिंह शर्मा का उद्गार 'आचार्यदृष्टि' से प्रेरित विरोध है ।" हिन्दी की नवीन कविता में भाषा-भाव-शैली सभी कुछ नया है - अपरिचित है। वह कुछ कह रहे हैं यह तो सुन पड़ता है पर क्या कह रहे हैं ' यह समझ में नहीं आता "[२]। इसी स्वर में स्वर मिलाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी कविता और कवियों के 'मकुकोश' की परख की ।

समालोचना क्षेत्र मे कवि कर्तव्य (म० प्र० द्विवेदी) साहित्य (आ० रा० च० शुक्ल) कवि और कविता (म० प्र० द्विवेदी) के बाद 'कविता क्या है ' (रामचन्द्र शुक्ल) का प्रकाशन १९०८ ई० से १९१२ ई० के आस पास हुआ था[३]। इसी समय डा० श्यामसुन्दर दास तथा प० पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी का आगमन समीक्षा क्षेत्र में हुआ था जिन्होंने आचार्य शुक्ल की समीक्षा को गतिशील बनाने में प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शास्त्रीय प्रतिमानों से मुक्त समीक्षा दृष्टि यह चरितार्थ करती है कि 'समीक्षा' काव्य का दर्शन ही नहीं अपितु उत्तरोत्तर गतिशील प्रक्रिया

१- हिन्दी साहित्य संवेदना का विकास - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९८६

२- हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन में पद्मसिंह शर्मा का भाषण से उद्धृत

३- सरस्वती - म० महावीर प्रसाद द्विवेदी- अंक १९०८

है जिससे कृति-कृतिकार तथा उसकी सांस्कृतिक और मानसिक क्रिया का परीक्षण होता है । 'कविता में आगत मान ही समीक्षा में प्रतिमान बनता है । जब हम कहते है - 'कविता के प्रतिमान' तो उसका यह ध्वन्यर्थ होता है कि कविता में आधुनिकता के कारण वाद या वैचारिक दृष्टि रूप में जो 'मान-मूल्य' समाहित हुआ है कृति-कृतिकार तथा समाज को साथ रखकर उसी का अनुशीलन ग्रहण और कविता के अनुरूप समीक्षण । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की समीक्षा इसी नव विकसित दृष्टि से की है ।

आधुनिक हिन्दी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा में मान के निर्माण का श्रेय विशेषरूप से आचार्य शुक्ल को है, जिन्होंने 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद'[1] निबन्धों के अतिरिक्त 'चिन्तामणि' भाग १-२-३ तथा 'रस-मीमांसा' नामक कृतियों का सृजन किया । व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में 'तुलसीदास' जायसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'भ्रमरगीत सार की भूमिका' सूरदास 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है । शुक्ल जी की प्रतिभा अपरिमेय थी । उनकी दृष्टि में सनद्धपुत गहराई पकड़ में गजब की मजबूती और प्रतिपादन में अपूर्व प्रौढ़ता थी ।[2] आचार्य शुक्ल हिन्दी के गौरव थे । समीक्षा क्षेत्र में उनका प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन काल में था न कोई समकक्ष[3] समालोचक है । . . . पंडित रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे । डा० नगेन्द्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नामवर सिंह, डा० रामविलास शर्मा आदि समीक्षकों

१- चिन्तामणि - भाग १ - रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध

२- हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० ४५

३- आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (सं० गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक) (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन) सं० १९८५

ने विभिन्न सन्दर्भों में आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि की सराहना की है।

व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समीक्षा शुक्ल जी के निबन्धों, आलोचना कृतियों, इतिहास ग्रन्थ तथा भूमिकाओं में इस प्रकार एकमेक हो गई है कि उसको अलग-अलग करके देखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आचार्य भरतमुनि से चलकर भट्टनायक अभिनवगुप्त मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ तक की रस-सिद्धान्त की सरणि तथा भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि अलंकारवादियों की आलंकारिक दृष्टि के अतिरिक्त ध्वनि और वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यतायें उनकी स्थापनाओं में समाहित है[१]। दान्ते विलियम ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, 'बायरन' तथा 'क्रोचे' की स्थापनायें भी क्रिया-प्रतिक्रिया की तरह उनमें है। 'प्रसाद', 'पन्त' निराला, महादेवी आदि की भावभूमि भी उसी में घुल मिल गई है। जिस प्रकार 'तुलसी' के काव्य का मान 'एहि मह रघुपति नाम उदारा है' है उसी प्रकार 'तुलसी के काव्य की लोकभूमि 'मानस की धर्मभूमि' कवि का कर्म संकुल जगत' तथा 'आत्मा की मुक्तावस्था —'ज्ञान दशा' के सहयोग से 'हृदय की मुक्तावस्था' --रसदशा की अन्तर्यात्रा आचार्य शुक्ल की समीक्षा का प्रतिमान है जिसका बहुविध उपयोग उन्होंने किया है[२]। समीक्षा प्रतिमानों की शास्त्रीय मान्यता के अनुसार आचार्य शुक्ल रस-सिद्धान्त के अनुयायी हैं किन्तु इनकी यह मान्यता भामहादि अलंकारवादियों के पूर्व की मान्यता नहीं अपितु रस तथा 'सौन्दर्य ही अलंकार है' की व्यापकता से समन्वित है। 'भावलोक' तथा कर्मलोक के माध्यम से प्रतिपादित आचार्य शुक्ल का रस चिन्तन तुलसी, जायसी, सूर आदि भक्त कवियों तथा पद्माकर घनानन्द, बिहारी, देव आदि रीतिकालीन कवियों की कृतियों से अनुस्यूत है। 'करुणा'

१- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - डा० रामचन्द्र तिवारी, सं० १९८५, पृ० १५

२- (क) भाषा और साहित्य समीक्षा - डा० विनयमोहन शर्मा, सं० १९७२, पृ० १६२

(ख) आलोचक और आलोचना - डा० बच्चन सिंह, सं० १९७७

एवं प्रेम के माध्यम से मात्र रंजन नहीं अपितु `लोकमंगल` की उपर्युक्त चेतना में `कर्म` `धर्म` तथा मनोवृत्तियों का भी समन्वय है । उनके मानक के अनुरूप `लोक हृदय में लीन होने का नाम रस दशा है ।`[1] हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है ।[2] हृदय की यही अनुभूति साहित्य में `रस` या भाव योग कहलाती है ।[3] `रस दशा` का एक पक्ष `लोक हृदय` में दूसरा रचनाकार के भावलोक में तीसरा पाठक के हृदय की `अनुभूति` रूप में विद्यमान रहता है । कृति-कृतिकार- पाठक के त्रिकोण से आचार्य शुक्ल द्वारा बनाया गया `लोक` का वृत्त भाव तथा `कर्म संकुल जगत` बनता है । जिसमें रचनाकार द्वारा निर्मित भाव मण्डल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश (कान्सस) में रहता है और कुछ अन्तः सत्ता के क्षेत्र - (सब कान्सस रीजन) में छिपा रहता है ।[4] इनके द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त सिद्धान्त जब तुलसी आदि कवियों के काव्य में व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग मे लाये जाते हैं तो इसमें `कवि कर्म` का विवेचन भी हो जाता है । आचार्य शुक्ल ने कहा है कि, `कवि कर्म यदि कला है तो उसके अन्तर में सौन्दर्य की चेतन सत्ता है ।`[5] `लोक धर्म` में मंगल की स्थिति `रस` तथा `कविकर्म` में सौन्दर्य की स्थिति `अलंकार` यहाँ एकमेक हो जाता है । इसीलिए `शुक्ल` जी की समीक्षा में `रसानुभूति` तथा काव्यानुभूति, सौन्दर्य-बोध के दो पक्ष है, जिनमें उनका झुकाव लोकमंगलकारी सौन्दर्य की ओर है । तुलसी, वाल्मीकि, व्यास तथा शेली की रचनाओं में प्रतिपादित `लोकमंगल`

१- रसमीमांसा - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०२३, पृ० २१७

२- काव्य में रहस्यवाद - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० प्रथम, पृ० ८८

३- चिन्तामणि (कविता क्या है), सं० १९८०, पृ० ११३

४- काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
चिन्तामणि - सं० १९८०, पृ० १९८

५- चिन्तामणि (भाग २) - रामचन्द्र शुक्ल (प्रथम सं०), पृ० -५[illegible]

कवि-कर्म सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा पाठक को प्रभावित करता है । 'कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है ।'[1]

'सौन्दर्यबोध' का लोकमंगलकारी रूप निश्चित करते हुए उन्होंने 'लोकमंगल', 'काव्य-सौन्दर्य' तथा 'कलात्मकता' को भी संश्लिष्ट बताया है । इसी क्रम में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के साथ इस सौन्दर्यपरक अवधारणा की परख आवश्यक है । आचार्य शुक्ल 'व्यक्त सौन्दर्य' को ही लोकमंगल के लिए उपयुक्त कहते हैं । 'जो अव्यक्त है, अगोचर है, वह आलम्बन कैसे बनेगा, उसमें 'रसानुभूति' कैसे होगी ?'[2] इस प्रश्न को उन्होंने अनेक ढंग से उठाया है तथा काव्य का सम्बन्ध अव्यक्त सत्ता से विच्छिन्न कर दिया है । रहस्यवादी कविता इसीलिए उन्हें उदात्तता से परे लगती है । तुलसी की तुलना में सूर की कविता में लोकमंगल की सिद्धावस्था जायसी की तुलना में कबीर का रहस्यवाद तथा छायावादी कविता का अव्यक्त जगत उनके प्रतिमानों से बाहर पड़ने के कारण उपेक्षित रहा। 'अव्यक्त' को उन्होंने 'जिज्ञासा' का विषय माना है प्रेम का नहीं[3] ।

'रसदशा' के एक पक्ष को उन्होंने 'साधारणीकरण' के समकक्ष भावन व्यापार न कहकर 'अन्तस्सत्ता की तदाकार परिणति' कहा है[4] । आचार्य भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित 'साधारणीकरण' का प्रतिपादन शुक्ल जी द्वारा 'शुद्ध सात्त्विको रस.' रूप में है ।' लोक में फैली हुई दुःख की छाया हटाने में ब्रह्म की आनन्द कला जो 'शक्तिमय' रूप धारण करती है उसकी भीषणता में अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है । . . . विरुद्धों का यही सामंजस्य

१- काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि (१), सं० १९८०, पृ० १९६ ।

२- चिन्तामणि (भाग २)- लेखक रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण प्रथम, पृ० ५४

३- चिन्तामणि (भाग २) (काव्य में रहस्यवाद) - (पं० रामचन्द्र शुक्ल)

४- चिन्तामणि (भाग १) - रामचन्द्र शुक्ल, सं० १९८०, पृ० १४२

कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है[1]। `कर्म क्षेत्र` के स्थान पर यदि आचार्य शुक्ल का कर्म क्षेत्र मान लें तो उनके प्रतिमानों में भी `विरुद्धों का सामंजस्य` दिखाई पड़ता है। ब्रह्म के निराकार या अव्यक्त रूप को कविता से नकारते समय वे तुलसी के मानस की `अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा` का भी अतिक्रमण कर गये हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के मानवीय रूप, मानवीय लीला, स्पर्धा तथा करुणा भावना को महत्व देते हुए आचार्य शुक्ल ने आध्यात्मिकता तथा कल्पना की `बेपर उड़ान` को भी `लोकाइनस` की तरह नकार दिया। उपनिषद, पुराण धर्मग्रन्थ में आये हुए `रस` के आनन्दमय पक्ष का समर्थन करते हुए भी वे `शक्तिसम्पन्नता` को नहीं छोड़ पाते। `ब्रह्म की व्यक्त` सत्ता `सत्` से आगे `चित्` और `आनन्द` की सत्ता है जिसे `शुद्धाद्वैतवादी` मानते हैं[2]। आचार्य शुक्ल भी कविता में इसी सगुणोपासना को स्वीकार करते हैं।[3] `रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै` के सहयात्री समीक्षक आचार्य शुक्ल कहते हैं -- `हृदय का अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। `प्रेम` `अभिलाषा` में जो प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर के प्रति होगा।[4]

जिस प्रकार `काव्य-जगत`- कर्मक्षेत्र के अंचल में उन्होंने `विरुद्धों का सामंजस्य` पूर्ण रूप में ग्रहण किया है उसी प्रकार सूर के काव्य में वर्णित सगुण रूप के लीला विस्तार, वात्सल्य शृंगार तथा गोपियों के प्रेम को सराहते हुए भी `सूर के वियोग वर्णन` में शुक्ल की `न्याय` नहीं कर पाये हैं। `काव्य में रहस्यवाद` उनका एक प्रसिद्ध निबन्ध है जिसकी कसौटी पर कबीर की तुलना में `जायसी` की समासोक्ति मूलक कृति पद्मावत में उन्हें अधिक सफलता दिखाई पड़ती है।

१- चिन्तामणि (भाग १)-(काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था), सं० १९८० पृ० १७५।

२-(क) चिन्तामणि (भाग १) ,, ,, सं० १९८०, पृ० १७२

(ख) सूरदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, द्वितीय संस्करण, पृ० १९७

३- हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० ६६

४- अनुचिन्तन - विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा - प० १९८६ - (लोकमंगल और आचार्य शुक्ल - में उद्धृत)

'सुन्दर-असुन्दर', 'मंगल-अमंगल' गत्यात्मक सौन्दर्य, स्थित्यात्मक सौन्दर्य, शील-अशील, 'विरुद्धाशील' की सीमा में व्याप्त आचार्य शुक्ल के काव्य-समीक्षा के प्रतिमान को ग्रहण करने में उनके द्वारा प्रयुक्त कथन को प्रमाण मानकर ही निर्णय करना समीचीन है। 'इस यात्रा के लिए निकलती है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर'[1] (आचार्य शुक्ल) का सामञ्जस्य यदि कामायनी के नायक मनु 'श्रद्धा' और 'इड़ा' के साथ बैठाया गया होता तो 'छायावादी कविता' के मूल्यांकन का रूप दूसरा होता[2]। यदि वरेण्य आचार्य की अन्तर्यात्राओं में बुद्धि की सहगामिनी हृदयानुभूति बन सकी होती तो 'कबीर काव्य समीक्षा में सहानुभूति के पात्र बन सकते, सूर का वियोग वर्णन अवमूल्यन की दृष्टि से न देखा जाता तथा छायावादी काव्यान्दोलन के साथ न्याय हो पाता। डा० बच्चन सिंह, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र तथा डा० रामचन्द्र तिवारी ने स्वीकार किया है कि 'साहित्य को परख के प्रतिमान नित्य नहीं रहते। वे युगानुरूप बदलते रहते हैं,' किन्तु शुक्ल जी ने यह बदलाव नहीं स्वीकार किया है। कहाँ तुलसी, सूर, कबीर और जायसी की कविता से खोजा गया प्रतिमान और कहाँ अपने समकालीन कवियों पर उसे लागू करने की 'ममता'। इन दोनों में आचार्य शुक्ल का समीक्षक हृदय है जिसके साथ ही उनका स्वच्छन्दतावादी प्रतिक्रियावादी 'कवि मन' समीक्षक को दबा देता है और कभी 'आदर्शमूलक नैतिकता' से विशेष प्रभावित होकर वे व्यक्तिगत रुचि के कारण तटस्थ नहीं रह पाते।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा का संयोग पाकर छायावादी कविता विवादित होने पर भी स्थापित हो गयी। 'छायावाद', 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' में आने वाला 'वाद' समीक्षा 'प्रतिमान' की दृष्टि से 'वाद-प्रतिवाद', 'आलोचना-प्रत्यालोचना', 'खण्डन-मण्डन' का द्योतक है। इस

१- चिन्तामणि - (भाग १), पृ० ११८० - कविता क्या है ?

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (नयी धारा छायावाद)।

युग की समीक्षा में से आधुनिकता के सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर पर यदि `वाद' को हटा दिया जाता तो `सृजन' और `नियमन' का भेद ही मिट जाता। अत: शुक्ल जी ने छायावाद का विरोध नहीं उपकार किया। आचार्य शुक्ल की छायावादी कविता की समीक्षा में यह पंक्ति विशेष सहायक है --

`सूखी सरिता की शैया, वसुधा की करुण कहानी
कूलों में लीन न देखी, क्या तुमने मेरी रानी।[1]

मानवीय करुणा और प्रेम से युक्त रागात्मिका वृत्ति छायावाद में प्रवाहित है, इसमें किसी को विवाद नहीं है। शुक्ल जी को पन्त की कविता में यही `वृत्ति' सुलभ प्रतीकों, हृदय के इन्द्रिय-संवेद्य-भावों तथा बिम्बों की मनोरम रूप में दिखाई पड़ती है। सौन्दर्यानुभूति और `काव्यानुभूति' से समीक्षा का सीधा सम्बन्ध है, अत: छायावादी कविता की समीक्षा के लिए आचार्य शुक्ल `काव्यानुभूति' को तो स्वीकार करते हैं किन्तु `गीतात्मक' कृतियों को प्रबन्धात्मक कृतियों की तुलना में `हेठी' मानकर वे चित्र-भाषा काव्य-परम्परा तथा विशुद्ध रहस्यवादी कविता को `प्रबन्ध' की उदात्तता से दूर मानकर चलते हैं। यही कारण है कि `प्रसाद का आंसू' पन्त की ग्रन्थि तथा महादेवी की गीतात्मक रचनाओं को उन्होंने उतना उत्कृष्ट नहीं कहा।[2]

`हिन्दी साहित्य का इतिहास' में विवेचित `घनानन्द की रसानुभूति', `बिहारी की कल्पना की समाहार शक्ति' पद्माकर की मधुर कल्पना तथा देव की अर्थ सौष्ठव की परख उनके सहृदय समीक्षक का परिचय कराती है। इतना ही नहीं छायावादी कवियों में शुक्ल जी ने पन्त के काव्य को विशेष स्थान दिया है। उनके द्वारा स्थापित काव्य मूल्य के अनुरूप पन्त की कविता में गत्यात्मक सौन्दर्य तथा कल्पना का रागात्मक स्वरूप `प्रसाद' या `निराला

१- पन्त

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
पृ० २०३१ (छायावाद) ।

की तुलना मे अधिक प्रिय लगा । किन्तु `महादेवी`, प्रसाद अथवा निराला की कविता के साथ वे अपेक्षित न्याय नही कर सके ।

आचार्य शुक्ल ने वक्रोक्ति तथा `अभिव्यंजनावाद` को अपने प्रतिमान की सीमा से परे मानकर कलावाद अन्तश्चेतनावाद व्यक्तिवैचित्र्यवाद तथा टालस्टाय के आदर्शवाद का भी विरोध किया है जबकि एबरक्राम्बे की प्रेषणीयता, वर्डसवर्थ और कालरिज का भाव प्रेरित कल्पनावाद तथा रिचर्ड्स के सामान्यीकृत अनुभूति -वाद को अपनी सैद्धान्तिक सीमा में मानकर सराहा और स्वीकारा है । इस अस्वीकृति और स्वीकृति का मुख्य कारण है सहृदय समालोचक पर विशुद्ध नैतिकता-वादी बुद्धिवादी मीमांसक का हावी होना । जिस प्रकार प्लेटो को काव्यकला प्रत्ययजगत के अनुकरण का अनुकरण लगती है उसी प्रकार शुक्ल जी को भी छायावादी कला विधान फैन्टसा मात्सा शैली का अनुकरण तथा बंगला की स्वच्छन्दतावादी कविता से उधार लिया गया लगता है । उन्होंने `काव्यानुभूति` को लोकोत्तर न मानकर सुखदु.खात्मक अनुभूति के लोक की वस्तु कहा है । लोकोत्तर रसात्मकता स्वीकार न करने का कारण है उनकी आत्यन्तिक वस्तुनिष्ठता जो आत्यन्तिक व्यक्ति निष्ठता तक न पहुंचकर लोक के सामान्य धरातल के गुरुत्व बल से खिंच आया करती है । `सौन्दर्य और `मंगल` की एक मानना भी जगत की आदर्श कल्पना है । उनके आग्रही आचार्य ने मंगल-कल्याण, सुख, आनन्द तथा सौन्दर्यानुभूति को एक ही सीमा में स्थान दिया है जबकि ये अलग-अलग अर्थ में व्यवहृत होते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित तथा स्वीकृत कविता के समीक्षा प्रतिमान संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित हैं -

(१) वे कविता में रस की स्थिति साधारणीकरण तथा `अन्त:सत्ता की तदाकार परिणति` के साथ, `रसदशा` को भावदशा और ज्ञान दशा के समतुल्य मानते हैं ।

(२) कविता में सौन्दर्य की स्थिति को वे लोकमंगल के विधान द्वारा ही स्वीकार करते हैं । भारतीय वक्रोक्तिवाद तथा पाश्चात्य समीक्षा जगत के अभिव्यंजनावाद को `[illegible] के [illegible] में` [illegible] `व्यक्ति-

वैचित्र्यवाद' की तरह उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं ।

(३) ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता तथा आध्यात्मिकता और रहस्यवाद को वे कविता की सीमा से परे मानते हैं तथा सगुण द्वैतवादी राम या कृष्ण को काव्य के लिए उपयुक्त कहते हैं ।

(४) 'छायावादी कविता' की कल्पना 'मधुरस' तथा अतीन्द्रिय अनुभूति को वे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि लोकमंगल विधायिनी शक्ति प्रबन्धात्मक कविता में अधिक सम्भव है तथा गीतात्मक कृति में नहीं ।

(५) लक्षणा, व्यंजना तथा चमत्कृति युक्त कविता की तुलना में वे अभिधामूलक कविता को अधिक प्रभावकारी मानते हैं ।

(६) उनकी समीक्षा दृष्टि में भारतीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र की परम्परा का समन्वय है किन्तु वह सबसे पृथक और निराली है ।

डा० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त की तुलना आई० ए० रिचर्ड्स से करते हुए कहा है कि 'आचार्य शुक्ल तथा रिचर्ड्स' कविता को साधन मानकर प्रतिमान निर्धारित करते हैं[१] किन्तु शुक्ल जी 'अनुभूति' को 'रस' मानने पर भी संवेदनात्मक क्रिया रूप में इसे स्वीकार नहीं करते जबकि रिचर्ड्स ऐसा करते हैं । डा० नामवर सिंह ने भी अर्थ-व्यंजना को कविता के लिए महत्वपूर्ण मानते हुए कहा है कि आचार्य शुक्ल आरम्भ में तो 'व्यंजना' अथवा अभिव्यंजना-वाद को अस्वीकार करते थे, किन्तु रिचर्ड्स से प्रभावित होने पर उन्होंने 'शब्द' के लिए 'अर्थ विधान' विशेषकर कविता में अनिवार्य कहा है ।

१- कृतिकार - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० १५८-१७७

आचार्य शुक्ल और आई०ए०रिचर्ड्स - एक तुलनात्मक अध्ययन

समीक्षा प्रतिमान और छायावाद युग

हिन्दी समालोचना के विकास के सन्दर्भ में कविता की समीक्षा के लिए अपनाये जाने वाले प्रतिमानों में छायावाद का सर्वाधिक योगदान है। आधुनिक हिन्दी कविता मे छायावाद के आगमन के साथ ही वास्तविक आधुनिकता का युग आया जिसका सशक्त माध्यम स्वच्छन्दतावाद है। डा० विनय मोहन शर्मा ने लिखा है कि 'स्वच्छन्दतावाद' के अधिकांश लक्षण छायावाद में आकर विकसित हुए।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस नयी धारा का मुख्य श्रेय स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को दिया है जो द्विवेदी युग के परवर्ती रचनाकारों द्वारा अपनायी गयी थी।[2] कल्पना, हृदय की अनुभूति, आत्माभिव्यक्ति, प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग आदि प्रवृत्तियां स्वच्छन्दतावाद के रूप मे आईं तथा रहस्यवाद तथा पाश्चात्य कवि वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन के प्रभाव से तीव्रतर एवं पुंजीभूत होकर प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी की कविताओं में 'नवभावाभिव्यंजना' के नये काव्य प्रयोगों में विकसित हुईं। डा० नामवर सिंह की स्थापना से सहमत होकर यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, 'मिस्टीसिज़्म', 'रोमान्टीसिज़्म' आदि छायावाद नामक एक ही काव्य-धारा की विविध प्रवृत्तियां हैं।[3] जिनका सैद्धान्तिक रूप आधुनिक हिन्दी समीक्षा को प्रभावित करता है।

द्विवेदी युग के समीक्षक पं० पद्मसिंह शर्मा और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण नयी धारा के प्रति अनुदार था, किन्तु मिश्रबन्धुओं ने पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन किया था और उनकी दृष्टि स्वच्छन्दतावादी

1- साहित्य नया पुराना - विनय मोहन शर्मा, सं० १९७४, पृ० १५

2- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य शुक्ल, सं० २०२६

3- छायावाद - नामवर सिंह, सं० १९७४, पृ० ८८

थी अत वे इस नयी धारा के साथ सहृदयता बरतते थे । स्वच्छन्दतावाद, नव-रहस्यवाद, प्रतीकवाद तथा अभिव्यंजनावाद का सम्मिलित प्रभाव छायावादी कविता के माध्यम से उस युग की समीक्षा पर भी पड़ा । अव्यक्त सत्ता के प्रति समर्पण, अतीन्द्रिय जगत की कल्पना, प्रकृति पर मानवीकरण का आरोप तथा मानववाद की प्रवृत्ति वाद-वादिता के सहारे पन्त, निराला, प्रसाद, महादेवी की कविता तथा समीक्षाओं में विकसित और स्थापित हुई जो प्रभाववादी समीक्षा के रूप में प्रचलित हुई । शान्तिप्रिय द्विवेदी, प० मुकुटधर पाण्डेय, गंगाप्रसाद पाण्डेय, डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा कृतियां और निबन्धों द्वारा छायावाद के प्रतिमान निर्धारित और स्थापित किये गये ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्तों पर भी उस युग की कविता-छायावाद का प्रभाव है । डा० नामवर सिंह ने विभिन्न प्रसंगों में यह कहा है कि आचार्य शुक्ल ने छायावाद को प्रतिष्ठित किया है । 'छायावाद' 'इतिहास और आलोचना' तथा 'कविता के नये प्रतिमान' मे डा० सिंह की यह स्थापना है कि 'कविता की परिभाषा में उन्होंने शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह की जिस बात पर जोर दिया है वही तो छायावादी भी कहते थे ।'[1] "यहीं से हिन्दी-समीक्षा संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा हिन्दी के रीतिवादी रूढ़ मानदण्डों से उभर आती है । समीक्षा के नये मान बनते हैं, भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या की ओर ध्यान जाता है ; सुसंस्कृत सौन्दर्य दृष्टि का आभास मिलता है, शिल्प-सौन्दर्य की परख आरम्भ होती है ।"[2] बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में हिन्दी समीक्षा का जो प्रौढ़तर रूप सामने आया तथा जिस दृष्टि के प्रथम पुरोधा आचार्य शुक्ल थे उसके निर्माण में 'छायावाद' की भूमिका असंदिग्ध है ।

१- (क) छायावाद - नामवर सिंह, सं० १९७८, पृ० १५१

(ख) कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह, सं० १९६८

२- इतिहास और आलोचना - डा० नामवर सिंह, सं० १९७८, पृ० ६१ ।

नये जीवन मूल्यों को मुखरित करने वाली कविता तथा विश्वविद्यालय की अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तन की धारक छायावादी कविता है जिसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि साहित्यिक-विधाओं को प्रभावित करने के साथ आलोचक तथा आलोचना को परिष्कृत किया है । रीतिवादी अलंकृति एवं चमत्कृति युक्त कविता के स्थान पर खड़ी बोली की जिस भंगिमा को स्वीकार करने का तर्क सुमित्रानन्दन पन्त ने पल्लव की भूमिका में विस्तार से दिया है आचार्य शुक्ल भी उसे ही रसात्मक बोध के विविध रूप `शुद्ध और अशुद्ध' सम्बन्ध प्रसार करने वाली कल्पना' में स्वीकार करते हैं । `पुरातनता का निर्मोक' उतार कर `नित्य समरसता का अधिकार' व्यथा की नीली लहरों बीच मणिमय द्युतिमान सुख की कल्पना आचार्य शुक्ल की `मंगल विधायिनी कल्पना' से तुलनीय है । कामायनी का प्रतिपाद्य `आनन्द' `उदात्तता' `समरसता' तथा आचार्य शुक्ल की समीक्षा में आगत `विरुद्धों के सामंजस्य करुणा तथा लोकमंगल की भावना' का सिद्धान्त पास-पास रखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस युग की प्रतिनिधि रचना तथा प्रतिनिधि काव्य कृति से प्रतिमान निर्धारण के लिए शुक्ल जी को बहुत कुछ स्वीकार करना पड़ा है ।

आधुनिकता, एतद्देशीयता, समकालीनता तथा जीवन की गति, जीवन का स्वर के जो नये मान छायावादोत्तर युग में ग्रहण किये गये उनका बीज वपन छायावादी समीक्षा में ही हुआ था । प्रसाद की गद्यात्मक कृति `काव्यकला और अन्य निबन्ध' महादेवी की सान्ध्यगीत की भूमिका तथा निराला और पन्त की टिप्पणियों में आचार्य शुक्ल के सिद्धान्तों की सहमति देखी जा सकती है । कृति के अन्दर में प्रवेश कर उसकी रचनात्मकता तथा रचनाकार के मनस तत्व का अवलोकन कर कृतित्व में उसकी परिणति की खोज `छायावाद' की देन है । `हृदय की अनुभूति ( प्रसाद ), हृदय की अनुभूति ( शुक्ल ), प्रज्ञा का सत्यस्वरूप- हृदय में प्रणय कोमलों में लावण्य' ( पन्त ) या `कान्तिमयी छाया' सम्बन्धी स्थापनायें उस युग की समीक्षा में किसी न किसी रूप में विद्यमान है ।

समर्थ कृति और कृतिकार का प्रभाव न केवल उस युग की कविता अपितु सम्पूर्ण साहित्यिक परिदृश्य पर पड़ता है । समीक्षक रूप में आचार्य शुक्ल तथा कृतिकार रूप मे प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा की कविता मे समीक्षा के जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया परवर्ती युग की परम्परा या प्रयोग कविता की प्रेरणा उन्हीं सिद्धान्तो से मिलती है ।

हिन्दी समीक्षा में `छायावाद युग` एक ऐसा युग है जहा से स्वच्छन्दतावादी प्रतिमानों के निर्धारण के साथ `रस-सिद्धान्त`, `रस-सिद्धान्त नये सन्दर्भ` तथा `साहित्य नये प्रश्न`, `आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियो` के अनुशीलन तथा पुनर्मूल्यांकन की परम्परा चली । इस नवीन समीक्षा के सैद्धान्तिक रूप पर पाश्चात्य समीक्षा और चिन्तन-धारा के प्रभाव को इंकार नहीं किया जा सकता किन्तु ग्रहण, मूल्यांकन, विश्लेषण, एवं स्वीकृति की जो परम्परा छायावाद युग में बनी उससे `हिन्दी समीक्षा` का व्यापक रूप सामने आया । कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, अनुभूति, `रसानुभूति` काव्यानुभूति, कल्पना, सौन्दर्यबोध, रसात्मकता, अलंकृति, भावोच्छ्वलन, मनोविकार, समरसता, सत्य, शिव, सुन्दर की नवीन परिकल्पना इसी युग में व प्रस्तुत की गयी ।

स्वच्छन्दतावादी प्रतिमान तथा आचार्य वाजपेयी की समीक्षादृष्टि

आधुनिकता तथा वाद वादिता की सर्वथा सशक्त विधा समीक्षा बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के बीतने के साथ-साथ केवल कृति की अनुगामिनी नहीं अपितु साहित्य की सूत्रधारिणी बन गई । जीवन्तता शक्ति तथा सृजन की प्रेरणा से युक्त होने के कारण छायावाद युग की कविता को युवा कृतिकारों तथा नवता के समर्थक चिन्तकों का समर्थन मिल रहा था किन्तु उसकी यह भंगिमा 'सुकवि किंकर' आचार्य द्विवेदी तथा उस युग के दिग्गज आचार्य शुक्ल को प्रीतिकर नहीं लगी । 'वाद' की वास्तविकता से युक्त चिन्तन की 'स्वच्छन्दता' तथा कृतित्व की 'छाया' को पुरानी पीढ़ी के आचार्यों की उपेक्षा का शिकार होना पड़ा किन्तु असहिष्णुता नियमन और कठोर अनुशासन के द्वन्द्व और दबाव में भी इस युग के साहित्य को सांस्कृतिक चेतना तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय युवा मानसिकता का सम्बल प्राप्त हुआ । पुरानी और नई पीढ़ी के, कृतिकार और चिन्तकों के, रचनात्मक करने वाली भावुकता तथा नियमन करने वाली बुद्धि के टकराव के युग में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का आगमन छायावादी कवियों के समर्थक रूप में हुआ । नव चेतना स्वच्छन्द प्रवृत्ति तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उपजी इस नयी धारा को चिन्तन तथा दर्शन का सम्बल आचार्य वाजपेयी ने दिया, "हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि नई चेतना से दीप्त नये भाव बोध तथा नये विचारों के वाहक नये रचनाकारों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर इस नई विकासशील तथा महत् सम्भावनाओं वाली साहित्यिक दिशा को समर्थन देने के लिए रचनाकारों से इतर जो पीढ़ी के लोग मूलत: चिन्तन की भूमिका पर आगे आये थे, उनमें आचार्य वाजपेयी प्रथम पंक्ति के प्रथम व्यक्ति थे[1]। आचार्य शुक्ल के समय में ही स्वच्छन्दतावादी चेतना सृजन और चिन्तन में पनपने लगी थी

१- नई कविता - (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी) प्रस्तोता शिवकुमार मिश्र की भूमिका, सं० १९७६

किन्तु विदेशी संस्कृति का प्रभाव कहकर उसे उपेक्षा और सौतेला व्यवहार मिल रहा था। आचार्य वाजपेयी ने उसको राष्ट्रीय सांस्कृतिक आधार भूमि प्रदान करके वैचारिक दिशा दी। उनकी समीक्षा ने छायावाद युग को शक्ति और सम्बल प्रदान कर भारतीयता की शाश्वत धारा से जोड़ा।

विवादास्पद विधा के इस सवादी युग में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का आगमन नयीधारा के समर्थक रूप में हुआ। आचार्य वाजपेयी साहित्यिक विवादों से कभी भी समझौता न करने वाले तथा तटस्थ न रहने वाले समीक्षक थे। अपने समय के साहित्यिक विवादों में[1] वे बड़ा रस लेते तथा विवाद विषय पर अपना सुविचारित मत व्यक्त करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रस सिद्धान्त के सही अर्थ में उत्तराधिकारी वाजपेयी जी ही थे। जिस प्रकार यूनानी आचार्य 'प्लेटो' के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के प्रतिपादित 'अनुकरण सिद्धान्त' की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर पाश्चात्य चिन्तन को नयी दिशा दी उसी प्रकार शुक्ल जी के 'विरुद्धों के सामंजस्य' 'भावलोक' 'कर्मलोक', 'ज्ञानलोक', मनुष्यता, आध्यात्मिकता, रहस्यवादी उड़ान तथा साधारणीकरण की नवीन व्याख्याएं वाजपेयी जी द्वारा की गई। हिन्दी समीक्षा के स्वच्छन्दता एवं सरसता से युक्त सौन्दर्यात्मक प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करके उन्होंने शुक्ल जी द्वारा स्थापित मान्यताओं का यथासम्भव खण्डन भी किया है। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने साहित्य का परिणत प्रतिमान गोस्वामी तुलसीदास के साहित्यानुशीलन से प्राप्त किया था उसी प्रकार वाजपेयी जी ने काव्य-स्वरूप[2] विषयक धारणा स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा (छायावाद) से प्राप्त की। प्रबुद्ध मानव अनुभूति आह्लादकता, हृदयस्पर्शिता तथा नैसर्गिक कल्पना को स्वीकृत कर उन्होंने समीक्षा जगत में छायावादी सौन्दर्य बोध को प्रतिष्ठित किया। शुक्ल जी द्वारा आरोपित रहस्यवाद के आलोक में बंगला से उधार लिये गये नाम वाले 'फैन्टसमाटा' शैली के अनुवर्ती छायावाद की रक्षा वाजपेयी जी ने पूरे साहस के साथ

१- समीक्षक - पं० नन्ददुलारे वाजपेयी - सम्मेलन पत्रिका
अंक ७१, भाग १, पृ० ५

की । इस प्रक्रिया में विवश होकर उन्हें समीक्षक आचार्य की शालीनता और तटस्थता का भी कहीं-कहीं परित्याग करना पड़ा है । छायावाद के उन्नायक जयशंकर 'प्रसाद' की काव्यकृतियों के व्याख्याता रूप में उनका योगदान 'स्वच्छन्दतावादी' प्रतिमान की खींची जाने वाली रेखा है जिसमें 'नियतिवाद' और 'निराशावाद' के विपरीत सुख और दुख की विपरीत परिस्थितियों के सामंजस्य का रंग भर कर वाजपेयी ने विश्वव्यापिनी सत्ता 'भूमा' की पहचान की[1]। 'शक्ति के विद्युत्कण' जो शुक्ल जी की चोट से बिखर गये थे उन्हें समन्वित करके विजयिनी 'मानवता' के मानववाद को पुनर्जीवित करने वाले वाजपेयी जी पहले आचार्य हैं जिन्होंने मंगल अमंगल 'साधनावस्था' 'सिद्धावस्था' की सीमाओं का अतिक्रमण करके 'रागात्मिकता वृत्ति' के समन्वय को छायावाद से जोड़ दिया । 'वस्तुगत-सौन्दर्य दृष्टि' तथा लोकविधायिनी कला को (रामचन्द्र शुक्ल) कविता के असली रूप में विवेचित करते हुए उन्होंने रसवाद के समीक्षा दर्शन को और भी सुगम तथा प्रतिष्ठित वाद के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें 'करुणा से तादात्म्य' सहृदयता तथा 'संवेदनात्मक अनुभूति' की सत्ता स्वीकार की गयी । जगत की अनुभूति से दूर अद्वैत की प्रतिष्ठा के विपरीत औपनिषदिक 'श्रेय' 'प्रेय' तथा सहृदय की आत्मवादी सत्ता को स्वीकार करने में वाजपेयी जी को कोई हिचक नहीं थी[2]। शुक्ल जी की रसानुभूति, काव्यानुभूति को 'आत्मानुभूति' कहते हुए वाजपेयी जी का मत है कि 'आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है । अतः हम आत्मानुभूति के प्रपंच में न पड़कर अनुभूति से ही काम निकालेंगे ।[3] शुक्ल जी द्वारा किये जाने वाले विभाजन को वाजपेयी जी ने 'खानों में बांटना' कहा तथा प्रबन्ध 'मुक्तक' 'गीत' आदि

१- जिसे तुम समझे हो अभिशाप जगत की ज्वालाओं का मूल
(क) 'ईश का वह अनन्त वरदान अभी मत जाओ उसको भूल'
- कामायनी - प्रसाद
(ख) यहीं दुःख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान
- कामायनी - 'प्रसाद'
२- रस सिद्धान्त - नये सन्दर्भ - नन्ददुलारे वाजपेयी,

काव्य रूपों मे से शुक्ल द्वारा प्रबन्धात्मक कृति को ही रस दशा (रसानुभूति) के लिए उपयुक्त मानने का सतर्क मण्डन किया । प्रसाद की `करुणा` के सहारे स्वच्छन्दतावादी समीक्षक ने काव्यानुभूति को कलात्मक अनुभूति कहा जिससे रस (आनन्द) की प्राप्ति होती है ।

शुक्ल जी के द्वारा की गयी `लोकमंगल की साधनावस्था` तथा `हृदय की मुक्तावस्था` `रसदशा` की व्याख्या[1] में कुन्तक के वक्रोक्तिवाद तथा व्यंजना-व्यापार को भी नगण्य कहा गया था, किन्तु वाजपेयी ने इनकी स्थिति स्वीकार की तथा छायावादी रहस्यवाद की आध्यात्मिक सत्ता को भी प्रतिष्ठित किया । छायावादी कविता में आगत `प्रज्ञा` का सत्य `हृदय में प्रणय`, `लोचनों में लावण्य` तथा लोकसेवा में `शिव` को एक मानना सत्य शिव सुन्दरम् की स्वच्छन्दतावादी पहचान है जिसे वाजपेयी जी स्वीकार कर चलते हैं । इसी प्रकार अभिव्यंजना के समर्थन में उनका कथन है कि `काव्य मे अभिव्यंजना ही प्रमुख है । अभिव्यंजना या कला के मूल में सहृदय की अनुभूति हुआ करती है । स्थायी भाव रूप में सहृदय के हृदय मे कभी घनीभूत पीड़ा, कभी आनन्द `अखण्ड घना` हुआ करता है[2]। शुक्ल जी ने क्रोचे के `कलावाद` का विरोध किया था किन्तु वाजपेयी का मत क्रोचे के समानान्तर है ।

बयशंकर प्रसाद की काव्य की परिभाषा में आगत `श्रेय की प्रेय मयी कला भी अनुभूतिमयी होती है` तथा `कान्तिमयी छाया` (सौन्दर्य) विद्यमान हो` का समर्थन इन्होंने किया है ।

`अनुभूति वही है जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है । जिस अनुभूति में यह अभिव्यक्ति क्षमता नहीं होती वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी `ऐन्द्रियता` या मानसिक गुदगुदाई मात्र है । वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य रूप में अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह सकती[3]।

१- चिन्तामणि - (कविता क्या है) - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२- रस सिद्धान्त : नये सन्दर्भ - नन्ददुलारे वाजपेयी (पातनिका)
संस्करण १६७७, पृ० ५६

३- वही " " "

काव्य की आत्मा 'रस' के सम्बन्ध में भी यही निभ्रान्त धारणा उल्लेखनीय है--'जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है, तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में यदि वस्तुत वह काव्य है तो मानव समाज के लिए आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और भौतिक अनुभूति का संकलन होता है।'[1] रस की इस व्याख्या में इनका मत ध्वनिवाद के निकट चला जाता है। इसीलिए उन्होंने ध्वनिवाद को 'अनुभूति' की व्यापकता के लिए उपयोगी कहा है। 'काव्यानुभूति' स्वतः एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खण्ड व्यापार या वाद से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहता है।'[2]

इसी से मिलती-जुलती धारणा है काव्य महाकाव्य अथवा गीता में काव्यत्व की भूमि पर समानता, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। 'सभी काव्य रूपों में एक ही मानवीय अनुभूति का प्रवाह है' तथा 'काव्यरूपों की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता भेद के आधार पर न होकर 'अनुभूति' के आधार पर होती है।' 'समस्या नाटक, विशाल उपन्यास, अति लघु गीत, अति तरल गीति नाट्य में अनुभूति की समानता' काव्य साहित्य के अन्तर होने के कारण होती है।[3] इन स्थापनाओं द्वारा उनकी समीक्षा दृष्टि का परिचय मिलता है। एक सहृदय समीक्षक रूप में उन्होंने छायावादी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही 'प्रसाद' की कविता की 'कलात्मकता' ललित कल्पना तथा उदात्त भाव की व्याख्या करके आचार्य शुक्ल की उपेक्षा से मुक्त किया। अपने इस मतवाद के स्पष्टीकरण में वे स्वयं कहते हैं कि 'मेरा आगमन हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पन्त की नयी कविता के विवेचक रूप में हुआ था। नये जीवन दर्शन, नयी भावधारा, नूतन कल्पना छवियों और अभिनव भाषा रूपों को देखकर, मैं इनकी ओर आकृष्ट हुआ था।'[4] उनकी इस स्वीकारोक्ति से यह

१- आलोचना - अंक २२, पृ० ५

२- रस सिद्धान्त : नये सन्दर्भ - आनन्द कुमार वाजपेयी, सं० १९७४, पृ० ५६

३- वही ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ५८

४- हिन्दी साहित्य -बीसवीं शताब्दी - सं० १९७७

स्पष्ट है कि 'नई भावधारा', 'नूतन कल्पना छवियों' को वे 'अनुभूति' का माध्यम मानकर उसकी विवेचना करते हैं । 'नयाधारा' की कविता के लिए 'नये सन्दर्भ से युक्त 'रस सिद्धान्त' की व्याख्या विभिन्न दृष्टियों से उल्लेखनीय है ।

हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकरप्रसाद', नया साहित्य नये प्रश्न, रस-सिद्धान्त नये सदर्भ 'निराला' आधुनिक साहित्य तथा 'सूरदास' पर समीक्षा कृतियों की सर्जना द्वारा उन्होंने साहित्य के आधुनिक पक्ष को प्रतिपादित किया । आचार्य शुक्ल, डा० नगेन्द्र की तरह किसी समीक्षात्मक 'कृति' की सर्जना न कर उन्होंने प्रायः समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध ही लिखे थे जो पुनः पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं किन्तु इन निबन्धों में कहीं भी भ्रान्ति या तटस्थता नहीं है । समीक्षा क्षेत्र में प्रवेश करते ही उनका विवाद मुंशी प्रेमचन्द से हुआ था । इसी प्रकार आचार्य शुक्ल की छायावाद सम्बन्धी मान्यताओं का उन्होंने परिष्कार किया । नयी काव्यधारा (प्रयोगवाद और नयी कविता) की निर्मम आलोचना भी उन्होंने की । 'मार्क्सवादी' समीक्षा पद्धति को वाजपेयी जी नहीं मानते । 'बुद्धिवाद' को उन्होंने अधूरी जीवन-दृष्टि कहा है ।

एक प्रतिष्ठित समाचारपत्र 'भारत' के सम्पादन से लेखन-यात्रा आरम्भ कर 'सूरसागर' का सम्पादन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन तथा सागर और उज्जैन विश्वविद्यालय में अध्यक्ष एवं कुलपति पद पर रहते हुए भी उन्होंने अनवरत संघर्ष किया था । यही कारण है कि समीक्षा विधाकार आधुनिक काल की इस समीक्षा में उन्हें 'प्रतिपक्षी' की भूमिका अधिक प्रिय रही है । आचार्य शुक्ल के समय में ही उनका विरोध कम साहस या 'प्रतिभा' का व्यक्ति नहीं कर सकता था । यह अवश्य है कि शुक्ल जी की तुलना में उनकी अध्ययन दृष्टि तथा ग्रहण की क्षमता कम थी किन्तु किसी युग में 'शुक्ल' और प्रेमचन्द से टकराव विरला ही ले सकता था । 'प्रेमचन्द' के आदर्शवाद को कोरा 'आदर्शवाद' तथा 'प्रचारवादी' मानने के कारण 'प्रेमचन्द' के ऊपर प्रत्युत्तर की गूंज समीक्षा जगत की ऐतिहासिक घटना बन गई जो नयी पीढ़ी के धैर्य और उत्साह की परिचायक है ।

अपने समकालीन स्वच्छन्दतावादी काव्य को प्रतिमान रूप में स्थापित

करने वाले आचार्य वाजपेयी की भूमिका 'प्रयोगवाद और नई कविता के आन्दोलन में उसी प्रकार महत्वपूर्ण हो गई जिस प्रकार छायावाद युग में आचार्य शुक्ल की थी। अपना रुचि संस्कार तथा स्वच्छन्दतावादी नव-चिन्तन के कारण वाजपेयी जी द्वारा लगाये जाने वाले प्रश्न चिन्हों से 'अज्ञेय' ने तार सप्तक में वाजपेयी के नामोल्लेख के साथ अपना पक्ष प्रस्तुत किया। बुद्धिवाद को 'अधूरा जीवन दृष्टि' कहने तथा नयी कविता की प्रखर आलोचना करने पर डा० जगदीश गुप्त[1] ने भी 'आचार्य श्री की कृपादृष्टि' लिखकर नये जीवन मूल्यों की वकालत की। 'हंस' पत्रिका के प्रकाशित आत्मकथा अंक का प्रगतिवाद-मार्क्सवाद का विवाद 'नयी कविता' पर छपने वाले निबन्धों के कारण पुनः नया हो गया। 'राही नहीं राहों के अन्वेषी' पर व्यंग्य करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा था -- 'प्रयोगवादी साहित्यिकों के सम्बन्ध में मेरी धारणा कभी बहुत ऊंची नहीं रही। प्रयोग शब्द में ही एक प्रकार की कृत्रिमता और अभ्यास की व्यंजना है। . . . परिश्रम के द्वारा कलापूर्ण और सुरुचि पूर्ण[2] साहित्य का निर्माण हो सकता है - प्राण-पूर्ण जीवनप्रद साहित्य का नहीं।' कुछ समय बाद जब प्रयोगवाद और नयी कविता ने स्थायित्व पा लिया तो वाजपेयी जी की टिप्पणी बदली हुई थी।' समय को देखते हुए उन्होंने नवीन[3] कार्य किया है और जिनकी कुछ कृतियां साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं।' मुक्तिबोध की कविता में ऊबड़ खाबड़ पन तथा धर्मवीर भारती के अंधायुग पर वाजपेयी जी की टिप्पणियां 'समीक्षा' का इतिहास और प्रखरता का स्वर लिये हैं।' 'प्रयोगवाद' तथा नई कविता की अवांछित गतिविधियों का जितनी तीव्रता से उन्होंने खण्डन किया है, उतनी ही सहानुभूति तथा आत्मीयता[4] से नई काव्य-रचना की उपलब्धियों को भी अपनी स्वीकृति दी है।'

१- नयी कविता ~~[illegible]~~ स्वरूप और समस्याएं - डा० जगदीश गुप्त

२- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी - नन्ददुलारे वाजपेयी (विज्ञप्ति) पृ० १४

३- नई कविता - प्रणेता डा० शिवकुमार मिश्र, पृ० ५२-५३

४- नई कविता - ,, ,, (भूमिका), पृ० ६

छायावाद युग के साथ आरम्भ हुई उनकी अन्तर्यात्रा मे सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा के जो प्रतिमान निर्धारित हुए, परवर्ती छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा की पृष्ठभूमि निर्मित करने में वे महत्वपूर्ण है । प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता की समालोचना के साथ-साथ काव्य-शास्त्र के विभिन्न वादो की प्रत्यालोचना, रस-अनुभूति, हाव-भाव एवं क्रियावादि की पुनर्व्याख्या ने समकालीन काव्य पर नियमन और अनुशासन युक्त प्रेरणा का कार्य किया । उनके द्वारा स्थापित काव्य-समीक्षा के प्रतिमान निम्नलिखित है --

(१) काव्य की आत्मा रस है जो अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य मतो से समन्वित है । `अलंकार` अनुभूति की तीव्रता मे अभिव्यंजना के माध्यम या भाषा के सहायक न होकर कलात्मक भूमिका का निर्वाह करते हैं ।

(२) भारतीय साहित्य-शास्त्र का सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमान रस वाजपेयी जी की समीक्षा में अनुभूति रूप में स्वीकार किया गया । उनकी इस धारणा में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों का भी प्रभाव विद्यमान है ।

(३) कविता को वे स्वच्छन्दता एवं कलात्मकता से युक्त आह्लादकारिणी रूप में स्वीकार करते हैं । छायावादी कविता की विश्लेषणात्मक समीक्षा मे उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की `ध्वनि`-परम्परा` तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अभिव्यंजनावाद का समन्वय करते हुए रहस्यवाद और आध्यात्मिकता को भी स्थान दिया ।

(४) स्वच्छन्दतावाद तथा छायावाद की सांस्कृतिक एवं सामाजिक भूमिका का उद्घाटन करने के साथ ही उन्होंने आधुनिक काव्य को राष्ट्रीय चिन्तनधारा के रूप में स्वीकार किया । गुण, प्रभावोत्पादकता, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति से समन्वित कलाकृति रूप में कविता को स्वीकार कर उन्होंने इसे ही समीक्षा का प्रतिमान बनाया ।

(५) गीत, लघुगीत, मुक्तक और प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त उपन्यास, नाटक एवं अन्य विधाओं में भी अनुभूति की अभिव्यक्ता मानते हुए उन्होंने `स्वकीय-परकीय` `उत्तम- मध्यम`, उदात्त-अनुदात्त` आदि कोटियों को `स्वाभिरुचि` नहीं स्वीकार

छायावादोत्तर सहृदय की भूमिका और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

छायावादोत्तर काव्य-समीक्षा के प्रतिमान निर्धारकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भूमिका एक सहृदय समीक्षक एवं आस्थावादी पुरोधा की भूमिका है। एक तटस्थ व्याख्याता और चिन्तक रूप में भारतीय संस्कृत एवं संस्कृति से तत्व ग्रहण कर आचार्य द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'सिद्ध साहित्य', 'नाथ-साहित्य' 'सूर साहित्य' 'कबीर' आदि ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक कृतियों की सर्जना की है। आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास की अतल गहराइयों में प्रवेश कर जिस समग्र समीक्षा दृष्टि का पथ निर्मित किया था उसे आगे ले चलने वालों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा नन्ददुलारे वाजपेयी प्रमुख हैं। इसी समीक्षा यात्रा में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डा० नगेन्द्र भी सहयात्री बनते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा स्थापित काव्य-समीक्षा का उल्लेखनीय सूत्र 'लोकोन्मुखता' है। डा० रामचन्द्र तिवारी तथा कुछ अन्य विद्वान[1] उनमें आचार्य शुक्ल की स्थापित दृष्टि का विकास मानते हैं। किन्तु आचार्य शुक्ल की समीक्षा यात्रा जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब है। समाज की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक अवस्था को आधार बनाकर कविता की समीक्षा करते हुए वे 'लोक-भूमि' को 'भाव-भूमि' से जोड़ते हैं वहीं आचार्य द्विवेदी 'लोकचिन्ता' के संकल्प से चिन्ताधारा का आरम्भ कर 'जन' तक आते हैं।[2] इसीलिए डा० नामवर सिंह 'दूसरी परम्परा की खोज'[3] का नायक मानकर इन्हें 'पक्षधरता' की सीमा में ले चलते हैं। यह पक्षधरता यद्यपि मार्क्सवादी चेतना से उद्भूत पक्षधरता नहीं है किन्तु 'भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान' तथा 'कबीर' नामक समीक्षा कृति में द्विवेदी जी की सहृदयतापूर्ण, प्रतिक्रियारहित पक्षधरता की झलक मिलती है।

१- हजारी प्रसाद द्विवेदी (सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) में डा० रामचन्द्र तिवारी का लेख।

२- इतिहास और आलोचक दृष्टि - डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ,,

३- दूसरी परम्परा की खोज -- डा० नामवर सिंह, पृ० [illegible] (भूमिका)।

इसी लोकोन्मुखी दृष्टि का महत्वपूर्ण सूत्र है ऐतिहासिक, समाज-शास्त्रीय तथा साहित्यिक परम्परा भूमि से कविता की समाज सापेक्षता की जाँच-परख, जो द्विवेदी जी की समीक्षा कृतियों में देखी जाती है । पुराण इतिहास, धर्मग्रन्थ तथा मिथकीय संवेदना के सहारे `कबीर` की वाणी में `योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज-प्रस्फुटन` की व्याख्या द्विवेदी जी के प्रतिमान का परिचय देती है । `भारतीय पाण्डित्य ईसा की एक सहस्त्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था । यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना (अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार) न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता ।[1] `हिन्दी साहित्य की भूमिका` `कबीर` तथा `साहित्य का मर्म` नामक निबन्ध में द्विवेदी जी ने अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि `धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती`[2] लोकोन्मुखी संवेदना, साहित्य की सांस्कृतिक-सामाजिक भूमि तथा आध्यात्मिक एवं धार्मिक कृतियों में भी लोक का पक्ष विद्यमान होने के कारण `सन्त साहित्य` जैन एवं बौद्ध मतावलम्बी सिद्ध और नाथों की रचनायें तथा `कबीर` का काव्य `साहित्य की कोटि` में सम्मिलित किया गया है । `कबीर` की भाषा में उस समय की प्रमुख उपभाषा राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि के शब्द तथा `आंखिन की देखी` को `कागज` की लेखी` से महत्वपूर्ण मानना द्विवेदी जी की परम्परित सांस्कृतिक दृष्टि का निर्णय है । आचार्य शुक्ल द्वारा आध्यात्मिक तथा धार्मिक साहित्य को कविता से पर मानना द्विवेदी जी की दृष्टि में उपयुक्त नहीं है । इसीलिए वे कहते हैं कि, `मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कारजन्य प्रयोजन सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं तो उसमें मनुष्य की विराट एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है । मानववाद

1- हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० सं० १५

2- हिन्दी साहित्य का आदिकाल- हजारीप्रसाद द्विवेदी

3- अशोक के फूल - हजारीप्रसाद द्विवेदी सं० ,पृ०

से मानवतावाद का विकास तथा मनुष्य की विराट एकता एवं `जिजीविषा`
के लक्ष्य को साहित्य के मर्म से जोड़कर द्विवेदी जी ने `साहित्य` का बहु आयामी
रूप प्रस्तुत किया है ।

धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, समाजशास्त्र तथा साहित्य को एक दूसरे
से अन्योन्याश्रित मानकर उन्होंने `मध्ययुगीन रस दर्शन` की नवीन भूमिका में न
केवल `कालिदास की लालित्य योजना` या `अशोक के फूल` में कन्दर्प या गन्धर्वों
की संस्कृति की अन्तर्यात्रा को अपितु `कालदेवता` की निर्मम निरंकुशता को भी
रेखांकित किया । इसी आशावादी दृष्टि तथा `जिजीविषा` की प्रेरणा से की
गई सर्जना को गंगा की अबाधित धारा मानकर उन्होंने `महामानव` समुद्र भारत
की संस्कृति को विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय कहा । जिसमें विद्यमान
भारतीयता `साहित्य` या कविता में आकर विकासात्मक रूप धारण करती है[1]।
`मनुष्य के आत्यंतिक कल्याण के लिए किये जाने वाले कर्म को `धर्म` तथा `सत्य`
का समन्वित रूप बताकर उन्होंने `नाना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भांति के
प्रयत्नों को पहले जीवन का अंग बताया और बाद में इसे ही `मनुष्य का हित
कहकर `साहित्य` कहा । `निरन्तर परिवर्तनशील और परिवर्धमान, इन उपलब्धियों
के लिखित रूप को भी हम सामान्य रूप से साहित्य कहते हैं । विशेष रूप से
साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं जो हमारी सामान्य मनुष्यता
को प्रभावित करती रहती है और भाव के आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य
के सुख -दु:ख को विशेष मनुष्य-श्रोता या पाठक के चित्त में संचारित कर देती है[2]।`
सामान्य मनुष्य की लोकभूमि से गृहीत भाव का आवेग पाकर श्रोता-पाठक या
सहृदय के चित्त को संचारित करने वाला `साहित्य` द्विवेदी जी के अनुसार भावा-
वेग से युक्त होने के कारण सरस और प्रभावकारी होता है ।

`हिन्दी साहित्य की भूमिका` में अपने समीक्षक आचार्य की भूमिका

१- साहित्य में व्यष्टि और समष्टि (हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ में -
पृ० १७२ पर प्रकाशित) -- हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख

२- वही ,, ,, ,, ,,

का परिचय देते हुए वे लिखते हैं -- यह पुस्तक हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है और न यह ऐसे किसी इतिहास का स्थान ले सकती है । आधुनिक इतिहासों को यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहासों को मार्ग-दर्शिका है ।[1] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नहीं है कह कर वे आचार्य शुक्ल की चिन्तनधारा से अपने को पृथक करते हैं किन्तु 'भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहासों की मार्गदर्शिका है' कथन उनके विनम्र एवं हसमुख स्वभाव वाले विपदानी का परिचय देता है । 'वाद-वादिता' एवं खण्डन-मण्डन से दूर रहने वाले द्विवेदी जी 'आक्रमक मुद्रा' को अपने गम्भीर आचार्य व्यक्तित्व में दबाये हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा आचार्य क्षिति मोहन सेन की छाप छोड़ते हैं । आवश्यकतानुसार आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का खण्डन वे 'कबीर' की आक्रामक मुद्रा में नहीं अपितु 'कवि न होउ नहि चतुर कहावहु' की तुलसी की भंगिमा में करते हैं । 'कबीर की व्यंग्योक्तियों से पण्डित लोग धूल भाड़कर भाग चलते हैं,[2] सदृश कथन उनके व्यक्तित्व में कहीं छिपे हुए विद्रोही का परिचय देते हैं किन्तु 'कालिदास की लालित्य योजना' तथा 'भारतीय संस्कृति की देन'[3] का समन्वित प्रभाव उनके समीक्षक पर इतना गम्भीर है कि उन्हें कहीं 'फक्कड़ाने अन्दाज' को अपनाने नहीं देता । आलोचक के रूप में उनके साथ बड़ी कठिनाई यह है कि अपने युग के साहित्य के साथ उनकी 'समझदारी' और साझेदारी सीमित रही है ।[4] डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह टिप्पणी इतिहास और आलोचक दृष्टि' का एक छोर है, जिसके दूसरे छोर पर यह कथन भी व्याख्येय है, 'अपने कृतित्व में तो बरेण्य है ही अपनी दृष्टि में भी प्रगतिशील बने रहे ।[5]

'समझदारी' को साफ करते हुए डा० चतुर्वेदी ने कहा है कि 'उनका योरोपीय या अंग्रेजी साहित्य से घनिष्ट परिचय न था' यही उनके समीक्षक की असली पहचान है जिसे डा० रामचन्द्र तिवारी, डा० निर्मला जैन

१- हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारीप्रसाद द्विवेदी, (प्रकाशन की ओर से)।

२- कबीर - हजारीप्रसाद द्विवेदी

३- अशोक के फूल (निबन्ध संग्रह) हजारी प्रसाद द्विवेदी

४- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी सं १९८६ पृ०२६४।

५ वही

तथा डा० रामदरश मिश्र ने भी स्वीकार किया है । पश्चिम की अंग्रेजी दृष्टि-वाद `खण्डन मण्डन` विरोध एवं उग्रता उत्पन्न करती है किन्तु समीक्षक द्विवेदी जी अन्दर बाहर से सर्वत्र भारतीय हैं । उन्हें कहीं भी `अंग्रेजी साहित्य से निकटता` का अभाव हीनता की ग्रंथि का शिकार नहीं होने देता, संस्कृत साहित्य का अध्ययन उनके लेखक तथा सहृदय समीक्षक को बल देता है ।

समीक्षक रूप मे द्विवेदी जी में कुछ `नया` देने की उमंग रही है जो उनके दृढ़ आत्म-विश्वास और मृदुता युक्त आक्रामक मुद्रा में देखी जाती है । `नया` से यहां तात्पर्य है पूर्व स्थापना को आगे ले चलना तथा उसकी प्रत्यालोचना किसी वाद को शालीनतापूर्वक दूसरी ओर मोड़ देना द्विवेदी जी की विशेषता है । `मध्यकालीन काव्य` के सन्दर्भ में हिन्दू जनता की निराशा` को डा० द्विवेदी कबीर के व्यक्तित्व रूप मे पहचानते हैं जब कि आचार्य शुक्ल उसे `तुलसी` के गम्भीर महिमामण्डित व्यक्तित्व में रेखांकित करते हैं[१]। आचार्य द्विवेदी के अनुसार कबीर के काव्य का प्रतिक्रियावादी स्वर मध्यकाल की `हिन्दू` जनता की निराशा है । इसी धारणा की पुष्टि के लिए `कबीर` को `जुलाहा` न मानकर,जुगी - या`जोगी ` जाति का सिद्ध करते हैं । इस्लाम के आक्रमण से बचाने वाली `जिजीविषा` तथा मानव की जय-यात्रा` में अविचल निष्ठा उनके लेखकीय निष्ठा की परिचायक है । समीक्षा मे रचनाकार के व्यक्तित्व से जुड़ने तथा समीक्षक को जोड़ने का सार्थक प्रयास उनके निबन्धों तथा `बाणभट्ट की आत्मकथा `सदृश औपन्यासिक कृतियों मे भी विद्यमान है । डा० नामवर सिंह ने `चारु चन्द्र लेख ` तथा पुनर्नवा में भी उनके व्यक्तित्वगत तथा `आभ्यन्तरिकृत जीवन दृष्टि ` का अनुशीलन किया है । यदि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है तो मनुष्य के समान साहित्य भी स्थिर नहीं गतिशील है । यदि मनुष्य की कोई स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती तो साहित्य की भी क्यों ।` द्विवेदी जी का उपर्युक्त कथन उनके

१- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं० १९८२, पृ० ३३
२- दूसरी परम्परा की खोज- डा० नामवर सिंह, प्रथम सं० १९८२

(क्रमशः)

द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक अवधारणा, साहित्य की गतिशीलता तथा मानव-जीवन की गतिशीलता के एकीकरण की विचारधारा पर आधारित है ।

द्विवेदी जी के समीक्षा दर्शन को समझने के लिए उनके द्वारा लिखित कृति 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' तथा 'विचार प्रवाह' पर भी दृष्टि डालना अपेक्षित है । इन रचनाओं मे वे एक रस वादी चिन्तक लगते हैं किन्तु आचार्य शुक्ल की रस दृष्टि से द्विवेदी जी की रस दृष्टि भिन्न है । 'साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती होने के कारण वे कहते हैं कि, 'जीवन के सम्पूर्ण सार रसो से जो काव्य परिपुष्ट हुआ है वह जीवन की भांति ही क्रियाशील है । . . . . काव्य सर्जक है । वह मनुष्य की दुनिया में नये भावों की सृष्टि करके विधाता के भाव जगत में वृद्धि करता आ रहा है'[1] । 'मनुष्य की दुनिया में नये भावों की सृष्टि' भामहादि अलंकारवादियो के आक्षेप के विरुद्ध 'अभिनवगुप्त' द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्तिवाद के निकट है । कालिदास, अश्वघोष आदि कृतिकारों तथा कुमारिल भट्ट आदि दार्शनिकों के प्रभाव के कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रसचिन्तन परिवर्तित होकर औपनिषदिक रस के रूप में सामने आया जिसे डा० नगेन्द्र आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आंशिक रूप से स्वीकार करते हैं । 'आस्वाद' तथा 'रसानुभूति' के रूप में व्याख्यायित द्विवेदी जी की रस दृष्टि पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की संस्कृत साहित्य की परम्परा का प्रभाव है । डा० रमेशकुन्तल मेघ ने इन्हीं से प्रभाव ग्रहण कर 'रस' के परवर्ती स्वरूप को स्वीकार किया है । 'मन सबन किनके' तथा 'सूर साहित्य' की विषयवस्तु की सार्थकता इस प्रभाव का उद्घाटन करती है ।

आचार्य द्विवेदी के निबन्धों, साहित्यिक कृतियों एवं उपन्यासों में उनके व्यक्तित्व की छाप तथा 'कविता', साहित्य, जीवन, संस्कृति आदि के सम्बन्ध मे जो व्याख्यायें मिलती हैं उनके आधार पर उनके समीक्षा प्रतिमान का मूल

1- विचार प्रवाह - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११६-११२
डा० नामवर सिंह द्वारा दूसरी परम्परा की खोज में उद्धृत ।

संक्षेप में इस प्रकार है --

(१) जीवन के सम्पूर्ण सार रस से परिपुष्ट काव्य ही उनकी दृष्टि में काव्य है जो सृजनशीलता एवं सामाजिक परिवर्तनशीलता के कारण गतिशील एवं परिवर्तनशील है ।

(२) वे साहित्य को मनुष्य की तरह देखने के पक्षपाती हैं । अतः `वेद्यान्तर-स्पर्श शून्य' रस का लौकिक रूप जो पुराण, मिथक, धर्म, दर्शन एवं मनोविज्ञान में निरूपित होता है द्विवेदी जी उसी का समन्वित रूप ऐतिहासिक विकासमान, समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति में अपनाते हैं ।

(३) संस्कृत साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के कल्याणकारी आनन्दमय सौन्दर्य को अपनी कलात्मक परिकल्पना का आधार बनाकर वे भारतीय वाङ्‌मय के मार्ग से हिन्दी समीक्षा में आये हैं ।

(४) उनकी इतिहास दृष्टि तथा समीक्षा दृष्टि जहाँ एकमेक हो जाती है वहाँ वे संस्कृत साहित्य-विशेषकर कालिदास के काव्य में आधार खोजते हैं । यह दृष्टि समाज सापेक्ष तथा कला जीवन के लिए अधिक निकट है ।

(५) `इतिहास देवता' `महाकाल' तथा `पुराण' तथा `मिथक' के सहारे रहस्य एवं आध्यात्म के सरस पक्ष को वे काव्य के अन्तर्गत मानते हैं ।

(६) मानव की `जय-यात्रा', `जिजीविषा' अतीतोन्मुखी दृष्टि तथा मानवतावादी परिकल्पना ने उनके समीक्षा सिद्धान्तों को नया रूप प्रदान किया है ।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा तथा डा० नगेन्द्र

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा वाद-प्रतिवाद समालोचना मूल्यांकन शास्त्रीयता एवं अनुसन्धान के विविध पथ पर अग्रसर हुई है , जिसमें आचार्य शुक्ल द्वारा उद्घाटित प्रशस्त पथ पर चलते हुए आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० रामविलास शर्मा आदि समीक्षकों की स्थापनायें `समीक्षा-प्रतिमान` की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । काव्यानुशासन, शास्त्रीयता तथा आधुनिकता के माध्यम से उद्भूत द्विवेदी युगीन हिन्दी समीक्षा शुक्ल जी के `रसवाद` तथा लोकमंगल की साधनावस्था से युक्त होकर प्रौढ़ प्राञ्जल तथा गतिशील हुई । बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में एक ओर छायावाद की सर्जना नये आयाम ग्रहण कर रही थी तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल तथा सुकवि किंकर के अनुशासन के कारण समीक्षा दृष्टि `वाद` की सत्ता से विशेषण का रूप लेने लगी थी । आधुनिककाल का नवजागरण तथा भारतीय संस्कृति का आधार ग्रहण कर आई हुई स्वच्छन्दतावादी चेतना उपर्युक्त वाद (थीसिस) के विपरीत प्रतिवाद (एण्टी थीसिस) रूप में अग्रसर हो रही थी । जयशंकर `प्रसाद`, पन्त, निराला एवं महादेवी वर्मा आदि कृतिकारों के साथ स्वर में स्वर मिलाकर आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने छायावादी काव्य-शास्त्र का प्रतिपादन किया जिसका मूल स्वर स्वच्छन्दतावादी था । शुक्ल जी की समीक्षा यदि `वाद` रूप में स्वीकार की जाय तो वाजपेयी जी की भूमिका प्रतिपक्षी (प्रतिवादी) की भूमिका है तथा डा० नगेन्द्र एक समन्वयवादी `सिन्थेसिस` `भावाभिव्यंजना`[1] के पक्षधर हैं । जो स्वच्छन्दतावाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या से सम्बन्धित है ।

छायावाद युग के उत्तरार्द्ध (१९३० ई०) में नीहार, रश्मि की

१- `भावाभिव्यंजना` डा० नगेन्द्र का वह शब्द है जिसे वे गिरिजा कुमार माथुर के गीतों में बिम्बों के लिए प्रयोग में लाते हैं ।

भावुकता के स्थान पर `दीप-शिखा` का यथार्थ, जुही की कली के स्थान पर `राम की शक्तिपूजा` का सृजन स्वच्छन्दता रोमानी संवेग एवं कल्पना के पथ पर यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का प्रतिफलन है जिसकी चरम परिणति `तप नहीं केवल जीवन सत्य` के रूप में `कामायनी` महाकाव्य में देखी गई । कामायनी के प्रकाशन के बाद `युगान्त` की घोषणा `संक्रान्ति` की सूचना है जो आगे चलकर `ह्रास` के रूप में प्रगति-प्रयोगवाद का पथ निर्मित करने में सक्षम हुई । इसी युग में आचार्य शुक्ल द्वारा लगाये जाने वाले आरोपों का उत्तर आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी दे रहे थे और `छायावाद` युग की अस्मिता के पक्ष में प० मुकुटधर पाण्डेय, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि कृतिकारों के निबन्ध और रचनायें प्रकाशित हो रही थीं । हिन्दी समीक्षा में डा० नगेन्द्र का आगमन इसी समय `साहित्य सन्देश` के लेखक रूप में हुआ तथा `सुमित्रानन्दन पन्त` (1937) नामक समीक्षा कृति भी प्रकाश में आई। समीक्षा क्षेत्र में आने से पूर्व वे `बच्चन` की शैली के गीतकार थे । आगरा कालेज, आगरा में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी कविता (रोमान्टिक पोयेट्री) से निकट का परिचय प्राप्त किया था । `पन्त` की काव्य चेतना के साथ-साथ छायावादी संवेदना और अनुभूति का विकास `कामायनी अध्ययन की समस्यायें` तथा `साकेत एक अध्ययन` में देखा जा सकता है ।

छायावाद युग की काव्यानुभूति की परख के लिए डा० नगेन्द्र ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा वर्डस्वर्थ के स्वच्छन्दतावाद का समन्वय कर अपने समय की समीक्षा को मनोवैज्ञानिक धरातल से जोड़ा । उधर छायावाद के यथार्थ की क्रमिक परिणति छायावादी अनुभूतिपरक परिस्थितियों के द्वन्द्व और दबाव के कारण `शक्ति` के रूप में दृष्टिगत हुई जिसका पुनर्मूल्यांकन हिन्दी समीक्षा का तत्कालीन विषय बना । `दुःख की पिछली रजनी बीच` सुख के नवल प्रभात की कल्पना यथार्थ का स्वर है जिसे अपनाकर कामायनीकार ने `विजयिनी मानवता हो जाय` का आह्वान किया है । डा० नगेन्द्र की `साहित्यिक मान्यताओं का निर्माण इसी अवधि में `प्रायोगिक समीक्षा` के माध्यम से हुआ है । इकोपर हिन्दी समीक्षा का आलोच्य पथ मनोवैज्ञानिकता,

अनुभूति, विश्लेषण, स्वच्छन्दता तथा सौष्ठव का है जिसे ग्रहणकर डा० नगेन्द्र ने समीक्षा प्रतिमान के नवीन क्षेत्र में प्रवेश किया है । इनके समीक्षक के विकासात्मक रूप को हम साढ़े तीन दशक की देश-काल-परिस्थिति सापेक्ष्य दृष्टि से देख सकते हैं ।

(१) डा० नामवर सिंह आलोच्य समीक्षा को `नगेन्द्री` दृष्टि कहते हैं । `कृति` के अन्तरवर्ती सौन्दर्य-अनुभूति के उद्घाटन के लिए डा० नगेन्द्र कृतिकार के मनोजगत में प्रवेश कर उसके व्यक्तित्व की छायाओं का मूल्यांकन करते हैं । उनका आरम्भिक समीक्षक मनोविज्ञान तथा कला के भावजगत में पैठ बनाकर `सर्जना` तथा आलोचना को एकमेक कर देता है । इसीलिए वे आलोचना को `कारयित्री` तथा `भावयित्री` प्रतिभा का समन्वय मानते हैं । एक गीतकार तथा भावुक सर्जक से समीक्षक के रूप में पर्यवसित होने पर भी उनका `सहृदय` मन उनके साथ रहता है । `सुमित्रानन्दन पन्त` ने उनके सम्बन्ध में कहा है कि, "श्री नगेन्द्र जी स्वयं भी कवि हैं । अपने कवि-हृदय के माधुर्य से मेरे काव्य को और भी सुन्दर बनाकर वह पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सके हैं । इसमें मुझे सन्देह नहीं ।"[१] छायावादी कविता की नवीन संवेदना से प्रभावित होने तथा `रस` को व्यापक अर्थ में `अनुभूति` कहने की कुंजी यहीं से खुलती है । इस समर्थन में डा० रामचन्द्र तिवारी का कथन है कि "वे तत्त्वतः अनुभूति और अभिव्यक्ति को अभिन्न मानते हैं, किन्तु विवेचन के लिए, विशेषकर व्यावहारिक समीक्षा के लिए दोनों की पृथक सत्ता स्वीकार करते हैं ।" सापेक्षिक दृष्टि[२] से वे अनुभूति को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि अनुभूति ही कवित्व का प्राणतत्त्व है । डा० नगेन्द्र के इस प्रथम रूप[३] पर डा० कुमार विमल, डा० रामदरश मिश्र तथा डा० तिवारी एकमत लगते हैं । यहीं से उनकी समीक्षा का मौलिक संस्कार निर्मित होता है जो उन्हें `देव और उनकी कविता` `रीतिकाव्य की भूमिका` १९४९ से `रस-सिद्धान्त` तथा `आस्था के चरण` तक

१- सुमित्रानन्दन पन्त - डा० नगेन्द्र (भूमिका)

२- डा० नगेन्द्र : साधना के नये आयाम - सं० डा० कुमार विमल, सं० १९७०, पृ० २७-२८

३- डा० नगेन्द्र - साधना के नये आयाम - डा० कुमार विमल, सं० १९७०

भामहोत्तर रस-चिन्तन की भारतीय युक्त रसग्राहकता से जोड़ता है ।

(२) हिन्दी समीक्षा के प्रगति-प्रयोगवादी चरण में डा० नगेन्द्र की समीक्षा कृति `रीतिकाव्य की भूमिका` तथा `देव और उनकी कविता` (१९४८-४९) प्रकाश में आई जो उनका शोधप्रबन्ध है । छायावाद युग से `इस` का द्रवत्व और `आनन्द` ग्रहण कर वे जब आधुनिक काल से रीतिकाल की ओर मुड़ते हैं तो उनमें एक उन्मेषशील आचार्य तथा सुधी समीक्षक जन्म लेता है । इन कृतियों में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का संश्लिष्ट प्रतिपादन होता है । `रस और मनोविज्ञान`, `स्वच्छन्दता` अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकता तथा आत्म-विश्लेषण की शैली में `वस्तु` और `कला` या `विचार और अनुभूति` का रूप `विचार और विश्लेषण` में प्रकट होता है । अनुसन्धान, आलोचना तथा अध्यापन को एक कर वे इन कृतियों में पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं का समन्वय करते देखे जाते हैं । `एक शास्त्र निष्ठ आचार्य, समर्थ चिन्तक और रस-सिद्ध समीक्षक के रूप में आधुनिकों के बीच में नगेन्द्र की कुछ उपलब्धियां बहुत ही महत्वपूर्ण हैं[1]। डा० कुमार विमल के अनुसार यह उपलब्धि है - क्रोचे के मन्तव्यों को सन्तुलित ढंग से उपस्थित करना, छायावाद का मूल्यांकन तथा रसवाद की नयी व्याख्या में आधुनिक मनोविज्ञान का सामंजस्य[2]। अनुसंधान की सीमा में भी सहृदय समीक्षक का परिचय देते हुए उन्होंने `रीतिकाव्य की भूमिका` में आचार्य शुक्ल के पथ का अनुकरण कर आलोच्य काल के नाम और सीमा को यथावत् स्वीकार किया है किन्तु शुक्ल जी की नैतिक दृष्टि के आगे वे मानवीय संवेदना को दबाना नहीं चाहते । इसीलिए `देव और उनकी कविता` तथा `हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास` (षष्ठ भाग) में वे `रीति काल` को ही स्वीकार करते तथा इसकी विशद विवेचना भी करते हैं[2]। किन्तु घटनाओं को प्रायः बचाते हुए वे तत्कालीन जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों को ही ग्रहण करते हैं ।

`रस सिद्धान्त` (१९६४ ई०) तथा `आस्था के चरण` (१९६८)

१- डा० नगेन्द्र - साधना के नये आयाम

सं० डा० कुमार विमल, सं० १९७०, पृ० १९

२- इतिहास और आलोचक दृष्टि - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं०१९८२, पृ० ३०

के प्रकाशन के साथ अनास्था के युग मे आस्था की खोज करते हुए डा० नगेन्द्र एक श्रेण्य आचार्य, व्यक्तित्व चिन्तक तथा समीक्षक रूप में देखे जाते हैं । आरम्भिक समीक्षा कृतियों के भावुक सहृदय, नगेन्द्र यहाँ एक मर्मज्ञ आचार्य और रस-चिन्तक रूप में दिखाई पड़ते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उद्घाटित 'रस-चिन्तन' की परवर्ती परम्परा के छायावाद की रोमानी संवेदना से पुष्ट करते हुए वे वैचारिक दृष्टि से 'भट्ट नायक' तथा अभिनवगुप्त से अधिक प्रभावित लगते है । 'लोकमंगल की साधनावस्था' को डा० नगेन्द्र छायावाद-लोक से जोड़ते हैं । 'रीतिकाल' की रसात्मकता के मूल्यांकन मे आचार्य शुक्ल की नैतिकता बाधक रही है किन्तु डा० नगेन्द्र 'रस की अनुभूति' का पर्याय मानते हुए ईमानदारी से उसकी सैद्धान्तिक विवृति ही नहीं करते 'देव' के साथ उनकी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में न्याय भी करते हैं । 'रीतिकाव्य की भूमिका' का यह संकल्प रस-सिद्धान्त में व्यापकतर होता चला जाता है -- 'इस प्रकार रस एक व्यापक शब्द है, वह विभावानुभाव व्यभिचार संयुक्त स्थायी- अर्थात् परिपाक अवस्था का ही वाचक नहीं है, वरन् उसमें काव्यगत सम्पूर्ण भाव सम्पदा का अन्तर्भाव है । अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भाव सौन्दर्य का पर्याय है शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौन्दर्य का आस्वाद ही वस्तुत रस है ।' . . . सूक्ष्म और प्रबल, सरल और जटिल, क्षणिक और स्थायी संवेदन, स्पर्श चित्तविकार, भाव-बिम्ब संस्कार मनोदशा, शील-सभी रस की परिधि में आ जाते हैं ।'[१] रस को इतना व्यापक तथा महत्वपूर्ण बनाकर उन्होंने इसे मनोमय कोश से जोड़ा है । 'अनुभूति'-- 'मानसिक अनुभूति' -- 'मानवीय अनुभूति को रस का मूल आधार बताकर उन्होंने आचार्य शुक्ल के पथ का अनुवर्तन कुछ दूर तक किया है किन्तु रस परिधि को विस्तार देकर अनन्त सम्भावनाओं से युक्त करने के लिए उन्होंने अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्य-सिद्धान्तों का विश्लेषण और पुनराख्यान-व्याख्यान करते हुए सब काव्य मतों में रस के 'आनन्द', 'ब्रह्मानन्द' तथा 'समाधिस्थिति' का भी अवलोकन किया है ।

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १६६०, पृ० १६८

इसी क्रम में इन्होंने `भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा` का सम्पादन तथा `भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका` का लेखन किया है । `काव्य बिम्ब`, `सौन्दर्यशास्त्र` तथा `काव्यालंकार सूत्राणि` के लेखन एवं भूमिकाओं में भी `रीतिकाव्य की भूमिका` प्रभावी बनी रही । `औचित्य` तथा `वक्रोक्ति` मतों को विशेष महत्व न देकर उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के पांच मतों को दो वर्गों में विभक्त किया है -- (१) रस का विकास, वे रस तथा ध्वनि मे (आत्मवादी) तथा अलंकार `रीति` और `वक्रोक्ति` को (देहवादी) बाह्य सौन्दर्य का ही विकास कहते हैं[1]। `रसमयी सात्विक वृत्ति की उद्दीप्ति और उसका सत्कर्म में पर्यवसान` भावात्मवादी शास्त्रीय चिन्तक का लक्ष्य है[2]। डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने इसे `सर्वेणाविश्रान्ति` की ओर उन्मुख कहा है । `छायावाद` के गीतकार की आचार्य नगेन्द्र से तुलना करने पर यात्रा के सभी विश्राम स्थल स्पष्ट होते हैं । `अनुभूति की सघनता, गीतात्मकता, रागात्मकता तथा चारुता का इच्छुक सहृदय अपनी अनुसन्धाता दृष्टि से समकालीन काव्य और शास्त्र का अवलोकन और परीक्षण करता है किन्तु उसके मन में कुछ रूढ़ियां पहले से ही संस्कार रूप में घर कर चुकी होती हैं । इसीलिए अब वे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का `विद्रोह` नहीं अपितु `आग्रह` के हिमायती हो जाते हैं । वे मनोभूमियों की ऊंची और ऊंची भाव-भूमि तक पहुंच कर समाजशास्त्रीय दृष्टि से कट जाते हैं । `प्रगतिवाद` के साथ वे न्याय नहीं कर सकते हैं तथा `प्रयोगवाद और नयी कविता` के मूल्यांकन मे वे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के समान आग्रही लगते हैं ।

अपने सम-सामयिक युग `प्रगतिवाद` तथा प्रयोगवाद नयी कविता के साथ न्याय न कर पाने में उनकी `साधारणीकरण की चेतना बाधक रही है । युगीन यथार्थ के दबाव तथा जीवन मूल्यों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप `कविता` मे आगत `छायावादोत्तरता` को वे छायावादी दृष्टि से ही देखते रहे हैं । इसीलिए प्रगतिवाद के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि, `प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक

१- रीतिकाव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, स० १९४९, पृ० १३१
(कुन्तक जी के रीति नाम का समर्थन)

२- भारतीय काव्यशास्त्र - नयी व्याख्या -- डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ३७८, स० १९६८

दृष्टिकोण का नाम है । ... 'मार्क्सवाद एक नवीन और काफी स्वस्थ जीवन दर्शन है । साहित्य पर उसके द्वारा नवीन प्रकाश पड़ रहा है परन्तु उसकी उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है, उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन एकांगी होता है ।[1] इसीलिए उन्हें 'प्रगतिवाद' के मूल्यों से आपत्ति है ।[2] उनकी साहित्यिक चेतना राष्ट्रीय एवं समसामयिक जीवन मूल्यों से जुड़ने में असमर्थ रही है । इसका कारण वे स्वयं उद्घाटित करते हैं -- 'मेरी प्रेरणा एक ही रही है साहित्य के मर्म का उद्घाटन या शब्द अर्थ में निहित सौन्दर्य के साक्षात्कार द्वारा आत्मोपलब्धि'[3] जिन विषयों में उनकी रुचि नहीं रही उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। साहित्येतर विषयों में रुचि न होने के कारण वे समसामयिक आन्दोलनों से भी अप्रभावित रहे हैं । उनका मानना है कि जीवन के राग-विराग नहीं बदले है । अत वे उसी 'रस-सिद्धान्त' को अपने समीक्षक से जोड़कर 'आस्था के चरण' तथा 'सौन्दर्य शास्त्र' को व्यापक और समाकलित काव्यमूल्य मानते हैं । उनके मन पर सुमित्रानन्दन 'पन्त' की कविता तथा छायावाद युग की रोमानी संवेदना तथा भावुकता का प्रभाव इतना गम्भीर पड़ा है कि 'नयी कविता' उन्हें मूल्यहीन तथा सतही लगती है । गिरिजा कुमार माथुर के गीतों को अपने गीतों का सगोत्रीय तथा पन्त के बिम्बों के समकक्ष भाव बिम्बों से युक्त देखकर वे अज्ञेय की तुलना में माथुर के प्रशंसक हैं[4]। डा० नामवर सिंह ने 'रस-सिद्धान्त' (रस के प्रतिमान) की 'प्रसंगानुकूलता' तथा 'छायावादोत्तर' हिन्दी कविता के मूल्यांकन की समस्या' के बहाने उनके द्वारा स्थापित मूल्यों की प्रत्यालोचना की है[5]। अज्ञेय, डा० जगदीश गुप्त तथा अन्य प्रयोगवादियों से भी उनका सैद्धान्तिक मतभेद है ।

१- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र, सं० १९६६, पृ० ११०-१११

२- रस-सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, सं० १९८०, पृ० ३३४-३३५

३- आलोचक की आस्था - डा० नगेन्द्र, सं० १९६६(मेरी साहित्यिक मान्यताएं) १

४- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र, सं० १९६६, पृ० १३३

५- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं० १९६८

साहित्य के मर्म का उद्घाटन या 'शब्द अर्थ में निहित सौन्दर्य' के साक्षात्कार को 'रस-ध्वनि' वादी मान्यता के वे इतने निकट जा चुके हैं कि 'बुद्धि' 'कल्पना' और भाव में वे 'भाव' को ही सर्वप्रमुख मानते हैं[1]। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'बुद्धिवाद' को अधूरी जीवन दृष्टि कहा है और डा० नगेन्द्र ने भी प्रयोगवाद और नयी कविता की वैज्ञानिक दृष्टि, भौतिकता तथा बौद्धिकता को काव्य के लिए अस्वीकार किया है। प्रयोगवाद और 'नयी कविता' की सीमा और सम्भावना 'देव' और 'पन्त' से बहुत दूर तक ठीक विपरीत लगती है। छायावाद से रीतिकाल और भारतीय काव्य-शास्त्र के रस-चिन्तन को 'आनन्दवादी' भूमि में पहुंचने वाले आचार्य के लिए कविता का समकालीन परिदृश्य कोरा 'शब्दों का वाग्जाल' तथा 'अति बौद्धिकता' से युक्त लगता है। 'कविता की परिभाषा में सौष्ठव और उदात्तता की गीतों की भावभूमि से ग्रहण करने के कारण ही वे 'नयी कविता' के बहुत बड़े अंश को नकार देते हैं।

'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र' काव्य बिम्ब' 'चेतना के बिम्ब', 'नयी समीक्षा नये सन्दर्भ' में वे नये सन्दर्भ को अपनी सीमा से बाहर मानकर चलते हैं। डा० जगदीश गुप्त इसीलिए 'सिद्ध रस का अन्त' 'रस-सिद्धान्त' में देखते हैं[2]। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता तक गतिमान सुमित्रानन्दन पन्त के कवि की तुलना डा० नगेन्द्र के समीक्षक से की जा सकती है। जिस प्रकार 'पन्त' प्रगति-प्रयोगवादी युग से अरविन्द दर्शन तथा मार्क्सवाद की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए भी अपने अप्सरियों के लोक को नहीं भूल पाते उसी प्रकार डा० नगेन्द्र भी गीतों की रागात्मकता तथा रोमानी संवेदना को रस चिन्तन में सजोए रहते हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के मूल्यांकन में कृति के द्वन्द्व को

१- आस्था के चरण (डा० नगेन्द्र) - 'कविता क्या है'

२- नयी कविता : स्वरूप और समस्यायें -- डा० जगदीश गुप्त

'अद्वन्द्व और समाहिति' - रस में तथा जीवन की विसंगति और विडम्बनाओं को 'राग-विराग' में देखते हुए वे स्वनिर्मित पथ पर अग्रसर हुए हैं। समकालीन कविता के प्रतिमानीकरण की समस्या को उन्होंने नयी कविता से पृथक करके 'कविता-अकविता' से जोड़ दिया है -- "जिस प्रकार मानव स्वभाव के व्यक्त रूपों में देशकाल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसके मूलतत्व (मानत्व) स्थिर रहते हैं, उसी प्रकार कविता के व्यक्त रूपों में परिवर्तन होता रहता है - नये पुराने का भेद भी होता रहता है किन्तु उसके मूल तत्व का रूप स्थिर रहता है। अत कविता के सन्दर्भ में नई पुरानी की जगह अच्छी-बुरी या इससे भी आगे कविता' अकविता' का भेद मुझे अधिक सार्थक प्रतीत होता है।"[१] व्यक्त रूपों में परिवर्तन किन्तु मूल तत्व (मानत्व) की स्थिरता डा० नगेन्द्र की मान्यता है जिसके अनुसार 'नई-पुरानी', 'अच्छी-बुरी', 'कविता- अकविता' के तीन युग्मों में 'रूप' और 'तत्व' को एक मानकर चलने की विवशता परिलक्षित हो जाती है। 'अलंकार-रीति को 'रस' से जोड़ने की आचार्य दृष्टि 'नयी कविता' के देहवादी मान-मूल्यों को तत्व से जोड़ती है जिसके कारण 'नई-पुरानी' का प्रतिमानगत प्रश्न 'कविता-अकविता' में पर्यवसित हो जाता है।

यह अन्तर 'वस्तुनिष्ठता' को 'आत्मोपलब्धि' से जोड़ने के कारण उत्पन्न हुआ है। डा० नगेन्द्र का केन्द्रीय समीक्षक रीतिकाव्य की भूमिका ' से 'रस-सिद्धान्त ' तक तथा 'आस्था के चरण ' में विद्यमान है जो छायावादोत्तर हिन्दी कविता के प्रतिमानों का अन्वेषण 'अनास्था' में आस्था अर्थात् अस्वीकृति में स्वीकृति के उन्मेष के व्यक्तिवादी सिद्धान्त से करता है।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समीक्षा प्रतिमानों के निर्धारण में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र की भूमिका उसी प्रकार है जिस प्रकार छायावाद युग के प्रतिमानों के निर्धारण में आचार्य शुक्ल की रही है। डा० नगेन्द्र के समीक्षा प्रतिमान संक्षेप में निम्नलिखित हैं --

(१) बुद्धि कल्पना और भाव का मिश्रण होने पर भी कविता में भाव की

१- आलोचक की आस्था - डा० नगेन्द्र, स० १९६६, पृ०

प्रधानता अनुभूति-आत्मानुभूति के रूप में रहती है जो कविता की अभिव्यंजना द्वारा परिलक्षित होती है ।

(२) डा० नगेन्द्र के समीक्षा प्रतिमानों का सम्बन्ध छायावादी भावभूमि, रोमानी संवेदना, स्वच्छन्दतावाद तथा अभिव्यंजनावाद में है जिस पर रीति-अलंकार की देहवादी संवेदना तथा रस-ध्वनि की आत्मवादी दृष्टि का प्रभाव है ।

(३) कविता के रागतत्व सौन्दर्य तथा सौष्ठव को 'उदात्त' की भूमि में ले जाकर वे प्रज्ञा के सत्य रूप को हृदय के प्रणय लोचनों के लावण्य तथा लोकसेवा में अविकार शिव के बिम्बों में देखते हैं[1]। 'आगे पायन धरि सके शोभा ही के भार' से युक्त यह समीक्षा नयेपन के भूषणों के भार को नहीं सम्भाल पाती ।

(४) 'शब्द' और 'अर्थ' में निरूपित सौन्दर्य के साक्षात्कार द्वारा 'आत्म-लब्धि' की सौन्दर्याभिरुचि डा० नगेन्द्र की समीक्षा का केन्द्रीय प्रतिमान है जो विशिष्ट पद रचना रीति तथा कला मूल्य से संयुक्त होने के कारण 'इतिहास दृष्टि' तथा जीवन मूल्यों की आन्तरिक प्रवृत्तियों के कुण्ठ मार्दव से पुष्ट होता है ।

(५) 'रीति'- 'शास्त्र' - 'सिद्धान्त' तथा चरण के पथ पर चलते हुए वे क्रमशः विवेचन-अनुभूति और विश्लेषण के माध्यम से इम्प्रेशन, इन्ट्यूशन तथा एक्सप्रेशन (अभिव्यंजना) की ओर अग्रसर होते हैं ।

-०-

१- वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप । हृदय में बनता प्रणय अपार ।
लोचनों में लावण्य अनूप । लोक सेवा में शिव अविकार ।।

- प्रसाद - पुस्तक

प्रतिमानों का उद्भव . वाद एवं आधुनिकता

शास्त्र, दर्शन, एवं चिन्तनधारा का प्रचलित शब्द `वाद ` साहित्य कला एवं कविता, में (वाद) पर्यवसित होकर आया है। कविता कृतिकार की व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति है जो जीवन दृष्टि- दर्शन, युग एवं संस्कृति के दबाव में परिवर्तित हुआ करती है। ` नवता `कविता की अनिवार्यता है जिसके कारण परिवर्तन की प्रक्रिया को `वाद ` के माध्यम से परखा एवं अनुशासित किया जाता है। गद्यात्मक विधाओं के उद्भव के कारण हिन्दी साहित्य का `आधुनिक काल` ` गद्यकाल ` कहा गया तथा भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग के बीत जाने के बाद `छायावाद ` के आगमन के साथ ही कविता में `वास्तविक आधुनिकता ` का आगमन हुआ। आधुनिकता एवं विज्ञान के परस्पर संघात से कविता में यथार्थ का उदय, तर्क की प्रधानता, वाद-प्रतिवाद का संवादी स्वर तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण का आगमन हुआ। छायावाद तथा आधुनिक काल के अन्य परवर्ती चरण-प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद, नयी कविता`वाद` के रूप में विकसित होकर काव्य और शास्त्र की विविध प्रक्रिया के संवाहक बने हैं।

कविता (साहित्य) एवं वाद के मिल जाने से दो स्थितियां होती हैं। पहली स्थिति तो यह कि `कविता के साथ जहां `वाद ` मिल जाता है वह घिर जाता है, बन्धन में फंस जाता है। यह बन्धन राजनीति का हो सकता है, समाज नीति का हो सकता है और धर्मनीति का भी।`[1] दूसरी स्थिति में वाद एवं शास्त्र के अनुशासन से कविता के प्रतिमान निर्धारित होते हैं तथा उनकी एक परम्परा जातीय संस्कृति के रूप में विकसित होकर परवर्ती चेतना में प्रेरणा का कार्य करती है। यह कविता की मार्मिक व्यंजना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव ध्वनि, शब्द, पद एवं अर्थ को समेकित करता हुआ उसकी अस्मिता का संवाहक बनता है। संस्कृत- पालि प्राकृत- अपभ्रंश के बाद हिन्दी खड़ीबोली, ब्रज, अवधी तथा जन-भाषा एवं संस्कृति का कविता के

१- साहित्य कला और पुरस्कार : विनय मोहन शर्मा, संस्करण १९७०, पृ०-८

माध्यम रूप में आना तथा विलीन होना बराबर चल रहा है।

कृति के मूल्यांकन के लिए समीक्षकों द्वारा अपनाये गये ये वादयुक्त नाम- छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद, नयी कविता (वाद) काव्य और शास्त्र की सम्बद्धता के परिचायक हैं। जिस प्रकार काव्य में शास्त्र जुड़कर `काव्य-शास्त्र` बनता है उसी प्रकार काव्य के स्थान पर छाया, प्रगति, प्रयोग, नकेन आदि काव्य प्रवृत्तियों के नाम विशेषण, तथा `वाद` सब नामों में समान रूप से संश्लिष्ट होकर उसके शास्त्र की ध्वनि प्रकट करते हैं। इससे पहले रहस्यवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद सदृश शब्द साहित्य में, समाजवाद, दादावाद, साम्यवाद आदि राजनीति में तथा दर्शन में द्वैतवाद, अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि प्रचलित रहे हैं जिनका प्रयोग खण्डन मण्डन एवं वैचारिक दृष्टिकोण के लिए होता आया है। किन्तु हिन्दी कविता में `वाद` समीक्षा प्रतिमानों के निर्धारक तथा आलोचना विधा को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने के निमित्त आये हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि साहित्यशास्त्र में इससे पूर्व `वाद` प्रतिवाद या `मार्ग` `मान` `मत` आदि नहीं थे। रस, अलंकार, गुण ध्वनि वक्रोक्ति, रीति तथा औचित्य सम्प्रदायों का प्रचलन भारतीय काव्य-शास्त्र में `वाद` अथवा प्रतिमान रूप में ही हुआ था जो आज तक वैचारिक टकराव पूर्व एवं पश्चिम के साहित्यशास्त्र में चलता आ रहा है, किन्तु जैसी विषम स्थिति आधुनिक हिन्दी कविता में वादों को लेकर उत्पन्न हुई है वैसी कहीं नहीं है- कहीं नहीं थी।

" आज का हिन्दी साहित्यकार वादों की होड़ में बुरी तरह व्यस्त है। साहित्य सम्प्रदाय से पुष्ट नहीं होता, उसके पुष्ट होने के बाद लोग उस पर सम्प्रदाय का आरोप करते हैं[1] किन्तु ऐसा भी होता है कि सम्प्रदाय- गुट या राजनीतिक मठ बन जाने के बाद अनुयायियों के लिए अनुकरण के माध्यम बनते हैं। " समीक्षा और कविता एक दूसरे की पूरक अन्योन्याश्रित तथा कभी एक दूसरे को काटती छांटती बेर प्रभावित करती हुई चलने वाली विधायें हैं। एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित

१- साहित्य नया पुराना : विनयमोहन शर्मा, सं०-१९७२, पृ०-९

आधुनिक आलोचना सर्जनात्मकेतर मान-प्रतिमान, मूल्य तथा सन्दर्भ ग्रहण करती है। कृति की आलोचना में सम्यक आस्वादन, ग्रहण तथा मूल्यांकन के लिए आलोचक द्वारा सर्जना में प्रवेश कर उसकी व्याख्या श्रेय एवं अभीष्ट है, किन्तु कृतित्व को नकारना अथवा उसमें अनुकरण या " नकल " की आग्रहपूर्वक स्थापना करना आलोचक की विडम्बना है। " वाद " साहित्य, कला और दर्शन की तरह समीक्षा में आकर विचारधारा का निर्माण करता तथा कृति में सम्भावनाओं की खोज करता है। इस प्रकार यह "वाद " कृति और आलोचना का योजक- संयोजक है। (यद्यपि इन स्थितियों के अपवाद " भी होते हैं)। आधुनिक काल की समसामयिक परिस्थितियों के प्रभाव से आगत "वाद " क्रमशः छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नवीन एवं नयी कविता केवल काव्य-प्रवृत्ति ही नहीं अपितु काव्यानुशासन,- दृष्टि,- दर्शन एवं सौन्दर्य की पहचान का रूप लिये हैं। उदाहरण के लिए "छायावाद " पण्डित मुकुटधर पाण्डेय एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में वैचारिक मतभेद तथा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के लिए अनुभूति, कल्पना, स्वच्छन्दता एवं आध्यात्मिक शक्ति का वाहक होने के साथ ही एक " काल खण्ड " में पुष्पित कविता का प्रतिमान भी है।

"वाद "एवं आधुनिकता :

आधुनिक हिन्दी कविता के कालखण्डों में आगत "वाद " "आधुनिकता" की देन है तथा " आधुनिकता " एक दर्शन है जिसका विकास इतिहासबोध के स्तर पर जीवन पद्धति के रूप में होता है। अंग्रेजी का शब्द Modern है अर्थात् Modernity कालक्रम के अनुसार समसामयिक, समकालीन, नया- नयी आदि अर्थ में स्वीकार की जाती है। स्टीफेन स्पेण्डर ने लिखा है कि- " आज बीसवीं शताब्दी के लेखकों में कुछ तो समकालीन है और कुछ Modern - नये। स्पेण्डर ने समकालीन के उदाहरण बताते हुए आगे लिखा है कि " ये आधुनिक संसार के होते हैं जिसे वे अपनी कृतियों में अभिव्यक्त करते तथा ऐतिहासिक शक्तियों को स्वीकार करते हैं; जो आधुनिक युग के मूल्यबोध के विकास से गुजरते हैं। ये लेखक आधुनिक परिवेश के सामाजिक मतवादबोध से बराबर सम्बन्ध रखते हैं।[1] स्पेण्डर ने आधुनिक संसार, ऐतिहासिक

१- द स्ट्रगल आफ दि माडर्न : स्टीफेन स्पेण्डर, पृ०-७७

ऊर्जा तथा युग के मूल्यबोध पर विशेष बल दिया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी परिवेश की आधुनिकता के सम्बन्ध में कहा है कि "आधुनिक चेतना के सम्बन्ध में कोई एक प्रतिमान स्थिर नहीं किया जा सकता। प्रत्येक देश का आधुनिक भाव-बोध उसके सामाजिक परिवेश और लक्ष्य तथा उद्देश्य के आधार पर बनाया जाता है।[1] डा० जगदीश गुप्त ने आधुनिकता को "विवेकपूर्ण दृष्टि" से उत्पन्न कहा है। इसमें "वास्तविक-युगबोध" "अधिक दायित्वशील", "सक्रिय" आदि शब्द "नयेपन" के सन्दर्भ में आधुनिकता अर्थ के परिचायक है।"[2] सामाजिक परिवेश, लक्ष्य तथा उद्देश्य के अनुरूप विकसित आधुनिकता में एतद्देशीयता तथा इतिहासबोध के रूप में संस्कृतिबोध की छाप रहती है जो कि छायावादोत्तर कविता के प्रतिमानों में से एक है। जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकृत आधुनिकता साहित्य या कला मे एक प्रतिमान के रूप में विकसित होती है। साहित्य इतिहास की गति में परिवर्तन के अनुरूप गतिमान होता है और उसके अनुरूप उसके प्रतिमान आधुनिकता में भी परिवर्तन हुआ करता है। युग की मांग के अनुरूप सामाजिक परिस्थितियों के दबाव में उत्पन्न "आधुनिकता बोध" कृति में चिन्तनधारा- दृष्टि- दर्शन- जीवन दर्शन एवं कला दर्शन बनकर संस्कृति का अंग बनता है। व्यक्तिगत स्तर पर स्वीकृत "आधुनिकता" युग-जीवन से जुड़कर क्रान्ति और आन्दोलन का रूप भी ले लेती है। हिन्दी कविता- विशेष कर आधुनिक हिन्दी कविता में आगत "आधुनिकता" की जो व्याख्या समय- समय पर की गई उससे यह और भी स्पष्ट हो जायेगा। हिन्दी कविता के प्रथम चरण- भारतेन्दु युग में आधुनिकता अधिकतर गद्य रूपों में पत्रकारिता और उसके माध्यम से व्यापक सामाजिक, राजनीतिक प्रश्नों को लेकर विकसित हुई थी।[3] दासता, अशिक्षा, बेरोजगारी के विरुद्ध भारतवासियों की अभिव्यक्ति जो हो सकती है की चिन्ता आधुनिकता का रूप है जो कविता में "सब धन विदेश चलि जात" के

1- नई कविता : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, (सं० डा० शिवकुमार मिश्र) पृ०-४२

2- नयी कविता- स्वरूप और समस्यायें ' डा० जगदीश गुप्त, सं०-[illegible], पृ०-[illegible]

3- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,
संस्करण- [illegible], पृ०- [illegible]

कारण भारत-दुर्दशा और " अंधेर नगरी " में विकसित हुआ है। अन्यान्य देशों की सामाजिक शैक्षिक एवं आर्थिक जानकारियों द्वारा देशवासियों को आधुनिक माडर्न-(अप टू डेट) बनाने की प्रेरणा इस युग में अन्वित हुई।[1] तत्कालीन प्रगतिशीलता, पुरातनता का त्याग, घर के बालकों को स्कूल भेजना तथा समय नष्ट न कर अपनी चिन्ता स्वयं करना ऐसे सूत्र हैं जो भारतेन्दु ने अपने समय के निबन्ध, नाटक, तथा कविताओं में अपनाये हैं। द्विवेदी युग में " आधुनिकता " में अनुस्यूत संस्कृति एवं राष्ट्रीयता ने परिवेशगत परिवर्तन के अनुरूप नवजागरण का रूप लिया।[2] आधुनिकता की तरह "राष्ट्रीयता " भी एक व्यापक दार्शनिक शब्द है जिसमें राष्ट्र-प्रेम, मातृ-भूमि के प्रति समर्पण, जातीय गौरव तथा राष्ट्र के नागरिकों के प्रति अपनत्व की भावना अन्वित होती है। "जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है," वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है।"[3] के साथ- साथ " कौन थे क्या हो गये हैं[4] की चिन्ता तथा " एक नहीं दो-दो मात्राएं नर से बढ़ कर नारी "[5] सदृश प्रेरक स्वर आधुनिकता के रूप हैं। इसी काल में आधुनिकता का स्वर भी यह सुनाई पड़ा- "रहो आस्मोन्नत से ऊंची पलकें ऊंची सिर ऊंचा मन "।[6]

छायावाद युग में भारतीय जन-मानस की चिन्ताधारा से जुड़कर आधुनिकता का अर्थ स्वतंत्रता- स्वच्छन्दता पुनर्जागरण एवं " जागो फिर एक बार" (निराला) में मुखरित हुआ। "सब भी काल भाल जल बढ़ बढ़ कर खड़ा " की मार्मिक संवेदना में अन्वित शक्तिमत्ता बोध, विद्रोहीभावना एवं क्रान्ति का स्वर निराला में आधुनिकता या आधुनिकता में " निराला " है। समस्या रूप में रख

1- भारतेन्दु ग्रंथावली में संकलित भारत दुर्दशा "नाटक ", सम्पा०-ब्रजरत्नदास
2- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण . डा० रामविलास शर्मा
3- भारत भारती (अतीत) खण्ड मैथिलीशरण गुप्त
4- वही
5- वही
6- पथिक : रामनरेश त्रिपाठी,

गया राम रावण का अपराजेय समर तथा समाधान रूप में बस एक बार तू और नाच फिर श्यामा " के स्वर में अतिरिक्त " समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था "पंक्तियों में " प्रथम रश्मि का आना " देखा गया। आधुनिकता के परिणामस्वरूप " देव " रूप में उत्पन्न " राम " की परिकल्पना समस्या से आक्रान्त एवं शक्ति के वरण में सन्नद्ध देखी गई। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आधुनिक एक स्थिति जन्य मानक है तथा आधुनिकता गतिमान होती चिन्तनधारा जो देश काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप कविता के प्रतिमान रूप में अग्रसर रही है। "आधुनिकता " के रूप में आगत वाद- (छायावाद) युग में सर्जना तथा आलोचना का सीधा टकराव देखा जा सकता है जिसे कि "आधुनिकता " का वास्तविक रूप कहा जा चुका है। छायावादी कविता की रोमांटिक भावभूमि कल्पना- प्रवणता, भावुकता तथा अप्सरियों के लोक की रंगीन छटाओं को आचार्य शुक्ल ने "किशोर मन " की कल्पना कहा। " विदेशी-कलम " तथा " मधुरस-मधुकोष " की क्षणिक अनुभूति तुल्य अल्पजीवी "कल्पना " को आचार्य शुक्ल ने बंगाली की फैन्टसमाटा शैली का अनुकरण, तथा "बिम्ब " एवं " प्रतीक " की बादलेयर एवं मेलार्मे की शैली का प्रभाव कहा।[1] "छायावाद " की " छाया " को भी "बंगला " से उद्भूत कहकर आलोचना (समालोचना) में एक ऐसी वाग्वादिता की परम्परा चलायी गयी। प्रगतिवाद- प्रयोगवाद नयी कविता में "कृति " और " समीक्षा " का यह टकराव तनाव रूप में बना ही रहा और शनैः शनैः वह भी एक "प्रतिमान " विसंगति एवं " विडम्बना " के रूप में छायावादोत्तर काल में प्रतिष्ठित कर दिया गया। छायावाद की परिवेशगत आधुनिकता को विदेशी नकल कहकर उसकी अस्मिता तक को नकारने की समालोचक की इस प्रवृत्ति[2] ने सर्जक और आलोचक दोनों को " वादी " विसंवादी बना दिया है।

भारतेन्दु युग से लेकर छायावाद युग तक आयी हुई वाग्गत आधुनिकता तथा प्रतिमान की इस संरचना की पहचान करना बिना काल सीमा निर्धारित

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल(भा०३- छायावाद)

२- वही,

करना कठिन है क्योंकि वह काल सापेक्ष और कालजयी भी है। जब भी काव्यधारा परम्परा या शिल्प से हटना चाहती है तो वह आधुनिक होने लगती है। वह परम्परा से पोषित और वर्तमान युग की प्रवृत्तियों से वेष्टित प्रवृत्ति है। वह विकासशील भाव है जो काव्य को अजर अमर बनाये रखता है। वह काल सापेक्ष इसलिये है कि उसमें प्रत्येक युग की नूतन चेतना निहित रहती है।[1]

छायावाद युग में आगत आधुनिकता द्विवेदी युग से विभिन्न सन्दर्भों में भिन्न रही। द्विवेदी युग तथा भारतेन्दु युग में राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा जातीय उत्थान की चेतना प्रमुख थी किन्तु इतिवृत्तात्मकता, प्रबन्धात्मकता, विशुद्ध रीतिपरक रचनात्मकता के विरुद्ध सूक्ष्म कल्पना, अनुभूति की सघन लयात्मकता तथा स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग छायावादी कविता में देखा गया। परम्परा एवं वैयक्तिक प्रतिभा के उदय के रूप में 'प्रसाद' और मैथिलीशरण गुप्त की कविता की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा रेखांकित की जाने वाली नारी जागरण की भावना उल्लेखनीय है। गुप्त जी की उर्मिला "प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ रहूँ निकट भी दूर" के सिद्धान्त से अनुशासित है किन्तु प्रसाद की श्रद्धा प्रथमतः मनु की दैवमुक्त प्रेरणा- "स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति" है जो आगे मार्गदर्शिका तथा उपदेशिका बनकर "बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी वह बेलि" का सुन्दर उच्चारण करती है। आधुनिकता की परम्परा रूप में नारी का समर्पण, प्रिय का कल्याण, आनन्द की कामना, आंतरिक और बाह्य सौन्दर्य उर्मिला और श्रद्धा में समान रूप से विद्यमान है। 'छायावाद' युग की यह मूलवत्ता द्विवेदी युग की परम्परा होकर प्रखर हुई है जो प्रगति एवं प्रयोगवादी कविता में "वह तोड़ती पत्थर", "द्वितीया के प्रति," "ग्राम युवती" तथा "रानी और कानी" परिकल्पनाओं में साकार हुई है। डा० इन्द्रनाथ मदान तथा डा० रामविलास शर्मा, 'निराला' की परवर्ती कृतियों को आधुनिकता का प्रस्थानबिन्दु मानते हैं।

१- साहित्य- नया और पुराना, डा० विनयमोहन शर्मा, (नयी कविता भाग) संस्करण- १९७२, पृ०- ३६

छायावादोत्तर काल में आकर आधुनिकता में क्रान्ति का एक तेवर मिल गया। " उत्तर छायावाद " एक ऐसा नाम है जिसका एक स्वर मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी तथा नवीन की कृतियों में देखा गया है तो दूसरी ओर- छायावादयुग के उत्तरार्द्ध में ही उसी रोमान्टिक भावावेग तथा आदर्शवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप यथार्थबोध भी जन्म लेने लगा था। परम्परा से जुड़ने वाले डा० नगेन्द्र कहते हैं कि जीवन के मूल्य चिरन्तन ही मानने पड़ेंगे क्योंकि जीवन चिरन्तन है, जीवन की मौलिक वृत्तियां चिरन्तन हैं- कम - से- कम मानव सृष्टि आरम्भ से अब तक चिरन्तन ही चली आई है।[१] यदि डा० नगेन्द्र की इस चिरन्तनता के आधार पर एक सीधे रास्ते से चलकर परम्परा का मूल्यांकन करना होता तो वर्तुलाकार गति, चक्कर, मोड़ एवं आवर्त कैसे देखे जाते। धारा के प्रवाह में भी " सातत्य एवं परम्परा " के अतिरिक्त आसपास की जमीन का प्रभाव तथा मोड़ दिखाई पड़ते हैं। छायावादोत्तर काल की आधुनिकता में तीन प्रमुख स्वर " प्रगतिवाद ", "प्रयोगवाद" और नयी कविता में सुनाई पड़े। इस धारा वाही जग का क्रम शाश्वत है गति शाश्वत संगम "[२] के कवि ने "द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र "[३] कहकर " युगान्त " की घोषणा १९३६ ई० में की थी। " प्रगतिवाद " वादे छायावाद की भस्म से उद्भूत हुआ तो अपना अपना पता पोंछकर, किन्तु इस युग में "आधुनिकता " का अर्थ-प्रगतिशीलता, यथार्थबोध, जीवन संघर्षों में " तटस्थता " एवं "सापेक्ष दृष्टि " किया जाने लगा। अब " दूर क्षितिज से पार तारों का हार नहीं "[४] अपितु "जन पर नव स्वर वाली वीणा वादिनि ने ऐसा वर दिया है कि "[५] "दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता "; " वह तोड़ती पत्थर "; " कुकुरमुत्ता "

१- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां :डा० नगेन्द्र, सं०-१९५६,पृ०१६

२- नौका विहार : पन्त

३- युगान्त : सुमित्रानन्दन पन्त

४- प्रगतिवाद (पर डा० नगेन्द्र की टिप्पणी) आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ०- १२२

५- दूर क्षितिज से पार बनाऊं महादेवी

कहा है।

आधुनिक काल की इस विवादित भूमि पर पहुँचते ही एक ऐसी स्थिति भी आती है जब छायावादी स्वर पुराना, परम्परित तथा लकीर की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि से मुक्त होकर 'रुग्ण' मानसिकता ग्रहण करने लगता है। आधुनिक युग की कविता को प्रतिमानीकरण की दृष्टि से दो मुख्य उपखण्डों में विभक्त किया जा सकता है-

१- छायावाद युग तक की आधुनिक कविता (१९००-१९३६)

२- छायावादोत्तर युग की हिन्दी नयी कविता (१९३६-१९८०)

उपर्युक्त कालखण्डों में भी डा० मोहन अवस्थी ने काल विभाजन का नवीन आधार 'संघर्ष' एवं 'विद्रोह' बताया है। स्वतंत्रता से पूर्व की आधुनिकता संघर्ष विद्रोह एवं क्रान्ति की पक्षधर रही है तथा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में नग्नता, नये जीवन मूल्य तथा छायावादी 'संस्कारों से मुक्ति है। आधुनिक युग की कविता की सर्वाधिक विवादित भूमि छायावादोत्तर काल की कविता है जिसके मूल्यांकन के लिए स्वदेश और विदेश के अनेक प्रतिमान खोजे जाते रहे हैं। अभिव्यंजनावाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद, क्षणवाद, अनुवाद, अतियथार्थवाद, दादावाद, रूप और कलावाद साहित्य का समाजशास्त्र आदि अनेक 'वाद' एवं अंतवादी स्वर छायावादोत्तर काल की आलोचना में देखे जाते हैं।

छायावाद एवं छायावादोत्तर काल के विभाजन के औचित्य का अन्य कारण द्वितीय महासमर के पूर्व एवं बाद की परिस्थितियाँ हैं जिनका क्रमिक विकास युद्ध के बाद भी शीत-युद्ध के रूप में विश्व में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। छायावादी कविता की सूक्ष्म अतीन्द्रिय चेतना, मांसल सौन्दर्य दृष्टि, कल्पना एवं भावुकता की अतिशयता, बिम्ब एवं भावचित्रों की अभिव्यंजना के स्थान पर "छायावादोत्तर कविता में लघु का आग्रह, असुन्दर लगते सुन्दर की अवमानी नई दृष्टि, बिम्बों की अस्पष्टता, व्यापकता का अभाव तथा यथार्थ एवं अतियथार्थ की बहुलता देखी जाती है।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता और उसका प्रतिमानीकरण

छायावादोत्तर हिन्दी कविता रूप और शिल्प, प्रगतिशीलता, नवीन प्रयोग, व्यापक जीवन-दृष्टि तथा सृजन एवं संघर्ष के लिए उल्लेखनीय है। ईसा की बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक न केवल हिन्दी प्रदेश अपितु सम्पूर्ण विश्व में परिवर्तन एवं क्रान्ति की लहरें देखी जा रही थीं। हिन्दी कविता में छायावादोत्तर काल की पहचान के लिए जिन प्रतिमानों का विशेष प्रयोग किया जाता है उनमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ का उदय तथा सामाजिक यथार्थ से वैचारिक यथार्थ रूप में पर्यवसान, छायावादी संस्कार से मुक्ति, ज्ञान-विज्ञान तर्कशास्त्र दर्शन एवं राजनीति के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण नवता का उदय, शिल्पगत आन्दोलन के रूप में " मैले उपमान " तथा " घिसने से मुलम्मा छूट " जाने के कारण नये अर्थ वाले नये- पुराने शब्दों के प्रयोग, लय- तुक- छन्द आदि से रहित काव्य, देशज भाषा और बोली के प्रयोग, प्रयोग को साधन अथवा साध्य मानकर शब्दों के माध्यम से तथ्य- जीवन सत्य का अन्वेषण प्रमुख है। आलोच्य काल में एक साथ विविध रूप, आकार, कलात्मक सौन्दर्य- सौन्दर्यरहित भी, रचनायें कृतियाँ संकलनों एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आईं तथा बदलते जीवन-मूल्य के अनुरूप कृतिकारों द्वारा व्याख्यायित भी की गईं। अब लेख, पुरोवाक् तथा पुस्तक परिचय के माध्यम से नयी प्रवृत्तियों को साहित्यिक जगत में प्रस्तुत किया जाने लगा है। नये युग की "नवता" की पहचान के लिये जिन मुहावरों के प्रयोग किये गये उनमें सबसे अधिक प्रहार छायावाद तथा छायावादी प्रवृत्ति पर हुआ किन्तु किसी न किसी रूप में इस प्रवृत्ति से नयी कविता का समझौता हो गया था जो आगे तक " छायावादोत्तर काल की छायावादी कविता के रूप में देखा जाता है। (— नयी कविता और अस्तित्ववाद, डा० रामविलास शर्मा)

प्रतिमानों की दृष्टि से टकराव एवं संघर्ष के साथ-साथ सर्जना की व्यापक सम्भावनाओं के रूप में यदि समीक्षक द्वारा समर्थन में यह कहा गया कि छन्द, लय, तुक का सहारा त्यागने के साथ-साथ भावावेग तथा गैर रोमानियत

प्रवृत्ति से युक्त कविता- कविता होती चली गई है।[1] तो इसी के साथ विरोध में यह भी कहा गया कि छायावादोत्तर काल की उत्कृष्ट सर्जना का श्रेय छायावादी संस्कारों को दिया जा सकता है। शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं कि- " छायावाद की धारा ने हिन्दी साहित्य को जितना धक्का पहुंचाया है उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने राष्ट्रीय एकता को पहुंचाया हो। यह चेतना छठें दशक के बीतने तथा सातवें दशक के आरम्भ में "परिमल" नयी कविता पत्रिका के प्रकाशन, तारसप्तक के बीस वर्ष बाद पुनर्मुद्रण तथा तीसरे सप्तक के प्रकाशन काल में आई थी। अब तक नयी कविता के आठ अंक निकल चुके थे और " अकविता " या " किसिम किसिम की कविता की रचना "नयी कविता" पत्रिका के सम्पादक को हो चुकी थी।[2]

प्रतिमानीकरण एवं पुनर्मूल्यांकन का क्रम छठें सातवें दशक में चलने पर भी पूर्ववर्ती कृतियों पर ध्यान देना आवश्यक है जहां " रानी से भी अधिक मुझे अब यह समाधि है प्यारी- यहां निहित है स्वतंत्रता के आशा की चिनगारी।[4] तो दूसरी ओर वनकवि दूर्वांचल श्याम शिला फिरने का करो न इशारा मुझे"[5] सन् १९३० ई० से १९६९-७० तक का यह समय " प्रतिमान "- मूल्यांकन एवं पुनर्मूल्यांकन की दिशा में जितना ही बाधक है उतना ही मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों- ज्यों दवा बढ़ती गई, की स्थिति का सूचक है।

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (१९३६ ई) के बाद " किसी भी राजनीतिक दल से साहित्य को न जोड़ने की प्रतिज्ञा" को तोड़कर मार्क्सवादी दर्शन एवं राजनीति से प्रतिबद्ध "प्रगतिशील" रचनाकारों में दो गुट (दक्षिण पंथी- और वामपंथी)

१- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं०१९७२, पृ ९

२- छायावादोत्तर हिन्दी कविता ' मूल्यांकन की समस्या- साप्ताहिक हिन्दुस्तान (१० मार्च ६८)

३- किसिम किसिम की कविता (नयी कविता- अंक ८) डा० जगदीश गुप्त

४- सुभद्राकुमारी चौहान : झांसी की रानी

५- दिनकर (बालिका सूक्त)

जन्म लेने लगी। दूसरी ओर साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव तथा लाल सेना की भारतीय प्रशंसा से घबड़ाकर "कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम" का आयोजन इतिहास की आवृत्ति है। जिस प्रकार यौरूप में "एक ओर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में युवा रचनाकारों द्वारा पुरानी लीक त्यागने का संकल्प लिया जा रहा था तो दूसरी ओर "रूप और कलावाद" का प्रभाव जोर पकड़ रहा था।[1] इसी प्रकार छायावाद युग के अन्त की घोषणा करके सुमित्रानन्दन पन्त ने जितनी शीघ्रता से प्रगतिशीलता का साहसपूर्ण कदम उठाया उतनी आशा किसी को नहीं थी। इस बदलाव का कारण पन्त जी ने श्री पूरनचन्द्र जोशी से अपना सम्पर्क बताया है जो उनके विद्यार्थी जीवन में हिन्दू छात्रावास- इलाहाबाद में रह रहे थे।[2] "युगान्त" के बाद युगपथ, ग्राम्या, युगवाणी में कंकालों के रुद्रनृत्य को चित्रित करने वाले अप्सरालोक के प्रकृति के सुकुमार कवि "मृदूनि कुसुमादपि" सदृश कौशानी-अल्मोड़ा के संस्कारों को अर्थशास्त्र के एक विद्यार्थी के प्रभाव से त्याग दें यह आश्चर्यजनक सत्य है। इसमें कुछ अन्य कारण भी देखे जाते हैं।

निराला, पन्त, महादेवी तथा दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा की कविता में रोमान्टिक भावावेग तथा गीतात्मक भावभूमि के बाद "क्रान्ति" परिवर्तन तथा "युगान्त की जो परिणति "रूपाभ" के प्रकाशन रूप में देखी गई उसकी प्रेरणा उस काल की घटनाओं से मिली है। डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है-कि—१९३० के आसपास कांग्रेस में (त्रिपुरी अधिवेशन तथा पट्टाभि सीतारामैया की हार प्रमाणित करती है कि नवयुवकों का एक विद्रोही दल अलग हो रहा था और "समाजवादी कांग्रेस" का जन्म इसी गांधी के विरोध का परिणाम था।[3] "साहित्य के मूल्य स्थायी; निरपेक्ष नहीं है, देशकाल से परे नहीं, देशकाल की सीमा में निरन्तर विकास करती हुई मानवजाति की संचित सांस्कृतिक निधि के रूप में हैं।"[4] गजानन माधव मुक्तिबोध, डा० नामवर सिंह आदि समीक्षकों ने डा० शर्मा के इस कथन से सहमति व्यक्त

१- (क) नयी समीक्षा नये संदर्भ: डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र की टिप्पणी
(ख) डा० रामविलास शर्मा की टिप्पणी → आलोचना, सम्पादकों पर
२- चिदम्बरा की भूमिका: सुमित्रानन्दन पंत
३- प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल की (भूमिका)

की है कि " गांधीवादी राजनीति को सप्रश्न दृष्टि से देखा जाने लगा था और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी थी । वामपंथी विचारधारा " रूस " के जरिये हिन्दी साहित्य में फैल रही थी और साहित्यिक मूल्यों के पुनर्निर्धारण के कुछ प्रश्न साहित्यिकों के मन में घुमड़ रहे थे ।[1] "प्रगति-प्रयोग- नयी कवितावाद " के प्रतिमान से युक्त कविता तथा कविता से उद्भूत प्रतिमानों का प्रचलन जनभाषा का उपबोली, बोली तथा भाषा के रूप में प्रसार है । बोली-साहित्यिक भाषा बनते ही पुन. बोली नहीं बन सकती । भले ही वैदिक भाषा की तरह केवल शास्त्र रूप में उद्धृत हो । छायावादोत्तर काल की प्रतिमानगत सम्भावनाओं के अनुरूप सम्पूर्ण विवेच्य कविता को " नयी कविता " कहा जाता रहा है । इसीलिए डा० नामवर सिंह, अज्ञेय, मुक्तिबोध तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी इसमें प्रगतिवादी कविता को भी सम्मिलित मानते हैं । परवर्ती काव्य की सम्भावनाओं की दृष्टि से " छायावादोत्तरता " तथा " छायावादी संस्कार से मुक्ति " कथन एवं स्थापनाओं के प्रकाश में कविता के प्रतिमान के संवाहक हैं ।[2] इतनी लम्बी परम्परा के उपरान्त यद्यपि "छायावादी " प्रवृत्ति को परिभाषित करने का कोई औचित्य नहीं है किन्तु जिस "स्वच्छन्दता " को "छायावादी- संस्कार " कहा जाता है वह " रोमांटिसिज़्म " के अनुवाद के माध्यम से आयी है । डा० नामवर सिंह ने छायावाद तथा छायावादी संस्कार रूप में डा० "नगेन्द्र " की स्थापनाओं का प्रत्याख्यान किया है । (कविता के नये प्रतिमान) डा० सिंह की प्रेरणा का स्रोत मुक्तिबोध की स्थापना है ।[3]

" स्वच्छन्दता " - शब्द में " वाद " जोड़कर छायावाद युग के प्रतिमान रूप में इसकी पहचान कराने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं जिन्होंने मैथिलीशरण गुप्त

१- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : गजानन माधव मुक्तिबोध, सं०-१९७१, पृ०-२२

२- छायावाद व्यक्तिवादी पतनोन्मुखी व्यवस्था का परिचायक ही है । ∗ ∗ ∗ वह दार्शनिक वृत्ति वस्तुतः कुण्ठग्रस्त मन की भाषा के अतिरिक्त कुछ नहीं थी ।" दूसरा सप्तक : हरिनारायण व्यास, पृ०-५०, प्रथम संस्करण

३- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : मुक्तिबोध
नयी कविता का आत्मसंघर्ष : वही.

रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त आदि की कविताओं में इस प्रवृत्ति को रेखांकित किया था। इसका दूसरा किन्तु व्यापक रूप आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की " अनुभूति " की व्याख्या में देखा जाता है। प्रसाद की कविता में "छायावाद को प्रतिमान " रूप में स्वीकृति वाजपेयी जी की स्वच्छन्दतावादी रस-दृष्टि से मिली। डा० शम्भुनाथ सिंह आधुनिक कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का उद्भव " स्वच्छन्दता " के माध्यम से देखते हैं।[1] छायावाद युग के दो प्रमुख रचनाकार पन्त और निराला तथा अन्य छायावादी रचनाकार भगवती चरण वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय बच्चन, पं० नरेन्द्र शर्मा को उसी कोटि में रखा जा सकता है। इसे भी हम दो उपखण्डों में विभक्त करना उपयुक्त समझते हैं-(क) छायावादोत्तर काल के छायावादी रचनाकारों की कृतियाँ पन्त की ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, लोकायतन, महादेवी की दीपशिखा निराला की गीतिका-२ आदि हैं।

(ख) दूसरी कोटि में वे कविताएं आती हैं जो छायावादोत्तर काल के रचनाकारों ने लिखी हैं। गिरिजाकुमार माथुर की अभिजात्य दृष्टि की नव भावाभिव्यंजना की कवितायें, धर्मवीर भारती की रोमानियत, मुक्तकाव्य, दुष्यन्त कुमार के शृंगारिक गीत तथा " अंधक "; " सुमन " एवं दिनकर की कुछ कविताओं में " राग विराग नहीं बदले हैं " का प्रमाण मिलता है। इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने यह स्वीकार किया "पुराने संस्कार छूटते नहीं हैं पर हैं वे संस्कार अपने ही"[2] प्रसिद्ध समीक्षक टी० एस० इलियट के काव्य में रोमांस तथा प्रकृति,- मानव स्वभाव के आगमन का कारण वर्ड्सवर्थ, शेली आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रभाव है। "परम्परा और प्रयोग तथा"ट्रेडिशन एण्ड इण्डिविजुअल टैलेंट"[3] जैसे निबन्धों में इलियट ने परम्परा प्रयोग को उचित कहा है। "प्रयोगवाद " तथा " नयी कविता " के

१- प्रयोगवाद और नयी कविता डा० शंभुनाथ सिंह(समकालीन)(भूमिका)पृ०-१
२- तार सप्तक (भूमिका) मुक्तिबोध (संस्करण
३- दि सैक्रेड वुड : टी० एस० इलियट

पदाधर समीक्षक लक्ष्मीकान्त वर्मा "इतिहास का यह सारा अंश रचनात्मक स्तर पर उस अंडे के छिलके की तरह " मानते हैं जिसमें जीवन्त कुछ नहीं ।[1] एक रचनाकार उसे अपरिहार्य कहता हो और दूसरा उसे 'जीवन्तताविहीन अण्डे का छिलका ' कह कर नकारता हो तो भी यह अब प्रमाणित हो चुका है कि छायावादोत्तर कविता में छायावादी संस्कार से युक्त स्वच्छन्दता किसी न किसी रूप में विद्यमान है । दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है परम्परा के रूप में 'छायावादी संस्कार ' तथा 'उससे मुक्ति ' के इस आन्दोलन में समीक्षक युग के रचनाकार कितने सफल रहे हैं ? टी० एस० इलियट अपनी कविताओं पर वर्ड्सवर्थ के प्रभाव को ईमानदारी से स्वीकार करता है जबकि नयी कविता के रचनाकार 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी ' का फतवा तो देते हैं किन्तु छायावादी संस्कारों को स्वीकार करना जैसे उनकी अप्रतिष्ठा का प्रश्न हो । इस दृष्टि से नये- से- नये प्रतिमान के लिए सबसे बड़ी चुनौती छायावादी संस्कार हैं ।[2] इन संस्कारों के बारे "पुराने प्रतिमान " कहकर विचार करना हो चाहे उनके प्रति खीझकर यह कह दिया जाय कि " नयी कविता " जम गई है तो अब पुराने प्रतिमानों में कुछ कतर्ब्योंत करके उन्हीं के आधार पर उसकी (छायावादी संस्कार-पुराने संस्कार) की प्रशंसा क्यों की जाय ?[3] परन्तु अभी अभी बनने वाली कविता-'जो जम गयी है,' का मूल्यांकन करते समय इन संस्कारों का मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है । डा० नामवर सिंह इस प्रश्न पर विचार करते हुए विजयदेवनारायण साही तथा नागेश्वर लाल की स्थापना के बहाने से छायावादी प्रतिमान (संस्कार) के लिए आचार्य शुक्ल की स्थापना तक पहुंच गये । कबीर के सम्बन्ध में की गई शुक्लजी की टिप्पणियों- के सहारे डा० सिंह ने '(अखिल रस में मग्न करने वाली सरसता' संस्कृत बुद्धि संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का न होना) बाधा शुक्ल जी स्वच्छन्दतावाद

1- नये प्रतिमान पुराने निकष : लक्ष्मीकान्त वर्मा- ज्ञानपीठ- १९६६, पृ०-१४

2- कविता के नये प्रतिमान ' डा० नामवर सिंह, सं०-१९८२, पृ०- २९

3- नयी कविता (अंक- ८) १९६७, नागेश्वर लाल की टिप्पणी- डा० सिंह

के विरोधी न थे " के साथ-साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को भी प्रतिपक्ष मे लाकर दूसरी परम्परा की खोजकर डाली ।[1] डा० रामविलास शर्मा पर आस्थावादी होने के कारण नागेश्वर लाल की डीमन और साही की मंडल ने की समस्या उछाल दी तथा डा० केदारनाथ सिंह द्वारा तार सप्तक के पुनर्मूल्यांकन का स्वागत भी किया । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को कुंवर नारायण के कथन के लिए याद करते हुए सियारामशरण गुप्त के शुष्को वृक्ष पर भी डॉ सिंह निगाह दौड़ायी । डा० सिंह ने अपनी प्रतिभा और हिन्दी आलोचना की समृद्ध परम्परा से आचार्य द्विवेदी सियारामशरण गुप्त, आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा आदि की स्थापनाओं को खबर लो और अन्त में "भावुकता" तथा सहृदयता को भिन्न करते हुये इलियट की कविता की "इण्टिग्रिटी " समझदारी की बात कहकर विकट समस्या का समाधान खोज लिया ।

छायावादोत्तर युग की कविता के प्रतिमानों में प्रमुख रूप से "छायावादी संस्कार से मुक्ति " एक प्रमुख प्रतिमान है । पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में भी नयी समीक्षा के युग में एक साथ तीन विचारधारायें सामने आई हैं । ब्लूम्सबरी स्कूल के समीक्षक वर्जीनिया वुल्फ, ई० एम० फास्टर, रोजर फ्राइ तथा क्लाइव बेल ने भी स्वच्छन्दतावाद के प्रबल आवेग एवं महान् आदर्शों के विरुद्ध यथार्थपरक दृष्टि को काम्य कहा था । शैली, कीट्स, बायरन के विचारों के विपरीत इस धारा के समीक्षकों ने कलानुभूति अथवा सौन्दर्यानुभूति को जीवन के अन्य अनुभवों से पृथक कहा । इस प्रकार द्वारा पश्चिम में कविता के कलात्मक पक्ष पर परिवर्तन देखा गया और यह माना जाने लगा कि " कविता जीवनगत राग द्वेषों की अन्विति मात्र न होकर प्रमुख रूप से कलात्मक रचना होती है ।[2]

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में विकसित समीक्षा पद्धति के व्याख्याता आई० ए० रिचर्ड्स, एफ० आर० लीविस तथा एम्पसन ने भी रोमानी मूल्यों के स्थान पर वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित वस्तुपरक काव्यमूल्यों की प्रतिष्ठा की ।

1- दूसरी परम्परा की खोज डा० नामवर सिंह, प्रथम सं० १९८२ में [illegible] [illegible] [illegible] शीर्षक निबन्ध में [illegible] काका- तथा कुटज [illegible] [illegible] का [illegible] भी बनाम हजारीप्रसाद द्विवेदी के सन्दर्भ मे
2- नयी समीक्षा [illegible] संदर्भ : डा० नगेन्द्र, [illegible], पृ० [illegible]

तीसरी धारा के समीक्षक टी०एस० इलियट हैं जो रोमानी भावुकता, सांस्कृतिक मूल्य और परम्परा का विरोध कर जीवन के संकटबोध को कविता में स्थान देना उपयुक्त मानते हैं। समकालीन समीक्षा में भी डा० नामवर सिंह, नागेश्वरलाल, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, शमशेर आदि ने छायावादी संस्कारों का विरोध ब्लूम्सबरी स्कूल के समीक्षकों की तरह किया है।[1]

दूसरा मोर्चा `प्रयोगवाद और नयी कविता` के नये मूल्य और संकटबोध के समर्थकों का है। मुक्तिबोध इस विचारधारा के निकट लगते हैं। तीसरा वर्ग लक्ष्मीकान्त वर्मा, डा० जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती का है जो एम्पसन, डार्विन तथा रिचर्ड्स की तरह भावुकता का विरोध करने पर भी नये लघु मूल्यों के समर्थक हैं। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेशचन्द्र शाह, गिरिजाकुमार माथुर तथा अज्ञेय का मुल्कांव इसी प्रकार का है। `परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्मसम्भवा` से मुक्तिबोध तथा स्वं कृतु कृती के आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति अपनी पक्षधरता एवं परम्परा (गुरु-शिष्य) का सार्थक निर्वाह करते हुए नामवर जी ने मूल समस्या को इतने मोर्चों पर थोप दिया कि- `आस्थावादी` आलोचक के लिए `(अ) सामान्य आस्था` जटिल हो गई। अन्तर्निहित रोमाण्टिक संस्कारों` का आत्मविश्लेषण करना टालकर उन्होंने कबीर और तुलसी के भावानगत संस्कारों की तुलना सदृश व्यापक समस्या लाकर खड़ी कर दी। पुनर्मूल्यांकन के `छिट-फुट प्रयास` के विपरीत एक `समझदारी` वाला `सार्थक-प्रयास` उच्चस्तरीय समीक्षक ने किया है इसमें सन्देह नहीं है।[2] परन्तु `मुक्तिबोध,` `साही,` `केदारनाथ सिंह,` `नागेश्वर लाल,` `कुंवर नारायण` तथा `अज्ञेय` पर बोलने वाली आंचल, छायावादी मधुकु संस्कार रोमांटिक भावावेग, संस्कृत भाषा, में से पहले किसकी मुक्ति दिखाई यह

1- मार्क्सवाद तथा प्रगतिशील साहित्य . डा० रामविलास शर्मा (१९८४) पृ०-२०२

2- डा० रामविलास शर्मा द्वारा धर्मवीर भारती के निबन्ध का अंश (साहित्य की नयी मर्यादा) सं०- [illegible], पृ०- [illegible]

3- छायावादोत्तर कविता के मूल्यांकन की दिशा में प्रसंगात यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस काल में जो भी मूल्यवान काव्य आया है उसकी देन किन्हीं छायावादी संस्कारों की नहीं। मुक्तिबोध: नये साहित्य का सौन्दर्य, पृ०-३५

समझना, कहना, साधना सब " धुनाधार न्याय " बन गया। उन्हीं शुक्ल जी ने शब्द- अर्थ (तात्विक अर्थ) को उन्होंने किसी मोर्चे पर ढाल की तरह इस्तेमाल किया किन्तु इस समस्या के घेरे में " छायावाद के विरोधी " पर भी छायावादी "पदावली और भाषा व्यंजना "; "प्रिय थी " को मुहर मार दी। डा० सिंह " सीधी बात को भी ललकारने की भाषा में बोलते हैं। सारी परिस्थिति का विश्लेषण भी करते हैं, जो कुछ कहते हैं अनुभव के आधार पर कहते हैं।"[१]
"रोमाण्टिक " और " आधुनिक " के बीच स्पष्ट विभाजन कर देने पर भी अज्ञेय, मुक्तिबोध, कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह तथा साही में भी सर्जना के स्तर पर "रोमाण्टिक-भावावेग देखा जा सकता है। सिद्धान्त रूप में प्रयोगवाद और नयी कविता के मोर्चे पर उपर्युक्त रचनाकार चाहे जितना छायावादी संस्कारों से दूर हटने का प्रयास किये हों किन्तु मूल मानवीय अनुभूतियां वही हैं। गैर रोमाण्टिक भावावेग में भी "भाव " संश्लिष्ट है। प्रभाव और भाव की अन्विति नयी कविता के टेकनीक की पहली शर्त है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी जिसे रोमान्टिक भावावेग कहते हैं, डा० नामवर सिंह उसे ही छायावादी संस्कार कहते हैं। कभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रवृत्ति को " छायावाद " की नई धारा की दुर्बलता कहा था और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अनुभूति- " काव्यानुभूति " रूप में इसे कविता की गेयता और प्रभावोत्पादकता के लिए आवश्यक कहा। डा० नामवर सिंह ने नयी कविता के प्रतिमान रूप में अनुभूति के स्थान पर " अनुभूति की जटिलता " कहकर डा० नगेन्द्र के रागात्मक सम्बन्ध के ~~प्रतिकूल~~ विपरीत अज्ञेय की स्थापना जटिल होते रागात्मक सम्बन्ध का समर्थन किया था कि लक्ष्मीकान्त वर्मा, मुक्तिबोध आदि रचनाकारों और नयी कविता के पक्षधर समीक्षकों द्वारा अभिव्यक्ति की ईमानदारी, यथार्थगत संघर्ष और सृजनशीलता के रूप में रेखांकित की गई है। " छायावादी संस्कार " अथवा " रोमान्टिक मनोवेग " नयी कविता की बौद्धिकता तथा अभिव्यक्ति की नई शैली के विपरीत

१- (क) कविता के नये प्रतिमान . डा० नामवर सिंह, सं०- १९६८, पृ०-४२
(ख) नयी कविता और अस्तित्ववाद : डा० रामविलास शर्मा, सं०- १९७८, पृ०-५१

हो सकते हैं किन्तु परवर्ती सर्जना में यह किसी- न- किसी रूप में विद्यमान है । जिस प्रकार " रस " के स्थान पर " अनुभूति " कहकर भी " कविता " के भाव पक्ष की पहचान एवं मूल्यबोध की ही बात सही या गलत ढंग से की जाती है उसी प्रकार छायावादी संस्कार के अंश के रूप में स्वच्छन्दता, नवरहस्यवाद, रोमानियत, सर्जना के "भाव " पक्ष के ही अन्तर्गत आते हैं जब " नयी कविता " के समीक्षकों द्वारा " बौद्धिकता " का समर्थन किया जाता है तो उन्हें शुक्ल जी का कथन भी ध्यान में रखना चाहिए- इस यात्रा के लिए निकली है " बुद्धि " पर हृदय को साथ लेकर ।

छायावादोत्तर कविता में छायावादी मांसल सौन्दर्य दृष्टि, अतीन्द्रिय संवेग, भावाकुलता, पलायनवादिता तथा कल्पना की अतिशयता के विरुद्ध प्रतिक्रिया देखी गई[1] किन्तु प्रगतिवादी रचनाकार केदारनाथ अग्रवाल, अंचल, सुमन, दिनकर, "नवीन " माखनलाल चतुर्वेदी में यह " प्रवृत्ति " "क्रिस्टल " या स्फटिक की अपन संरचना में "अन्विति " या " सत्य " अर्थ की कीमत पर भी[2] रागात्मक सम्बन्ध रूप में हो सकती है । डा० रामविलास शर्मा ने केदारनाथ अग्रवाल, की कविता में इसे इस प्रकार रेखांकित करते हैं । "दोनों हाथों में रेती लिए नदी किनारे पांव पसारकर बैठना निश्चयतः मध्यवित्त है लेकिन छायावादी ढंग का नहीं है । पांव पसार कर बैठना यह भी रेती पर मछुवों के व्यवहार में शामिल नहीं है । केदार मध्य व्यवहार के खिलाफ बगावत कर रहे हैं ।"[3] कविता है- धीरे धीरे जल बहता है । धूप की मृदु पलकी ढलता है । प्रकृति प्रिया की मांग चमकती । कुछ मछलियाँ उछल चमकती ।[4] डा० शर्मा सत्य को स्वीकार

१- नयी कविता कल्पना-प्रवण, भावुकता पूर्ण मध्ययुगीन आदर्शवादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थवादी व्यक्तिवाद की आवाज थी ।
नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : मुक्तिबोध, सं०-१९७१, पृ०- ३४

२- लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस : विजयदेवनारायण साही,
(नयी कविता,

३- प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल : डा० रामविलास शर्मा,
सं०- १९८६, पृ०- १८८

४- गुलमेंहदी केदारनाथ अग्रवाल डा० रामविलास शर्मा द्वारा प्रगतिशील काव्यधारा

करते हुए लिखते हैं- उपर्युक्त पंक्तियाँ छायावादी काव्यलोक की ओर इशारा करती हैं। रूमानियत के दायरे से निकलकर यह कौन किनारे पहुँचे हैं। नदी किनारे जो कुछ देखा वह रूमानियत की चादर से ढककर नहीं है।[1] "छायावादी ढंग का नहीं " " भद्रजनों के भद्र व्यवहार के खिलाफ बगावत," "रूमानियत की चादर से ढंककर नहीं " जैसे प्रतिमान " यथार्थवाद " और " नयी प्रगतिशीलता" के समर्थन में प्रयुक्त किये गये हैं। " हिन्दी कविता में नये यथार्थवाद " की शुरुआत को " रूमानियत " से इतना परहेज क्यों होने लगा? (प्रज्वलित) " भद्र-व्यवहार " में " प्रकृति-प्रिया," जल का प्रवाह या मछली का उछलना नहीं आता। अज्ञेय भी मछली का एक चित्र देखते हैं जो डा० नगेन्द्र और डा० नामवर सिंह के विवाद का केन्द्र है।[2] रचनाकार की टिप्पणी के अनुसार " प्रतीक और सत्यान्वेषण " बिम्ब का उभरना (डा० नगेन्द्र) डा० नामवर के अनुसार " रूप का भाव ग्रहण " तथा अनुभूति की निर्वैयक्तिकता " है। अपने अपने आईने मे देखकर नये कवि तथा समीक्षकों ने जितनी व्याख्यायें या निबन्धादि लिखे हैं उन पर "छायावाद " की "अनुभूति " भूत बनकर सवार थी और सभी छायावादी संस्कारों से " अचेतन मन का समझौता करते हैं।[3] निराला की आधुनिकता, केदारनाथ अग्रवाल की की यथार्थ की भावभूमि, विजयदेवनारायण साही की ईमानदारी, स्फटिक की ठोस संरचना, डा० नामवर सिंह के अनुसार- छायावादी संस्कार के विरुद्ध छायावादोत्तर कविता की संवेदना के मूल्यांकन का एक बड़ा सवाल तथा विचारणीय "प्रतिमान " है। जो कतिपय अन्य प्रतिमानों को छूता काटता डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के कथन में शब्द परिवर्तन के साथ "कविता होती चली गई है " के वजन पर प्रतिमान होता चला गया है। गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार छायावादोत्तर काल वास्तविक "आधुनिकता " का काल है।

१- गुलमेंहदी केदारनाथ अग्रवाल, डा० रामविलास शर्मा द्वारा प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल में उद्धृत, पृ०-१०८

२- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, सं०-१९६८, पृ०-२१

३- नये प्रतिमान ' पुराने निकष लक्ष्मीकान्त वर्मा, सं०-१९६६, पृ०-[illegible]

४- नयी कविता सीमायें और सम्भावनायें -गिरिजाकुमार माथुर

छायावादोत्तर कविता में प्रतिमान के रूप में छायावादी संस्कार से मुक्ति का प्रश्न गजानन माधव मुक्तिबोध, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, नागेश्वरलाल, डा० शम्भुनाथ सिंह द्वारा समय समय पर उठाये गये। प्रयोगवाद- तारसप्तक के प्रकाशन १९४३ ई० के उपरान्त जब समीक्षकों द्वारा (नयी कविता) प्रयोगवादी कविता की प्रेषणीयता, प्रभावोत्पादकता पर बौद्धिकता का आरोप लगाया जाने लगा तो नये साहित्य के समर्थकों ने अपना स्वतंत्र साहित्यशास्त्र निर्मित करना आरम्भ किया। 'अज्ञेय' ने त्रिशंकु में तथा मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में इन समस्याओं पर विचार करते हुए समीक्षकों को अपने दृष्टिकोण से अवगत कराने का प्रयास किया। इसी क्रम में छायावाद तथा छायावादोत्तर का अन्तर स्पष्ट करने के लिए १९३६ ई० को नये साहित्य का प्रस्थान बिन्दु माना गया। मुक्तिबोध ने छायावाद और नयी कविता का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा कि- "एक विशेष प्रकार की काव्याभिरुचि की औचित्य स्थापना के लिए सिद्धान्त लाये गये + + + "अपनी काट की कविता" - अपने फ्रेम में फिट होने वाली कविता को- तो कविता माना गया, चाहे वह महत्वहीन गप ही क्यों न हो पर उसके विपरीत राजनीतिक भावावेश से सम्पन्न काव्य[1] विद्रूप करार दिया गया। वहाँ भी ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य की जीवन दृष्टि उत्पीड़ित जनता का पक्ष ले रही है, वहीं नाक भौं सिकोड़ने के चिन्ह दिखाई दिये। वे 'सौन्दर्यवादी लोग' यह भूल गये कि बंजर काठियावाड़ पहाड़ में भी एक अजीब बीहड़ भव्यता होती है, गली के अंधेरे में उगे छोटे- से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है।"[2] 'एक विशेष प्रकार की काव्याभिरुचि' "अपने फ्रेम में फिट होने वाली कविता" "सौन्दर्यवादी लोग" से मुक्तिबोध का तात्पर्य "भावुकता-प्रधान कल्पनामूलक आदर्शवादी दृष्टि" वाले छायावादी संस्कार के आलोचकों से है। इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए

१- राजनीतिक भावावेश से सम्पन्न प्रगतिवादी कविता(मार्क्सवादी संस्कार)

२- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, संस्करण-१९६८, पृ०-

डा० नामवर सिंह ने डा० नगेन्द्र को "गतयुग का पदाधर" तथा "बहिरंग मनोरथ राजा" कह डाला।[1] विवाद छायावादी संस्कार से मुक्ति अथवा छायावादोत्तर कविता के मूल्यांकन की समस्या का और ठान लिया डा० नामवर ने नगेन्द्र से, वह भी इस लिये कि उन्होंने "नयी कविता" के प्रमाण के लिए "छन्द" समाहिति और रसात्मकता का प्रश्न भी उठा दिया। स्वयं डा० नामवर सिंह[2] ने भी आचार्य शुक्ल से सहमति व्यक्त कर "अर्थव्यंजना" का समर्थन किया तथा "रससिद्धान्त" की व्यापकता स्वीकार की किन्तु "मुक्तिबोध" का पक्ष पुष्ट करने के लिए वे मार्क्स की विडम्बना से नहीं चूके। प्रो० विजयदेवनारायण साही के निबन्ध के आड़े डा० नामवर सिंह ने जो प्रश्न उठाये हैं उनमें मुख्य प्रहार छायावाद तथा उसके रचनाकार "प्रसाद" के कृतित्व पर था क्योंकि "कामायनी" की उपलब्धि से "मुक्तिबोध" आहत थे। इसी क्रम में "अज्ञेय" द्वारा विश्वभारती क्वार्टर्ली में १९३८-३९ में लिखे गये निबन्धों को लेकर "निराला बनाम अज्ञेय" तथा आचार्य शुक्ल बनाम डा० नामवर सिंह मोर्चा बन गया। डा० नामवर सिंह ने डा० नगेन्द्र का विरोध शुक्ल जी पर प्रकट किया—"आचार्य शुक्ल तुलसीदास को काव्य के स्तर पर प्रतिष्ठित नहीं कर सके।" "इतिहास की यह विडम्बना है कि छायावाद का विरोध करके भी आचार्य शुक्ल आधुनिक हिन्दी के काव्य पाठक के संस्कार को बहुत कुछ छायावादी रुचि से संवलित कर गये।" डा० सिंह के लिये भी कहा जा सकता है कि (आरम्भ में) "प्रयोगवाद" का विरोध करके भी डा० नामवर सिंह "कविता के नये प्रतिमान" तथा इतिहास और आलोचना द्वारा काव्य-पाठक के संस्कार को नहीं भावगत आधुनिकता को संवलित कर गये। "नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं है बल्कि कविता के नये प्रतिमान" की जरूरत है।"[3] और नये

१- रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र,

२-

३- लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस : विजयदेवनारायण साही, (नयी कविता अंक-५-६, सं०- जगदीश गुप्त

प्रतिमान- आस्वाद की प्रक्रिया, जिसका आधार अर्थ मीमांसा[1] है, और प्रतिमान- साहित्यालोचन के प्रधान सिद्धान्तों के बारे में निष्कर्ष की तरफ बढ़ने का साधन— मतभेदों की सक्रियता द्वारा मतैक्य का विकास।[2] श्री साही ने छायावाद के रचनाकार जयशंकर प्रसाद तथा अज्ञेय की अनुभूति की तुलना करते हुए "भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा" (छायावाद में) नहीं "रूप के भाव ग्रहण की चेष्टा" (नयी कविता में) कहा है। प्रसाद में रूपपर भाव का आरोपण है (भीतर से बाहर) है तो अज्ञेय में बाहर से भीतर- रूप का भाव में रूपान्तरण।[3] कथन "अज्ञेय" का, प्रयोग साही द्वारा (उद्धरण में) डा० नामवर सिंह का साही को समर्थन, तथा निर्णय यह कि - प्रसाद और अज्ञेय का अन्तर छायावाद और नयी कविता का अन्तर है।[4] इसी सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा के कथन पर भी ध्यान देते चलें- "बात स्पष्ट न हुई हो तो आप इसे यों समझें कि "कामायनी" में प्रसाद अपने अनुभवों के बल पर कुछ दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये हैं- शब्दबद्ध विचार हैं कुहरे जैसी आकृतिहीन अनुभूति नहीं। इसके विपरीत नयी कविता का रचयिता इधर- उधर से विचार तो लाता है, लेकिन उन्हें ऐसे घोल में छोड़ देता है कि उनके घुल जाने के बाद बस अनुभूति का मसौदा ही बच रहता है।[5]

इस प्रकार "छायावादोत्तर" युग की कविता के मूल्यांकन के लिए कोई स्थिर प्रतिमान भले न हो किन्तु समकालीन कविता के "शाश्वत-प्रतिमान" के रूप में "अनुभूति" है जिसे देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार कभी (रसानुभूति) "काव्यानुभूति" संवेदना, तथा उसकी अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता कहा गया।

१- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, संस्करण-१९६८, पृ०-५२
२- वही, (मुक्तिबोध का कथन) संस्करण- १९६८, पृ०- ७५
३- वही, पृ०- ४४
४- वही, (नयी कविता, अंक- ८)
५- नयी कविता और अस्तित्ववाद : डा० रामविलास शर्मा, संस्करण-१९७८, पृ०-५८-५९

प्रगतिवाद बनाम प्रगतिशीलता

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का आरम्भिक रूप " क्रान्ति " काल के प्रभाव के कारण रूमानियत के दायरे से निकला नहीं था। इन्हीं दिनों विदेश में इंग्लैण्ड के कुछ उत्साही भारतीयों ने "प्रगतिशील लेखक संघ " की स्थापना की और १९३६ ई० में लखनऊ में मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में प्रथम बैठक सम्पन्न हुई। जो आधुनिक हिन्दी कविता में " प्रगतिवाद " का आरम्भ माना जाता है। "प्रगतिवाद " एक कालखण्ड विशेष का प्रतिमान है तथा प्रगतिवादी कविता उस प्रवृत्ति से प्रेरित नयी कविता है जो तारसप्तक के प्रकाशन से पूर्व तक विशेष प्रभाव में रही है। " प्रगतिवाद " और " प्रगतिशील " समीक्षा के दोनों प्रचलित शब्द हैं जिनमें से " शील " परिमार्जित तथा " वाद " विवादग्रस्त मानसिकता का परिणाम है। डा० नामवर सिंह ने "वाद " तथा शील में भेद न मानते हुए लिखा है कि "जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं है उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भिन्न नहीं है।"[1] इसमें निश्चय ही बुद्धिविलास नहीं अपितु "शास्त्र " तथा " काव्य " का अन्तर है। प्रगतिशील लेखक संघ में से लेखक-संघ हटाने पर " प्रगतिशील " रह जाता है जो " उन्नति के आदर्शों " की धारणा से युक्त है किन्तु "वाद " दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान और विज्ञान की देन है। हिन्दी कविता को जनता की रचनात्मक धारा ने प्रगति आन्दोलन का रूप दिया तथा नये मूल्यों के दबाव में शील का स्थान वाद ने ले लिया।[2] इसी के परिणामस्वरूप प्रोग्रेस > प्रोग्रेसिव > प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन

बना जो "प्रगतिशील" रचनाकारों का समूह है तथा उनका सिद्धान्त प्रगतिवाद है

१- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : डा० नामवर सिंह, सं०-१९७७, पृ०-७७

२- "लेखक को भी नेताओं का मुँह न जोहकर स्वयं कुछ करना चाहिए; सामान्य जनता सेवा मानने वाले सभी लेखक प्रगतिशील आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए, क्योंकि यह आन्दोलन उनकी उदात्त भावनाओं के लिए नया क्षेत्र प्रस्तुत करता जान पड़ता था। किन्तु क्रमशः प्रगतिशील आन्दोलन में "शील " का स्थान वाद ने ले लिया।"

"कविता और कविता (साहित्यिक प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि)

संस्करण- १९५५, पृ०- ७७

निर्णय देते हैं। परीक्षण की विधि मात्र मूल्यांकन की कसौटी नहीं।
डा० नगेन्द्र के मन में छायावादी कविता तथा रस सिद्धान्त के प्रति अतिरिक्त आस्था है जिन्हें जोड़ने का सूत्र मिला है " आनन्द " जो छायावादी कवि की विकास यात्रा है। अत वे प्रगतिवाद के विकल्प रूप में "मनोविश्लेषणवाद "तो अपना सकते हैं किन्तु प्रगतिवाद नहीं। उनका तर्क है कि साहित्य सर्जना के बाद समष्टि का सूचक है जबकि सर्जना वैयक्तिक क्रिया है। मार्क्सवाद सामाजिक पक्ष से समष्टि का सूचक है किन्तु व्यक्तिगत धारणा में उसका कोई रूप नहीं रह जाता।[1] इसी से मिलती जुलती धारणा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की भी थी। निराला की प्रगतिशीलता तथा पन्त की कविता की नवता को स्वीकार करते हुए भी वे निराला के ही एक पत्र के सहारे वे कहते हैं कि " यह प्रोफेसरों और डाक्टरों द्वारा लाया जाने वाला समाजवाद है।"[2] डा० विनयमोहन शर्मा हर युग में ताजगी कायम रखने वाले साहित्य को प्रगतिशील कहते हैं। इसके विपरीत डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान आदि समीक्षक "प्रगतिवाद " को आधुनिक कविता का सबसे सशक्त एवं जीवन्त उत्तराधिकारी मानते हैं। प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है (आधुनिक हिन्दी साहित्य) मुक्तिबोध भी पहले " मानव " से प्रभावित थे किन्तु दिनों बाद में " नयापन " के प्रकाश से जुड़े थे।

सामान्यत: १९३६ ई० से "प्रगतिवाद का उद्भव प्रगतिशील लेखक संघ से जोड़ दिया जाता है जबकि १९३० ई० के आसपास ही "छायावादी" आदर्श-रोमान, कल्पना, विरह और करुणा के प्रति वितृष्णा और प्रतिक्रिया दिखाई पड़ने लगी थी।[3] डा० [illegible] ने " छायावाद - उत्थान पतन और पुनर्मूल्यांकन

१- साहित्य तथा समग्र सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को लेकर चलता है इसी से वह मुक्तिदान भी देता है, केवल राजनीतिक व्यक्ति में साहित्य के लिए विशेष सम्पृक्ति नहीं मिल सकती। - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ- डा० नामवर सिंह

२- जो साहित्य हर युग में अपनी ताजगी कायम रख सकता है वही जीवित रहता है और वही प्रगतिशील है। प्रगतिशील साहित्य युग सापेक्ष नहीं युग निरपेक्ष होता है। - साहित्य : शोध-समीक्षा, विनयमोहन शर्मा

छायावाद युग के उत्तरार्द्ध में ही 'आदर्श' के स्थान पर यथार्थवादी दृष्टि के प्रति रचनाकारों का झुकाव परिलक्षित होने लगा था। महादेवी ने 'दीपशिखा' की भूमिका में 'यथार्थवाद' की दार्शनिक व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि एक निश्चित अवधि के उपरान्त प्रत्येक यथार्थ आनेवाली पीढ़ी के लिए आदर्श बन जाता है और फिर परवर्ती रचनाकार नवीन यथार्थ को अपनाने लगता है। छायावादी आदर्श के विरुद्ध मुंशी प्रेमचन्द की औपन्यासिक कृतियों में यथार्थवाद की झलक देखी जा सकती है। निराला, सुमन, अंचल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में ये यथार्थबोध की परिणतियाँ हैं। डा० रामविलास शर्मा यथार्थ का प्रयोग सम्पूर्ण नये साहित्य के लिए करते तथा निराला के बाद सही अर्थ में केदारनाथ अग्रवाल की कविता में यथार्थवाद की स्थापना करते हैं।

जीवन-समाज के अनुरूप यांत्रिक प्रक्रिया के दबाव के कारण विकसित छायावादोत्तर आधुनिकता का आशय यथार्थ से ही है। आदर्शवाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न यथार्थ के अभाव से गोपनीयता के स्थान पर अभिव्यक्ति की ईमानदारी के साथ-साथ प्रयोगवाद और नयी कविता में अतियथार्थ की सीमायें भी देखी गई। यौन कुण्ठा और मनोविश्लेषण के क्षेत्र में 'अज्ञेय' के प्रयोगों पर समीक्षकों ने उंगली उठाई है। इसी प्रकार मुक्तिबोध की कविता का अंधेरा, स्याह सपाट मैदान, चांदनी, 'चकमक की चिनगारियाँ' आदि अनेक चित्रों एवं कविताओं में नवीन यथार्थबोध एक प्रतिमान के रूप में देखा जा सकता है। डा० नामवर सिंह ने लिखा है कि- जिस प्रकार कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद उसी तरह सामाजिक यथार्थ दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है।[1] जब नई कविता की दोनों उपलब्ध धाराओं को एक ही विकास क्रम में देखें तो यथार्थ का यह स्वरूप 'नयी कविता' के सभी रूपों पर देखा जा सकता है।[2]

१- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : संस्करण- १९७५, पृ०-

२- नयी कविता सीमायें सम्भावनायें : गिरिजाकुमार माथुर.

अज्ञेय ने उस युग की परिस्थितियों को लक्ष्य करके लिखा था कि- " यह युग संशय, अस्वीकार और कुण्ठा का है।"[1] इसी छायावाद और प्रगतिवाद के संधिकाल में फासिज्म का उदय, म्यूनिख समझौता, स्पेन में जन क्रान्ति, देश की रक्षा के लिये बुद्धिजीवियों तथा लेखकों का मोर्चे पर लड़ना, द्वितीय महायुद्ध की विनाश की छाया में भारतीय क्षेत्र में कांग्रेस और गांधीवाद की क्षेत्र का कम होना ऐसी घटनायें हैं जो राष्ट्रीय अन्तर्द्वन्द्व की परिचायक हैं।[2] इन्हीं परिस्थितियों के कारण कवियों के एक वर्ग ने गम को गलत करने के लिए " बन जाता कौमार्य तुम्हारा " तथा सांवली उजली वह बरबस खिंचते हैं युग रस भरे कलश " में था तो दूसरा विद्रोही वर्ग "नाश गिरो अशनियों के सिर पर फूटो लहू तथा अंगारो " के साथ- साथ पापी महलों का अहंकार तब देता मुझको आमंत्रण, वह तोड़ती पत्थर, दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता " सदृश रचनाएं करने लगा। डा० नामवर सिंह ने लिखा है कि प्रगतिवाद के नाम पर पन्त जी ने मार्क्सवाद और गांधीवाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, बहिर्गत और अन्तर्गत भाव और रूप का समन्वय करना चाहा जिसमें छायावादी परम्परा का आग्रह स्पष्ट है।

"प्रगतिवाद " के इस बहुआयामी काव्य का मूल्यांकन यदि किसी एक प्रतिमान के आधार पर किया जाता है तो कविता का अधिकांश अछूता अमूल्यांकित रह जाता है। अतः छायावादी क्रिया और प्रतिक्रिया के मूल्यांकन के लिए एक ओर स्वच्छन्दता, पलायन, दैन्य, कुण्ठा और नैतिक वर्जनाओं को प्रतिमान रूप में स्वीकार किया जाता है तथा दूसरी ओर सामाजिक, राजनीतिक धरातल के मूल्यांकन के लिए प्रगतिशीलता तथा मार्क्सवादी जीवन दर्शन (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) को समझना आवश्यक हो जाता है। मार्क्सवाद- मानववाद, यथार्थवाद एवं संस्कृति-बोध पलायनता, यांत्रिक सभ्यता की वैषम्य आधुनिकता विद्रोह एवं वर्ग संघर्ष की

१- विशाल भारती (क्वार्टरली) (नवम्बर १९३७- जनवरी १९३८) - "अज्ञेय"

२- आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां : नामवर सिंह, १९५४

प्रेरणा हिन्दी कविता में मार्क्सवाद से ही आई है।[१]

मार्क्सवादी चेतना- जनवादी काव्य :

छायावादोत्तर हिन्दी कविता का प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध जिन प्रतिमानों या जीवन मूल्यों से है उनमें प्रणय, सैक्स, नैतिकता व्यक्तिगत आचरण के सम्बन्ध में आधुनिकता का दृष्टिकोण, कविता की मूल प्रेरणा और वैज्ञानिकता, प्रतिबद्धता का प्रश्न राजनीति की समस्या तथा व्यवस्था विरोध प्रमुख है।[२] इनके साथ ही आज कविता की व्याख्या इतिहास शासनव्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था को केन्द्र में रखकर की जाने लगी है। इसी आर्थिक - सामाजिक एवं वैज्ञानिक व्यवस्था के लिए बीसवीं शताब्दी के प्रमुख विचारक कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का संकेत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में समकालीन समीक्षा में किया जाता है। इस वाद का मुख्य आधार समाज और उसकी आर्थिक संरचना है। राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन कला एवं साहित्य की उत्पत्ति भौतिक क्रिया के रूप में द्वन्द्वात्मकता से होती है। इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सहारे साहित्य- कविता तथा कला की वस्तुगत व्याख्या "मार्क्सवाद" का लक्ष्य है। डा० रामविलास शर्मा कहते हैं कि- "समाज को समझने और बदलने तथा शोषण विहीन समाजव्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम मार्क्सवाद है।[३] इस सीमा में साहित्य की विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उसका उचित मूल्यांकन समीक्षा

१- " कई स्थलों पर शोध प्रबन्ध में यह कहा जा चुका है कि कविता के प्रतिमान शास्त्र की वस्तुगत सीमा से नहीं नापा जाता है। इसकी स्वीकृति कविता के सृजन और मूल्यांकन से होती है। कविता या कला पर सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव पड़ते रहने से प्रतिमान भी बदल जाया करते हैं।

(भूमिका- प्रतिमान और कविता)

२- नयी कविता : सीमायें सम्भावनायें : गिरिजाकुमार माथुर- पृ०७७-

(नये मूल्यांकन की [illegible])

३- मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : डा० रामविलास शर्मा, पृ०-[illegible]

संस्करण प्रथम

का उदय है। भौतिक क्रिया रूप में घटित प्रकृति का द्वन्द्व मानव मन को भी प्रभावित करता है। यही प्रभाव प्रतिक्रिया रूप में कला या साहित्य की सर्जना है। इस चिन्तन के भारत में पनपने और बढ़ने का कारण यहां की दासता, किसानों और श्रमिकों की दीनता, अर्थहीन (Have not) शोषितों की दशा तथा जीवन का अन्तर्विरोध है। इस दशा के कारण समाज के (Have) पूंजीवादी लोग हैं जिन्हें मार्क्सवादी " बुर्जुआ " समाज कहते हैं। समाज के (Have) तथा Have not के बीच बराबर वर्ग संघर्ष की स्थिति रहती है। इसी वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप साम्यवाद के रूप में समाजवाद का उदय होता है, मार्क्स की यही मान्यता है।" प्रगतिवादी साहित्यकार की सहानुभूति विपन्न दीन श्रमिक तथा शोषित की ओर होती है। निराला ने सन् १९२४ में बादल राग कविता में लिखा था- जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर। तुम्हें बुलाता कृषक अधीर। ऐ विप्लव के वीर फिर --- फिर।[1] दलित जन की स्वतंत्रता पूर्ण की स्थिति रही है उसी कवि का प्रभावित होना स्वाभाविक है। चांदनी मधुराका, सिहरन, स्पन्दन, कल्पना विरह और अश्रुधारा के स्थान पर प्रगतिवादियों ने लिखा- काटो- काटो-काटो वेधी। मारो- मारो- मारो हंसिया[2] दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता। पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक। चल रहा[3] उपक पाटे मुट्ठी भी भिन्न भिन्न भी देखा गया है[4] छायावादी आत्मवादी प्रवृत्ति को त्याग करके दलित, शोषित कुत्सित, ग्रामयुवती, धोबिन तथा ग्राम्या में विश्वास करने वाले भावों को कविता में स्थान मिला। पन्त की रचनाएं

१- बादल राग : सूर्यकान्त त्रिपाठी

२- केदारनाथ अग्रवाल

३- भिक्षुक सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

४- पन्त की प्रगतिशीलता छायावाद युग के इस व्यापक रागात्मकता तथा होती जा रही है जिसमें एक ऐसी भावुकता की प्रतिक्रिया मात्र थी जिसे प्रगतिवादी - विशुद्ध प्रगतिवादी मानने के पक्ष में नहीं है।
आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां : डा० नामवर सिंह

ग्राम्या, स्वर्ण किरण, उत्तरा, कला और बूढ़ा चाँद[1] निराला की नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, केदारनाथ अग्रवाल की "गुलमेंहदी," आदि कृतियों में मार्क्सवादी चेतना का स्पष्ट प्रभाव है। अन्य रचनाकारों में सुमन, अंचल, दिनकर, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध आदि प्रगतिवादी कवि प्रमुख हैं। इन कृतियों (एवं कविताओं) में आगत वस्तुवादी चेतना भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली की तरह देश-काल एवं परिस्थितियों के द्वन्द्व से प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई है। इन घटनाओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव "सर्जना" के अतिरिक्त आलोचना पर विशेष रूप से पड़ा। "आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद ने साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का नारा दिया जो आलोचकों के लिये काफी विचारोत्तेजक प्रतीत हुआ। फलत. आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद का सबसे अधिक स्वागत हुआ।"[2]

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से पूर्व ही हिन्दी कविता के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास और नाटकों में भी इस वस्तुवादी प्रवृत्ति का आगमन हो चुका था। मुंशी प्रेमचन्द की कहानियों तथा औपन्यासिक कृतियों में इसका एक आरम्भिक रूप विद्यमान था। मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्रभावित हिन्दी समीक्षकों का वर्ग "हंस" पत्रिका के माध्यम से इस दिशा में अग्रसर हुआ और यथार्थवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, 1945 भौतिक यथार्थवाद के अतिरिक्त नैतिकता और अनैतिकता तथा पुरुष-नारी सम्बन्धों पर भी आलोचना की कलम चली।

समीक्षा-प्रतिमान रूप में प्रगतिवादी कविता एवं साहित्य के साथ आई हुई मार्क्सवादी चेतना ने आज भी किसी न किसी रूप में कृतियों में स्थान पा लिया है। न केवल प्रगतिवाद अपितु सम्पूर्ण सर्जना की परम्परा का मूल्यांकन इस पद्धति से किया जाने लगा है।[3] तुलसी, कबीर, सूरदास आदि कृतिकारों पर भी शिवदान सिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा का लगाव पत्र-पत्रिकाओं में देखा गया है। प्रगतिवादी चेतना का मुख्य आधार कार्ल मार्क्स का यह कथन है-

---

१- सुमित्रानन्दन पन्त की प्रगतिवादी कृतियाँ

२- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : डा० नामवर सिंह, सं०-१९५४, पृ०- ७८

३- परम्परा का मूल्यांकन : डा० रामविलास शर्मा,

• विचारों अवधारणाओं तथा चेतना की उद्भावना सबसे पहले मानव के भौतिक क्रियाकलाप हैं × × × × उन्हीं सम्बन्धों की प्रेरणा से वह निर्माण करता है। उसका यह निर्माण सार्वजनीन होता है। कला भी उसका एक प्रकार का निर्माण है।[1] कला एवं साहित्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण चिन्तन को अपने परिवृत्त में सम्मिलित करने वाला यह देशी नवीन सौन्दर्यशास्त्र का व्याख्याता है। इस सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य आधार "द्रव्य " (   ) है। साहित्यकार की संवेदनशीलता से उत्पन्न यह द्रव्य ही " वस्तु " रूप में साहित्य में स्थान पाता है। इस दर्शन के अंतर्गत सिद्धान्त और व्यवहार में मानव अस्तित्व को वस्तुपरक बनाने का अर्थ है उसकी भावनाओं को मानवीय बनाना। द्रव्य (Matter) भौतिक पदार्थ है, जो सृष्टि का सत्य है किन्तु काल एवं परिस्थिति का घटनाचक्र सत्य को परिवर्तित कर देता है।

मार्क्सवाद नाम से जाने गये इस वाद का उद्भव हेगल ने "भौतिकवाद " की स्थापना कर भौतिक सत्ता को ही मूर्तरूप में स्थापित किया है। " कला " उसी सत्ता का मूर्तरूप माना गया था। हेगल ने "बुद्धि के विकास " के आधार पर कलाओं के विकास की व्याख्या स्वत. संचालित भौतिक सत्ता की क्रिया (थीसिस-एन्टी थीसिस) प्रतिक्रिया से समाहिति या सामंजस्य की स्थिति आती है। हेगल के अनुसार " काव्य " रूप में " वास्तु - कला " का उद्भव हुआ। मानव मन में जब उसका " प्रतिभास " आया तो उसने स्थापत्य कला को अपनाया। इसके उपरान्त रोमानी अवस्था में संगीत चित्र एवं काव्य कला का विकास समन्वयात्मक अवस्था है। मार्क्स ने हेगल की अव्यक्त सत्ता (ऐब्सट्रैक्ट - या अमूर्त) सत्ता को नकार कर इसकी व्याख्या द्वन्द्व के आधार पर की। मार्क्स की मान्यता है कि Matter या द्रव्य में ही भावात्मक एवं अभावात्मक शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इनमें द्वन्द्व या " संघर्ष " होता है। इस संघर्ष के बाद एक " नवीन शक्ति " उत्पन्न होती है। सारी सृष्टि की संरचना में "हेगल " की स्थापना

१- लिटरेचर एण्ड आर्ट : मार्क्स एण्ड एंजिल्स,

के विपरीत मार्क्स ने केवल धनात्मक और ऋणात्मक शक्ति के द्वन्द्व से उत्पन्न माना है। यह प्रक्रिया भौतिक विज्ञान के अनुरूप व्याख्यायित किये जाने के कारण मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है।

वर्गवाद, एवं वर्गसंघर्ष, द्वन्द्व, भौतिक क्रिया द्रव्य तथा समाज की आर्थिक संरचना के आधार पर व्याख्यायित मार्क्स का दर्शन किसी भी काल एवं परिस्थिति की साहित्यिक व्याख्या के लिए एक नवीन शास्त्र है। इस शास्त्र के अनुरूप प्रधानता " व्यक्ति " को नहीं भौतिक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्रियाओं को दी जाती है।[1] "व्यक्ति "-" सर्जक " का चिन्तन-प्रवणता-संवेदनशीलता सौन्दर्याभिरुचि उसी समाज- देश- काल एवं परिस्थिति की सापेक्ष सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो मानव-मन- व्यक्तिमन की समाजमन में ग्रहण किये जाने के कारण आती है। मन में स्थित "द्रव्य " परिस्थितियों से ही संचित समवाय है और इन्हीं भौतिक क्रियाओं से उसमें " प्रतिक्रिया " रूप में सर्जना का उद्भव होता है।

प्रयोगवाद एवं नयी कविता के व्याख्याताओं ने आत्मसंघर्ष, सर्जना एवं संघर्ष तथा अभाव एवं भाव की जो भी भौतिक व्याख्यायें की हैं उनका मूल यही मार्क्स का दर्शन है। हिन्दी कविता का ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक विकास की नवीन व्याख्या भौतिक एवं आर्थिक आधार पर करने के साथ ही प्रतिमानों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। छायावाद युग के प्रतिमान स्वच्छन्दतावाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने गहरी शिकस्त दी। ज्ञान-विज्ञान तथा चिन्तन के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन के प्रत्यक्ष रूप में स्वच्छन्दतावाद की चेतना को भारतीय आध्यात्मिक परम्परा से विच्छिन्न कर दिया था किन्तु इस नवीन दर्शन की वस्तुपरक एवं द्वन्द्वात्मक व्याख्या का सीधा प्रभाव सर्जना एवं समीक्षा पर पड़ी है सारे

1- भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति ही सामान्य सामाजिक और राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया में निश्चित होती है। यही कला के अनुभव का भी आधार है। मानव अस्तित्व उसकी चेतना से निर्धारित नहीं होता, प्रत्युत इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निश्चित करता है।" क्रिटीक्स [illegible] कार्ल- मार्क्स

मूल्य बदल गये । भारतीय विपन्नता तथा पूंजीवाद के प्रभाव की प्रतिक्रिया से इस दर्शन को नयी शक्ति मिली । मजदूर एवं शोषित की पक्षधरता इस देश की विशेष राय आई । सदियों के बाद सर्वहारा को साहित्य में स्थान दिये जाने के कारण "होरी" और "घुरे" की परम्परा "लघु मानववाद" के रूप में सर्जना में स्थान लेकर क्रान्ति एवं वर्गसंघर्ष का उद्गार ~~स्वीकार किया~~ (करने लगी) । यह केवल एक राजनीतिक चेतना न थी जैसा कि डा० नगेन्द्र कहते हैं, अपितु "मानवतावाद" एवं क्रान्ति की चेतना थी जिसने इसे व्यापक परिवेश प्रदान किया । यदि हम "छायावाद" को "वाद" (क्रिया) मान लें तो उसी में प्रतिवाद रूप में प्रगतिवाद प्रयोगवाद (नयी कविता) की व्यापक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप दूसरे सप्तक एवं नयी कविता के प्रकाशन १९५३ के बाद की सर्जना को संवाद (समन्वय) कहा जा सकता है जो लक्ष्मीकान्त वर्मा एवं डा० नामवर सिंह की "नयी कविता और छायावाद का गुप्त रूप से समझौता"[१] तथा "छायावादी-रोमानी चेतना का पुनरागमन" है । छायावादी आदर्श (क्रिया) प्रगति एवं प्रयोगवादी यथार्थ (प्रतिक्रिया) की टक्कर से अतियथार्थ का विकास तथा नयी कविता के स्थायी स्वर का विकास माना जा सकता है । अस्वीकृति (अभाव-नकारात्मकता) तथा स्वीकृति (भाव) के द्वन्द्व से इस नयी कविता के नये सौन्दर्यशास्त्र को नयी समीक्षा में विभिन्न कोणों से देखा जाना और परखा गया[२] ।

१- नयी कविता और छायावाद के बीच जो अदृश्य मन में समझौता प्रयोगवाद के रूप में हुआ है वह सब-का-सब अब उछलकर आ पड़ा है- नये प्रतिमान :पुराने निकष । डा० जगदीश गुप्त और डा० नगेन्द्र दोनों ने कविता के एक ही मूलतत्व का सहारा लिया और वह तत्व है अनुभूति । । डा० जगदीश गुप्त परम्परा के नाम पर छायावाद से नयी कविता को जोड़ना चाहते हैं डा० नगेन्द्र समेटना चाहते हैं : कविता के नये प्रतिमान — नामवर सिंह

२- (क) नये प्रतिमान पुराने निकष : लक्ष्मीकान्त वर्मा

(ख) नयी कविता- सीमायें सम्भावनायें गिरिजाकुमार माथुर

(ग) नयी कविता का आत्मसंघर्ष (मुक्तिबोध)

(घ) नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में इनकी प्रामाणिकता सम्पादित है ।

इसी निकष के अनुसार मार्क्सवादी चेतना आधुनिकता का प्रतिरोपण है क्योंकि इसने व्यक्ति को ` वास्तविक युगबोध प्रदान करने के साथ ` अधिक दायित्वशील और सक्रिय बनाया है।` डा० जगदीश गुप्त की आधुनिकता से सहमत होने पर भी मार्क्सवाद के माध्यम से आई आधुनिकता को हम केवल यान्त्रिक सभ्यता की देन नहीं कह सकते।

प्रगतिवाद को मुख्य रूप में स्वीकार किये जाने का दूसरा आधार `मानवतावाद ` है। मार्क्स से पूर्व टालस्टाय ने अपनी औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से जो बीज विश्वचेतना के क्षेत्र में बोया था मुंशी प्रेमचन्द, उपेन्द्रनाथ अश्क, रांगेयराघव आदि साहित्यकारों ने उसे भारतीय परिवेश के अतिरिक्त व्यापक `जनाधार ` प्रदान किया। `सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर- मानव तुम सबसे सुन्दरतम`[1] की अनुरूप छायावादी चेतना की प्रतिक्रिया होने पर भी पन्त की यह दृष्टि कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपने प्रिय कवि `पन्त ` को ` मार्क्सवाद ` से प्रभावित देखकर भी डा० नगेन्द्र ने यह दृष्टिकोण नहीं बदला- " हिन्दी साहित्य में मानववाद या क्रान्ति की भावना ही मुख्य है, केवल वैज्ञानिक साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम।[2] जबकि प्रगतिवाद के अनुसार `मानववाद `नहीं `मानवतावाद ` है, वह भी मुख्य नहीं, मुख्य है- वस्तुगत जीवन दृष्टि तथा परम्परा से उद्भूत किन्तु नितान्त भारतीय समस्याओं की गोद में पला वर्गहीन-शोषणविहीन सामाजिक व्यवस्था।[3] बीसवीं सदी के साहित्य चिन्तन में इससे सशक्त कोई अन्य चेतना नहीं देखी गई। कुकुरमुत्ता द्वारा गुलाब को दी जाने वाली लताड़ संस्कारविहीन अनगढ़ भाषा में होने पर भी आधुनिकता का " दस्तावेज " और युग का मुहावरा बन सकी।[4] डा० मदान ने आधुनिकता के तीन चरण मानकर

१- मानव - सुमित्रानन्दन पन्त (युगान्त)

२- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : डा० नगेन्द्र, संस्करण-१९६६, पृ०-११२

३- मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : डा० रामविलास शर्मा, संस्करण-१९८४, पृ०- २९६

४- आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य : चन्द्रनाथ मदान, संस्करण- १९७८, पृ०- १२

`कुकुरमुत्ता,` `अणिमा,` और अंधेरे में प्रतीकों को विभिन्न कोणों से जांचा है। यह आग्रह अवश्य है कि डा० महान के सिर पर छायावाद के विरोध का जादू इतना सवार रहा कि जैसे `छायावाद` को समूल मिटा देना ही आधुनिकता है? डा० महान न तो छायावाद को समझ सके न कुकुरमुत्ता के व्यापक परिवेश को।

इसी प्रकार प्रगतिवादी दर्शन से जुड़ी एक अन्य समस्या पं० बालकृष्ण शर्मा `नवीन` की कृति `क्वासि` की भूमिका में तथा मार्क्स को महात्मा और साधक मानते हुए उठाई गई तथा उनके दृष्टिकोण की सराहना की गई। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ग्वालियर अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए श्री नवीन ने साहित्यालोचन-प्रणाली में उत्पन्न गड़बड़ी के प्रति चिन्ता भी व्यक्त की। इसी तरह `क्वासि` की भूमिका में नवीन जी मार्क्स के प्रति श्रद्धा की भावना उनकी युग सापेक्षता की परिचायक है।[1] डा० रामविलास शर्मा ने `क्वासि` की भूमिका में मार्क्स द्वारा `फेयर बाख` की आलोचना के सम्बन्ध में नवीन जी की मान्यता से असहमति व्यक्त की है।[2] `नवीन` जी की धारणा भाववाद के अधिक निकट है। `इन्द्रिय ग्राह्य अस्तित्व के अतिरिक्त किसी यथार्थ का सवाल नहीं उठता। सवाल है जिसे हम यथार्थ के अतिरिक्त` समझते हैं उसे यथार्थ के का समझने का। इसलिये कर्म के बिना यथार्थ नहीं बनता, कर्म के बिना मनुष्य (जो यथार्थ से अतिरिक्त नहीं है) वह भी नहीं बनता।[3] डा० शर्मा का कहना है कि मार्क्स ने फायर बाख की आलोचना इसलिये की क्योंकि फायर बाख ने मनुष्य के चिन्तन को उसकी क्रियाओं से अलग शुद्ध चेतन रूप में देखा था।`— नवीन जी भी इसी प्रकार भाववाद के व्याख्याता हैं जो `फायर बाख` के निकट जान पड़ते हैं।` डा० शर्मा और नवीन का यह अन्तर वास्तव में दृष्टिकोण का भेद है। नवीन जो परम्परावादी तथा डा० शर्मा वैज्ञानिक समाजवादी है।

१- (क) क्वासि : बालकृष्ण शर्मा नवीन,

(ख) हिन्दी साहित्य सम्मेलन- ग्वालियर (१९५२-५३)

२- मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : रामविलास शर्मा, सं०-१९५७, पृ०- २२७

३- वही

डा० शर्मा के अनुसार " मनुष्य " का चिन्तन- संवेदन- सौन्दर्यबोध तथा क्रिया- समाज सापेक्ष हुआ करती है। मार्क्सवादी दर्शन में भी समाज एक महत्वपूर्ण इकाई है। " पंत " ने मानव को सुन्दरतम, निखिल सृष्टि में चिर निरुपम कहते हुए भी " यदि बने रह सको तुम मानव " की शर्त लगाई है। नये युग के नये मानव में आशा, अभिलाषा, उच्चाकांक्षा, विश्वास, असद्- सद् का विवेक हो।[1] रश्मिरथी के कर्ण का आत्म विश्वास, जिसमें कुल एवं गोत्र नहीं शक्ति और संघर्ष पर विश्वास है। नियति का दास मानव " कुरुक्षेत्र " में विज्ञान का सहारा लेकर प्रकृति का नियामक बन जाता है जो मानवतावाद का प्रभाव है। विज्ञान की विभीषिका तलवार की विभीषिका- युद्ध का उन्माद है।[2]

काव्य-समीक्षा एवं मूल्यांकन के लिए प्रगतिवादी समीक्षक अपने सिद्धान्त को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मानवतावादी दृष्टि से जोड़ते तथा उनके " लोकमंगल " को अपने ढंग रूप में व्याख्यायितकरते हैं। "लोकमंगल की साधनावस्था में मार्क्सवादी चिन्तन का सापेक्ष्य सिद्धान्त मिलाकर इस मूल्यबोध की परवर्ती सीमा को व्यापक बनाई गई है। देश-काल एवं परिस्थिति के अनुसार बदलते जीवन मूल्यों के अनुरूप " मार्क्सवाद " से विकसित जनवादी चेतना द्वारा संस्कृति की नवीन व्याख्या की जाने लगी। इस व्याख्या की सीमा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रसात्मक दृष्टि भी आ सकती है जिसे विरुद्धों का सामंजस्य कहा जा सकता है। डा० रामविलास शर्मा, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० शिवकुमार मिश्र आदि ने आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त में छायावाद के विरोध के सूत्र को ग्रहण कर उससे मार्क्सवादी चिन्तन की सम्भावनाओं को स्वीकार किया है। डा० नामवर सिंह की कृति दूसरी परम्परा की खोज में आचार्य शुक्ल को तुलसी का समर्थक सिद्ध करके समाज के खुँखा (सामन्त वर्ग) का समर्थक करार दिया गया और कबीर की फक्कड़ता के कारण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक कृतियों को जनवादी आलोक से देखा गया है।

मार्क्सवादी समीक्षा में काव्य मानदण्डों एवं आलोचना की परवर्ती समीक्षा

1- मानव — सुमित्रानन्दन पन्त

2- रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र — 'दिनकर'

विसंगति विडम्बना तथा मार्क्सवादी वर्गात्मक द्वन्द्व के रूप में विकसित किया जाता है। जिस चिन्तन पद्धति का ध्येय ही वर्ग संघर्ष की खोज हो उसे वैचारिक संघर्ष से क्यों झिझक होगी जब मुक्तिबोध यह स्वीकार करते हैं कि अब मतभेद और टकराव की असहमति से ही कुछ तत्व निकल सकता है तो उनके पदानुसार समीक्षकों द्वारा यदि एक ही डंडे से सम्पूर्ण कृतित्व की नवीन व्याख्या की जाती है तो कोई आश्चर्य नहीं है। डा, " तुलसी आधुनिक वातायन से " के लेखक का दृष्टिकोण यदि "आधुनिकता" है तो क्या सारी परम्परा को नकारना ही समीक्षा एवं पुनर्मूल्यांकन का उद्देश्य है। मार्क्सवादी विचारों की सीढ़ी से चढ़कर नयी कविता (नयी कविता जो) अतिरिक्त आवेश में यह कहे कि उसने अपनी परम्परा से कुछ नहीं लिया है तो एक सन्देह होता है। जिन परम्परित मूल्यों की प्रतिक्रिया नयी समीक्षा में देखी जाती है वह क्रिया रूप में पूर्ववर्ती साहित्य चिन्तन छायावाद की रोमानी संवेदना तथा स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया के साथ - साथ आत्मवादी चिन्तन के विपरीत वस्तुवादी दृष्टि का परिणाम है। तुलसी की समीक्षा में यदि डा० रामविलास शर्मा को व्यापक लोकभूमि एवं व्यापकता के दर्शन होते हैं तो शिवदान सिंह चौहान को युगीन एवं सामन्तीय विचारधारा का विकास दिखाई पड़ता है किन्तु डा० रमेश कुन्तल मेघ को वह पुरातन मूल्य लगता है। वह वर्णवाद एवं द्वन्द्वात्मकता की अन्तिम परिणति है "हिन्दू समाज के पक्षधर कुलीनवाद"।

डा० नामवर सिंह प्रगतिवाद का उद्भव भारतीय ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन मानते हैं। उनका तर्क है कि " यदि प्रगतिवाद की मां मार्क्सवाद की है तो हिन्दी में प्रगतिवाद का जन्म उन्नीसवीं सदी में ही जाना चाहिए था, क्योंकि उस समय योरूप में मार्क्सवाद की धूम मची हुई थी। + + + प्रगतिवाद हिन्दी में अपने समय पर पैदा हुआ जब हिन्दी जगत में सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना के प्रभाव से दीनता संघर्ष एवं गरीबी को भोगने वाला रचनाकार छायावादी संस्कार त्यागने में उसकी मदद देता है।"[1] डा० सिंह के इस आरोप के सम्बन्ध में कहा यही जा सकता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्तिकाल की आध्यात्मिक चेतना

१- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : डा० नामवर सिंह, संस्करण-[illegible], पृ०-८२

की सिद्धों और नाथों से जोड़ते हैं तथा रीतिकाल को आदिकाल की शृंगारिक एवं विलासिताओं का विकास मानते हैं तो मार्क्सवाद के प्रभाव से प्रगतिवाद यदि एक शताब्दी के अन्तराल पर आया तो उसका भी निराकरण डा० सिंह ने सामाजिक चेतना के प्रभाव से "दीनता एवं गरीबी" के द्वारा कर दिया है। इसी क्रम में यह भी ध्यातव्य है कि पाश्चात्य जगत की रोमान्टीसिज्म का प्रभाव भी लिरिकल बैलेड के प्रकाशन से लगभग १०० वर्ष बाद हिन्दी कविता पर आंका गया है और पश्चिम की अन्यान्य साहित्यिक क्रान्तियों का प्रभाव हिन्दी जगत पर विलम्ब से पड़ता है।

कला के प्रति वस्तुगत दृष्टिकोण दीनहीन एवं शोषित की पक्षधरता तथा कृषकों के प्रति सहानुभूति से आगे अर्द्धशिक्षित मध्यम वित्तीय वर्ग तथा कार्यालयों में कार्यरत क्लर्क एवं नगरों में काम में लगे कर्मचारियों की पक्षधरता का सवाल प्रयोगवाद और नयी कविता के साथ देखा गया है। परवर्ती आधुनिक काव्य चेतना में इतिहासबोध तथा साहित्य का समाजशास्त्र ऐसे प्रतिमान हैं जिनका सम्बन्ध मार्क्सवाद एवं जनवाद की परिधि से कहीं न कहीं जुड़ता है। प्राचीन मध्यकालीन तथा आधुनिक कवियों की रचना के पुनर्मूल्यांकन का चलने वाला सिलसिला आगे नये जीवनमूल्यों की स्थापना तथा प्रासंगिकता की तलाश में लगा है। "छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की आवाज," "रचनाकार का मानवतावाद," "आभ्यंतरिकृत जीवन दृष्टि" आदि ऐसे प्रश्न मुक्तिबोध द्वारा एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्मसंघर्ष, नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र प्रभृति कृतियों में सैद्धान्तिक रूप में उठाये गये तथा व्यावहारिक रूप में "कामायनी" का पुनर्मूल्यांकन करके मुक्तिबोध ने "इतिहास बोध" तथा "मानवतावाद" की व्याख्या का एक नवीन द्वार समीक्षा के लिए खोल दिया। छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की आवाज- समष्टिगत चेतना रूप में प्रगतिवाद के आगमन का कारण है।[1] मुक्तिबोध की इस जीवनदृष्टि के मूल में उनके मार्क्सवादी संस्कार हैं। न केवल मुक्तिबोध अपितु तारसप्तक और दूसरा सप्तक के रचनाकार नेमिचन्द्र जैन, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर, रघुवीर सहाय पर भी मार्क्सवादी चिन्तन का आड़े-तिरछे या सीधे प्रभाव पड़ा है।

१- इस पर पीछे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद में `बौद्धिकता` वैज्ञानिक दृष्टि इतिहासबोध एवं दायित्वबोध के अतिरिक्त स्वच्छन्दतावाद तथा छायावादी संस्कार से मुक्ति के लिये जिन मुहावरों का प्रयोग समीक्षा क्षेत्र में `छठें सातवें दशक में किया जाने लगा है वे भी किसी न किसी सूत्र से ` प्रगतिवादी गोत्र ` में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

मार्क्सवादी चिन्तन पद्धति के अन्तर्गत सत्यान्वेषण तथा ` सत्य की कसौटी `- ` व्यावहारिक सत्य ` फ्रांस की राज्य क्रांति तथा इंग्लैण्ड की पूँजीवादी क्रान्ति के परिणामस्वरूप पहचाना जाने लगा। भारत की परतंत्रता की स्थिति में उत्पन्न हुई ` कविता ` की प्रतिक्रिया ` यांत्रिक भौतिकवाद ` नहीं अपितु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से व्याख्यायित करने की सम्मति डा० रामविलास शर्मा देते हैं। प्रगतिवादी चेतना के माध्यम से ही ` साहित्य किसके लिए ` (कमिटमेन्ट) का प्रश्न समीक्षा में १९४७ के पूर्व उठाया गया। `अज्ञेय ` ने भी विशाल भारत ` पत्र में इस विषय पर विचार किया। ` मानवतावादी लेखक ने उस समय इस आदर्शवादी मुखौटे में छिपी हुई अपनी मध्यवर्गीय स्वार्थपरता के कारण यह नहीं देखा कि उनका ` मानवतावाद ` पैदा किसके कारण हुआ।` निश्चय ही ` नामवर ` एवं ` अज्ञेय ` का यह रचनाकार एवं समीक्षक का मतभेद है जब कि अज्ञेय स्वयं भी ` प्रगतिवाद ` से प्रभावित रहे हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा प्रक्रिया एवं मूल्यांकन के लिए जितने भी ` प्रतिमान ` रचना के गर्भ से निकले या खोजे जा रहे हैं उनमें एक निकष एवं नियंत्रण की भी आवश्यकता है। मार्क्स ने स्वयं कहा है कि ` कला के उच्चतम विकास के कुछ युग समाज के सामान्य विकास से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं रहे हैं। ऐसी कलाकृतियों में न तो समाज के भौतिक आधार का प्रभाव है और न उसमें समाजव्यवस्था की रूपरेखा की कोई झलक ही दिखाई देती है।[4]` इसी क्रम में

(-) नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - मुक्तिबोध

(-) प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य : डा० रामविलास शर्मा, [illegible]

( ) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : डा० नामवर सिंह, सं- [illegible], पृ- [illegible]

( ) लिटरेचर एण्ड आर्ट - मार्क्स एव एंजिल्स

एंजिल्स ने मार्क्स की सामाजिक एवं आर्थिक चेतना से प्रभावित साहित्य के सौन्दर्य पक्ष को स्वीकार किया किन्तु साहित्य पर सिद्धान्त के बलपूर्वक थोपने का विरोध भी किया। जब साहित्य पर सिद्धान्त का आरोप हो जाता है तब उसका स्वरूप विघटित हो जाता है। सिद्धान्तों के आनयन से प्रचारवादी साहित्य का निर्माण हो सकता है किन्तु श्रेष्ठ काव्य का नहीं।"[1] कोई भी संसद तथा किसी महत्वपूर्ण काव्य का सृजन नहीं कर सकती। काव्य का उद्गीरण तो व्यक्ति के मानस में होता है।"[2] यदि "समीक्षा" "सर्जना" के समान ही एक विधा है तो उसके लिए भी कम-बो-बेश यही बात लागू होती है। मार्क्स और एंजिल्स के उद्धरण देने का आशय यह है कि कविता- कला अथवा साहित्य का सम्बन्ध अर्थ-एवं समाज से होते हुए भी साहित्य किसी पार्टी का नारा कर आजारू नहीं होता और सत्साहित्य तो बिल्कुल नहीं राजनीति, इतिहास समाज एवं दर्शन का प्रभाव तो कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि पर पड़ता है किन्तु "कविता" दर्शन, इतिहास, अथवा भूगोल नहीं होती है। इसीलिए अरस्तू ने कला का इतिहास से अन्तर करते हुए कहा कि इतिहास में वह लिखा जाता है जो हो चुका होता है और काव्य कला में यह अंकित किया जाता है कि क्या होना चाहिए। यही सिद्धान्त समीक्षा के सर्जनात्मक पक्ष के लिए भी ग्राह्य है। इसी प्रकार प्रकृति अनुकरण के सम्बन्ध में भी अरस्तू की मान्यता-"जैसी थीं या हैं, जैसी वे हो सकती हैं अथवा जैसी उन्हें होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में "जैसी उन्हें होनी चाहिए" की सीमा में ही श्रेष्ठ काव्य की सर्जना होती है।

एक निश्चित सीमा तक "समाज एवं जातीय जीवन से जुड़े रहने पर भी कलाकार के लिए समन्वित वस्तु की सत्ता ग्राह्य है किन्तु कला के स्तर पर मात्र वस्तु ही सब कुछ नहीं होती। अधिकांश मार्क्सवादी लेखक एवं समीक्षक प्रतिक्रिया की अल्पायुषी सर्जना मानकर "बाजारू" या प्रचारवादी "कवि" की श्रेणी में लग गये। कलात्मक सर्जना के स्तर पर वस्तु को अभिव्यंजित करने की प्रक्रिया कम रचनाकारों के पास थी किन्तु समीक्षकों का "पक्ष वाद" के युग पर प्रशस्त हो गया और कविता अल्पजीवी होने के कारण प्रयोगवाद और नयी कविता के रूप में सामने

1- लिटरेचर एण्ड आर्ट — मार्क्स
2- वही

अथवा " कविता के नये प्रतिमान[1] " की समस्या पत्र-पत्रिकाओं, गोष्ठियों तथा शोध निबन्धों के माध्यम से उठाई जाती रही है। हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप भी इस क्रम में सामने आते गये। हिन्दी नयी कविता के साथ साथ नयी समीक्षा के माध्यम से समकालीन कविता के प्रतिमानों बहस एवं संवाद तीव्रता से आरम्भ हुए।

आलोच्य सर्जना के सहारे उसके बीच से ग्रहण किये गये प्रतिमानों को पर्याप्त मानकर " नये " के पक्षधर समीक्षकों एवं रचनाकारों ने प्रशंसा युक्त अनुशंसा आरम्भ किया तो शास्त्रीय एवं परम्परित प्रतिमानों के पक्षधर आलोचकों ने बार-बार प्रभावोत्पादकता उपलब्धि और लोकजीवन से साहित्य के जुड़ने की सार्थक मांग की। शास्त्रीय एवं स्वच्छन्दता के पक्षधर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० शम्भुनाथ सिंह, डा० शिवप्रसाद सिंह आदि ने रागात्मकता-रसहीनता, सत्य के अन्वेषण का उद्देश्य, प्रयोग की अधूरी अपरिपक्व दृष्टि तथा विदेशी संस्कृति का प्रभाव कहकर " नयी-कविता " के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया। नयी कविता की नवता के प्रशंसक तथा पक्षधर आलोचकों तथा " आधुनिकता " को उद्देश्य मानकर समीक्षा में प्रविष्ट रचनाकारों ने लघुमानववाद, यथार्थवाद, नवीन जीवन मूल्य, विसंगति एवं विडम्बना, प्रयोगात्मकता तथा अर्थ की लय को इतना महत्वपूर्ण बना दिया कि इन्हीं को नयी कविता के प्रतिमान रूप में प्रतिष्ठा मिली। लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती, डा० जगदीश गुप्त, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर आदि ने सम्पूर्ण " नये " को " काम्य " माना। शास्त्रीय प्रतिमान मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध तथा रचनात्मकता " नये " समीक्षकों के लिए ऐसी चुनौती रही कि इसके लिए स्वदेश और विदेश की समीक्षा कृतियों से प्रमाण जुटाये जाने लगे। इलियट, एज़रा पाउण्ड आर्नल्ड, टेनीसन, रिचर्ड्स, मार्क्स-एंजिल्स काण्ट, फ्रायड सार्त्र आदि की मान्यताओं को कभी सही सन्दर्भ पर कभी केवल समीक्षा के लिये नयी समीक्षा से जोड़ा गया। मिथकीय संदर्भ बिम्ब प्रतिबिम्ब, फैन्टेसी तथा रूप और कलावाद की आधुनिक दृष्टि के विरुद्ध जारी परम्परा की अस्वीकृति का क्रम आरम्भ हुआ। इस पक्ष एवं प्रतिपक्ष के अलावा समीक्षकों का एक

१- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, पृ०-

तटस्थ वर्ग भी रहा है जो आग्रह से दूर रहकर निष्पक्ष रूप से कृतिन सर्जना को अपनी परम्परा एवं मूल्यबोध के क्रमिक विकास के अन्तर्गत देखते हुए प्रतिमान की स्थापना करता है। "प्रयोगवाद" का आरम्भ तार सप्तक के प्रकाशन काल १९४३ ई० से माना जाता है किन्तु इस काल का कविता की समीक्षा १९४७ ई० के पूर्व नहीं हो रही थी। "प्रयोगवाद" नाम भी इसके पहले इतना चर्चित नहीं था[१]। डा० विनयमोहन शर्मा के एक निबन्ध- "प्रयोगवादी" कविता के सहारे डा० रामविलास शर्मा ने कहा है कि सन् १९५१ की रेडियो गोष्ठी में पहली बार "प्रयोगवाद" नाम आया जो कविता के छन्द शैली आदि के लिए था। उक्त गोष्ठी में पन्त ने प्रसाद से प्रयोगवादी कविता के आरम्भ की स्थापना की थी और "सुमन" ने पन्त की पल्लव को प्रयोगवादी काव्य कहा था। तार सप्तक की पहली आलोचना "शमशेर" ने की थी[२] और १९५२ ई० में प्रभाकर माचवे ने "प्रयोगवादी" कविता पर दूसरी समीक्षा लिखी[३]। वास्तविक मतभेद और टकराव का क्रम १९५५-५६ में आरम्भ हुआ जब प्रयोगवाद के बीस वर्ष पूरे हो गये तब "नयी कविता" पत्रिका का प्रकाशन समाप्त प्राय हो चुका था किन्तु नामकरण का विवाद, प्रतिमानीकरण की समस्या, प्रयोगवाद तथा प्रगतिवाद का टकराव दूसरे सप्तक एवं तीसरे सप्तक के प्रकाशन तथा तार सप्तक के पुनर्मुद्रण के २० वर्षों के अंतराल में चलता रहा। इन सम्पादकीय एवं टिप्पणियों को क्रिया-प्रतिक्रिया तथा मान्यताओं पर आरोप-प्रत्यारोप किया जाने लगा। छायावादोत्तर समीक्षा में प्रयोगवादी कविता से सम्बन्धित प्रतिमानों का विवाद "प्रतीक" (सं० अज्ञेय) के प्रकाशन १९४७ ई० से चर्चा में आया तथा इससे सम्बन्धित प्रयोग और प्रेषणीयता कविदृष्टि, आखिर रचना ही क्यों, (कलेक्टिवाद)- वस्तुसत्य और व्यक्ति सत्य

१- सन् १९४७ से पहले प्रयोगवाद शब्द का व्यवहार नहीं हुआ। सन् ४६ में शमशेर ने तार सप्तक की जो आलोचना नया साहित्य में की थी उसमें प्रयोगों का जिक्र है प्रयोगवाद का नहीं।
नयी कविता और अस्तित्ववाद . डा० रामविलास शर्मा

२- नया साहित्य (१९४६) पृ० ११०८- ११०८ (डा० रामविलास शर्मा की सूचना के आधार पर)।

३- कल्पना : मई १९५२ हिन्दी की प्रयोगवादी कविता : प्रभाकर माचवे।

आदि की व्यापक चर्चा समीक्षा-काल में त्रिशंकु, आत्मनेपद, नया प्रतीक आदि कृतियों एवं पत्रिकाओं में हुई ।

प्रयोगवादी कविता पर सर्वाधिक चर्चित `टिप्पणी ` आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के लेखों से आरम्भ होती है जिसका प्रभाव `अज्ञेय ` पर इतना गम्भीर है कि वे दूसरे व तीसरे सप्तक तथा आधुनिक साहित्य (निबन्ध संग्रह) में बार-बार उन आरोपों का नामोल्लेख पूर्वक अथवा बिना संकेत के निराकरण करते रहे ।

प्रयोगवाद और नयी कविता से उद्भूत प्रतिमानों पर प्रकाश डालने से पूर्व यह आवश्यक है कि इन दोनों छायावादोत्तर प्रवृत्तियों पर भी संक्षेप में विचार किया जाय,क्योंकि किसी न किसी कोण पर यह नाम भी प्रतिमानों को प्रभावित करता है । यद्यपि प्रतिमानीकरण से सम्बन्धित आरोप प्रत्यारोप में दोनों नाम समानार्थी हैं किन्तु विशिष्ट सन्दर्भ में `प्रयोगवाद ` `नयी कवितावाद ` से मूलतः भिन्न है । नयी कविता व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण `छायावादोत्तर हिन्दी कविता ` के लिए प्रचलित नाम है किन्तु मुख्यतः नई कविता दूसरे सप्तक के प्रकाशन १९५२ ई० से १९६६ ई० तक की कविता के लिए अर्थात् `स्वतंत्रता के पश्चात् से आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की उत्तमाला के प्रकाशन तथा मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद काव्य की विशेष चर्चा तक का काल माना जाना चाहिए । प्रयोगवाद तथा नयी कविता में प्रतिमान गत विभिन्नतायें निम्न बिन्दुओं के आधार पर प्रकट होती है-

१- प्रयोगवाद में रचना के प्रयोग के माध्यम से सत्य और तथ्य का अन्वेषण कृतिकार का उद्देश्य रहा किन्तु ` नयी कविता ` के समय तक `आत्मान्वेषण ` का नया प्रतिमान सामने आया ।

२- कुंठा, संत्रास, अपराधबोध एवं निराशा के साथ-साथ आत्मसंघर्ष-(नयी कविता का आत्मसंघर्ष) प्रयोगवाद में तीव्र रहा किन्तु `नई कविता ` के समय तक शिल्पगत प्रवृत्ति-काव्य- भाषा- रचना की सार्थकता, अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता, अनुभूति की प्रामाणिकता आदि प्रतिमान मुख्य रहे । जिसमें तुलनात्मक संघर्ष प्रस्तुत है ।

३- द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका का जितना गम्भीर प्रभाव प्रयोगवाद के कथ्य और शिल्प पर है वैसा प्रभाव नयी कविता पर नहीं है। डा० रामविलास शर्मा ने "प्रयोगवाद" की शुरुआत तारसप्तक से न मानकर सन् ४७ के प्रतीक से तथा "नयी कविता" को प्रयोगवाद से पृथक् धारा के रूप में १९५४ ई० नयी कविता प्रकाशन काल से माना है[1]। इसी क्रम में डा० शर्मा ने "प्रयोगवाद" पर मार्क्सवाद का प्रभाव तथा नयी कविता पर "अस्तित्ववाद" का विशेष प्रभाव रेखांकित किया है। नेमिचन्द्र जैन जो स्वयं प्रयोगवादी कवि भी हैं, ने साहित्य के दो विभाग किये हैं- (१) अन्तर्मुखी साहित्य, (२) तथा कथित सामाजिक चेतना का साहित्य। अन्तर्मुखी साहित्य से भी जैन का उद्देश्य- "एक तरह की तीखी तीव्रता है जो प्राय. पाठक को असन्न छोड़ जाती है।" यह प्रवृत्ति प्रयोगवादी कविता में है। सामाजिक चेतना के साहित्य को "सारा का सारा अस्वीकार का साहित्य" "जैसे किसी साँचे में ढला हुआ" "प्रचलित नारों और घिसे पिटे विचारों की भरमार" से युक्त माना है। यह नयी कविता में अधिक है। अत. नेमिचन्द्र जैन के इस विभाजन को प्रयोगवाद और नयी कविता का विभाजन मानना उचित है। डा० शिवकुमार मिश्र, डा० शम्भुनाथ सिंह तथा अशोक वाजपेयी ने "प्रयोगवाद" तथा "नयी कविता" को भिन्न काव्यधारा कहा है। डा० रामविलास शर्मा ने "अज्ञेय" के नेतृत्व तक की काव्यधारा को "प्रयोगवाद" तथा मुक्तिबोध के प्रभाव से आगे बढ़ने वाली कविता को "नयी कविता" कहा है क्योंकि "नयी कविता" के समर्थकों ने "अज्ञेय" का कुछा विद्रोह "बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाये" तथा "दूर्वा तुम अक्षय हो अस्त्र हो कवि" कहकर किया था। अज्ञेय की कविता "नये कवि से" की गम्भीर प्रतिक्रिया नयी कविता के "सम्पादकीय" तथा उसी अंक में प्रकाशित कविता में देखी जाती है। डा० गुप्त अज्ञेय को शलाका पुरुष भी कहते हैं।

इस प्रकार "प्रयोगवाद" तथा नयी कविता में अधिकांश प्रतिमानगत समानताओं के रहने पर भी दोनों धारायें भिन्न हैं। "प्रयोगवाद" तथा "नयी

१- प्रयोगवादी प्रवृत्ति का आगमन डा० रामविलास शर्मा, डा० नामवर सिंह, डा० नगेन्द्र, गिरिजाकुमार माथुर तथा गजानन माधव मुक्तिबोध १९३८-३९ से ही मानते हैं। जब रूपाभ का प्रकाशन हुआ।

कविता " के सम्बन्ध में एक विसंगति यह है कि प्रयोगवाद के नियामक अज्ञेय मुक्तिबोध रघुवीरसहाय अपने को नया कवि मानते हैं प्रयोगवादी नहीं । इनकी व्याख्या के अनुसार प्रयोगवादी - कवितावादी एक है । जबकि नयी कविता के रचनाकार तथा समर्थक अपने को प्रयोगवाद से जोड़ते हैं । नकेनवादी भी अपने प्रपद्यवाद को प्रयोग का वास्तविक संवाहक होने का दावा करते हैं ।

" तार सप्तक " के माध्यम से जिस काव्य प्रवृत्ति का जन्म १९४३ से मानने की परम्परा समीक्षा जगत में प्रचलित है डा० रामविलास शर्मा और तार सप्तक से पूर्व की नयी कविता[1] कहते हैं। तथा डा० नामवर सिंह तार सप्तक " इतिहास की आवृत्ति में "एक बिन्दु पर[2] डॉ० रामदरश सहमत है कि १९३६ में ही सम्मेलित रूप से नयी कविता का उद्भव हिन्दी जगत में हुआ और तीनों उपधाराएं प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता आगे चलकर पृथक हो गई । डा० शर्मा " निराला " तथा केदारनाथ अग्रवाल को क्रमशः "नवता " एवं नवीन यथार्थ का प्रयोक्ता कहते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावाद के आरम्भ से पूर्व ही हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद का आरंभ मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त की रचना से स्वीकार किया था । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के उद्भव का अंकुर सिद्ध तथा नाथ साहित्य में तथा रीतिकाल का अंकुर वीरगाथा काल की रचनाओं में देखा है । छायावादी चेतना कालिदास में भी खोजी जा सकती है इस सम्बन्ध में प्रतिमानों के उद्भव की दृष्टि से द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात (१९४३ से) नवता का प्रथम चरण (प्रयोगवाद) तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद (१९५०) से बाद की हिन्दी कविता को द्वितीय चरण (नयी कविता) तथा साठोत्तरी काव्य समीक्षा को किसिम किसिम की कविता के गर्भ से किसिम किसिम के प्रतिमानों का उद्भव (तृतीय चरण) नयी

१- प्रयोगवाद नाम निरर्थक और अव्याप्त होते हुए भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में अब स्थापित तथ्य है । आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : नामवर सिंह, पृ०-१२२

२- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं०- १९८६, पृ०-२२६

समीक्षा के साथ मानना युक्तिसंगत है।

'प्रयोग का प्रतिमान राहों का अन्वेषण

आंगन के पार द्वार से (तारसप्तक की भूमिका में) अज्ञेय ने लिखा था "हम राही हैं- राहों नहीं राहों के अन्वेषी हैं। प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। . . . सर्वमान्य विषयों पर मतभेद है, उनकी रुचियां भिन्न हैं . . . काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है।"[1] तार सप्तक के सम्पादक की इस टिप्पणी की प्रतिक्रिया विभिन्न माध्यमों से व्यक्त की जाने लगी। बार-बार भूमिका में "स्वीकृति- अस्वीकृति," "आशा निराशा "- दावा यह नहीं कि राह उन्होंने पाई है" सदृश कथन से पाठक को असमंजस की स्थिति से गुजरना पड़ता है। रचनाकारों की ओर से इतनी सफाई देने के बाद भी कुछ प्रश्न जो भूमिका के माध्यम से उठाये गये हैं, उनमें राहों का अन्वेषण यदि "ट्रायल एण्ड एरर" मेथड है। तब 'प्रयोग द्वारा साधन-तथा साधना के साधन की खोज" किस प्रकार हो सकती है? इस साधन पर इतना वैचारिक दबाव डालने, बुद्धिवादी स्वीकार करने तथा "अन्वेषी के दृष्टिकोण की समानता का सूत्र मानकर की व्याख्या "अज्ञेय" ने की उससे भी स्पष्ट है कि वे मात्र राही नहीं हैं[2]। किसी वाद या स्कूल के कवि होने से इंकार करना भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। काव्य के प्रति अन्वेषण समीक्षा के पूर्व की क्रिया है जिसे "मुक्तिबोध" आत्मसंघर्ष की स्थिति में मानकर शोध एवं रचना में इसकी परिणति देखते हैं। भले ही वे किसी वाद या स्कूल के न हों किन्तु एक नहीं-बार-बार तार सप्तक प्रकाशन एक ही सम्पादक के नेतृत्व का प्रमाण-पत्र है। अन्वेषी

१- तार सप्तक : (प्रथम संस्करण) अज्ञेय : पृ०- ७ (कवि[illegible] दृष्टि में संकलित)

२- तार सप्तक भले ही इससे पहले से "प्रयोगवाद" का उन्नायक न रहा हो किन्तु मुक्तिबोध कहते हैं कि- "रचनाकारों ने नये प्रयोग किया किन्तु वे वास्तव में प्रयोग नहीं "कविता" थी।

नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : गजानन माधव मुक्तिबोध :

का दृष्टिकोण समानता का सूत्र ढूंढ करने में कोई विशेष सहायता न देता। जब तक कि अन्वेषण में प्रवृत्त व्यक्ति अपना लक्ष्य नहीं जानेगा तब तक वह अन्वेषण क्या करेगा ? हां, यदि अन्वेषों का दृष्टिकोण अति वैज्ञानिक मन के लिए प्रयोग में लाया गया है तो यह समझने का प्रयास करना होगा। इन तथ्यों को पृष्ठभूमि में ही इन स्थापनाओं को समझा जाता है।

मुक्तिबोध ने "एक साहित्यिक की डायरी" में अपने एक बुद्धिवादी मित्र का उल्लेख किया है तथा अज्ञेय ने भी अवसर-अनवसर दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करके पाठकों को चमत्कृत करने का प्रयास किया है। छायावादी रचनाकारों ने भी अपनी कृतियों में अपने दृष्टिकोण के संकेत दिये हैं किन्तु ये संकेत कृति को समझने में सहायक होते हैं और प्रयोगवादियों के संकेत शायद इसलिए न समझ में आते हों कि "बाहर से भीतर की ओर" है। "एक अन्तर्यात्रा - आँगन के पार द्वार" या "द्वार के पार आंगन" - कौन अगाड़ी - कौन पिछाड़ी।" अज्ञेय आगे मुक्तिबोध पीछे" या "मुक्तिबोध आगे अज्ञेय पीछे" या फिर एक वृत्ताकार दौड़ में सम्मिलित सभी सप्तकीय प्रयोगवादी रचनाकारों की आपाधापी, कि कौन कितनी दूर की कौड़ी ला सकता है। इस अन्तर्यात्रा के पड़ावों का समझना न तो मुक्तिबोध के रास्ते से आसान है न अज्ञेय के फार्मूले से ही।

आपसी विरोध और मतभेद मार्क्सवादी (मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे) तथा गैर मार्क्सवादी (अज्ञेय-माथुर) का है। सर्वमान्य एवं स्वयं सिद्ध तथ्यों को नकारना कभी "अस्तित्ववाद" की ओर चलने सोचने के लिए विवश करता है तो कभी मनोविश्लेषण वाद के सहारे यौन कुण्ठाओं को समझा जाता है। कहीं नव रहस्यवाद की प्रेरणा है तो कहीं "अंधेरे में" भटकाव, अन्तराबाह्य उभार तथा मठ और बुर्ज तोड़ने की उतावली देखी जाती है।

यही उतावली "तार सप्तक" के सम्पादक तथा प्रयोगवादी कविता के "शलाका पुरुष"[1] की भी है। "तार सप्तक" के प्रकाशन के पूर्व की अज्ञेय की

१- नयी कविता स्वरूप और समस्यायें : डा० जगदीश गुप्त, पृ०-

"चिन्ता" में रोमानी गीत है। इस संस्कार से मुक्ति पाने की अन्तःसंघर्ष तथा आवेग "अज्ञेय" में बराबर चला करता है। कभी उसकी परिणति यौन कुण्ठाओं की राह का अन्वेषण कराती है तो कभी मार्क्सवाद का पथ त्यागकर आने वाले नवीन प्रयोगवादियों से वैचारिक समन्वय स्थापित करने के लिए "ठहर ठहर आततायी जरा सुन ले" जैसी पंक्तियों द्वारा आक्रोश की मुद्रा दिखायी पड़ी है।[1] यह आवश्यक नहीं कि "राहों के अन्वेषण" की बात "आंगन के पार द्वार" से ही की जाय तो "दुनिया की पाषाणी-भूत चेतना से साम्यवादियों के कटघरे की सीमा में संतुलनात्मक स्थिति की स्थापना" कर ही सके। "चकमक" की चिनगारियां" प्रकाश द्वारा इन्हीं राहें दिखाती है-

परम आश्चर्य। इस गुमनाम खंडहर के अंधेरे में। खुले हैं लाल पीले चमकते नक्शे। खुली ज्याग्रफिया- हिस्ट्री। खुले हैं "फलसफे" के वर्क बहुतेरे[2]

"सभी राहों के अन्वेषी" इन कठिन राहों पर चलने के अभ्यस्त नहीं थे। सबसे बड़ी कठिनाई गिरिजाकुमार माथुर को होती। कहीं उनका धूप की सिलवट में लिपटा हुआ "धूप का टुकड़ा" और गोरी कलाइयों की याद "अनछुई" तारों की रश्मियों से मुक्त न पायी।

प्रयोग के सिद्धान्त से "जीवन-गत-सत्य" तथा "तथ्य" के सम्बन्ध में एकता के सूत्र में बंधे मुक्तिबोध और माथुर को मिला लेकर यदि परखना आरम्भ किया जाय तो उन्हीं की "चार्स बोर्डी- हम नहीं"- भेद खोलेगी बात है राहों का अन्वेषण; "पुराने शब्दों में नया अर्थ भरना" तथा शब्द को शब्द मानकर स्वीकार करने में "प्रयोग" को साध्य न मानकर साधन, दोहरा साधन कहा जाता है। "सत्य" और 'तथ्य' का भेद करते हुए अज्ञेय ने कहा :- "सत्य" वह तथ्य है जिसके साथ हमारे

1- तारसप्तक सं० अज्ञेय प्रथम संस्करण

2- चाँद का मुँह टेढ़ा है - मुक्तिबोध

रागात्मक सम्बन्ध है, बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है, जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती "[१]। तथ्य वस्तुगत सत्य के रूप में विद्यमान रहता है जिससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर उसे आत्मसत्य बनाकर कविता में लाया जाता है। सत्य से साक्षात्कार की यही प्रक्रिया सर्जना और अन्वेषण का साधन होने के कारण दुहरा साधन कही जाती है। मुक्तिबोध ने भी इसे " आभ्यन्तरिकृत जीवन दृष्टि " (आत्मगत सत्य) कहकर बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को "तथ्य " कहा है।[२] (तथ्य + रागात्मक सम्बन्ध = सत्य) अज्ञेय ने प्रयोग द्वारा जिस सत्य को जानना कहा है- मुक्तिबोध ने उसे प्रयोग द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति " कहा है। मुक्तिबोध कलाकार के पक्ष से विचार करते हुए यह अवश्य मानते हैं कि "बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके नवीन दृष्टि से तथ्य को अन्दर में स्थान देकर ~~xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx~~ रचनाकार उनकी क्रियाशील शक्ति से आभ्यान्तरिकृत जीवन को काव्य में कलात्मक रूप में प्रकट करता है। 'जब तक वह ऐसा नहीं करता तब तक वह वास्तविक सर्जना नहीं करता है।[३] सीमित सत्य, सीमित क्षेत्र- सीमित मुहावरे आदि को तोड़कर अर्थप्रतिपत्ति तथा प्रयोगगत सत्य की विवेचना अज्ञेय और मुक्तिबोध ने समीक्षात्मक निबन्धों में की,[६] किन्तु ये स्थापनायें सामान्य पाठक से दूर होती गई। मुक्तिबोध इस कठिनाई से अवगत थे कि " आन्तरिक जीवन के अपने विरोध होते हैं, अपना तनाव होता है। उसमें घनघोर और लड़ाई वाले अपने अनेकानेक मूल्यवान अनुभव और महत्त्वपूर्ण सत्य अभिव्यक्ति- कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाते हैं।"[३] मुक्तिबोध अन्यत्र लिखते हैं कि " लेखक के अंतःकरण में संवेदनात्मक अनुभवों की गहन अन्तर्दृष्टि में समस्त व्यवस्था विकसित होती है।"[४]

१- कवि दृष्टि : अज्ञेय (अर्थ प्रतिपत्ति और अर्थ सम्प्रेषण) अज्ञेय, सं०- 1983
पृ०- ७६

२- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : मुक्तिबोध, सं०-१९७१, पृ०- ११

३- वही, सं०- १९७१, पृ०-

४- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : मुक्तिबोध, सं०- १९७१, पृ०- ११

५(स) परम्परा और प्रयोग   सांस्कृतिक बोध तथा इतिहास बोध :

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के मूल्यांकन में जिन प्रतिमानों के अनुरूप सर्जक से मूल्यों की आशा की जाती है वे मूल्य परम्परा और प्रयोग तथा "प्रयोग और प्रेषणीयता" दो उपखण्डों में विभक्त करके यदि विचार किया जाय तो आगे आने वाली उलझनें कुछ घट सकती हैं। "प्रयोग" की सीमा तथा उसके अन्तर्गत आने वाले 'वस्तु सत्य' तथा 'आत्म सत्य' का रूप, तारसप्तक में सत्यान्वेषण तथा "दूसरा सप्तक" में आत्मगत सत्य की ओर प्रयोगवादियों का झुकाव छायावादी आत्मतत्त्व की (अनुभूति) की ओर कहा जाता है।[1] "अज्ञेय ने भी "प्रसाद" की अनुभूति तथा काव्यानुभूति को परम्परा रूप में ग्रहण करने पर बल दिया है। यह अवश्य है कि "परम्परा" को भी तोड़ मरोड़ कर ठीक बनाकर आत्मसात किया जाय। "जब तक वह इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाय।[2] "नयी कविता के प्रतिमान" पर विचार करते हुए रमेशचन्द्र शाह ने कहा है कि भाषा की मूल प्रकृति में उसके भूगोल इतिहास में कुछ ऐसा है।"[3] यदि "कुछ ऐसा है" - परम्परा या परम्परित जीवन मूल्य मान लिया जाय तो दूसरा पक्ष प्रयोग से सम्बन्धित है जिसके सम्बन्ध में भी शाह आगे कहते हैं कि "निरपेक्ष व्यक्ति संवेदना में ही नये-नये प्रश्नों का आधार है।" पूर्व वर्णित व्यक्ति सत्य यदि "प्रयोग" मान लिया जाय तथा वस्तु सत्य को परम्परा मान लें तो यह स्पष्ट हो जाता है इसी से कही जाती बात नये नये कोणों से दार्शनिक मनोवैज्ञानिक तथा भाषिक संरचना द्वारा कृतिकारों तथा उनके पक्ष में विचार करने वाले समीक्षकों ने कहा है। परम्परा के रूप में समीक्षक सांस्कृतिक दृष्टि, मानवीय संवेदना, करुणा, राग-विराग, जीवन के

१- नयी कविता ने छायावाद से मुक्त समझौता कर लिया हो।
(डा० नामवर सिंह - लक्ष्मीकान्त वर्मा)

२- कवि दृष्टि : अज्ञेय

३- नयी कविता (सम्पादकीय) अंक : ६०-   , सम्पादक- डा०

सम्बन्ध की माँग करता है। जातीय समृद्धि तथा हित चिन्तन साहित्य का इतना महत्वपूर्ण लक्षण है कि "नयी कविता" का बहुत थोड़ा-सा भाग केवल नाममात्र के लिए चर्चित रह जायेगा। इसके विपरीत प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को जान सकता है और अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। इतना तो प्रयोगवाद के पुरस्कर्ता और प्रस्तोता का कथन है। प्रयोग भी अपनी राह भूल चुके हों और खोज रहे हों (अन्वेषी) राहें इतनी शैलियां "कितनी नावों में कितनी बार" "सत्य तो बहुत मिले" बात बोलेगी, चाँद का मुंह टेढ़ा है आदि "प्रयोग" निश्चय ही परम्परा से भिन्न "नवता" के संवाहक हैं। डा० नामवर सिंह ने "नवता" (नयापन) तथा "प्रयोगवाद" की प्रयोगधर्मिता को लगभग समानार्थी कहा है।[1] निरपेक्ष व्यक्ति संवेदना से जाने गये आयातित संस्कार को उन्होंने प्रयोग कहा है। न तो पुरातन परम्परा शाश्वत है न प्रयोग के लिए प्रयोग उचित। दोनों की अतिसरलीकरण की प्रवृत्ति है। जब तक कि सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि (परम्परा) को निरपेक्ष व्यक्ति संवेदना (प्रयोगधर्मिता) की भट्टी में भलीभांति द्रवित करके गलाया न जा सके।[2] डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने केवल प्रयोग को "आत्म तुष्ट भौंडापन संकीर्णता" की संज्ञा दी है[3] तथा डा० शिवप्रसाद सिंह नवलेखन की प्रयोग धर्मी प्रवृत्ति को अभिनिविष्ट एवं रूपविहीन प्रयोग के मोह से मुक्त मानते हैं। नये रचनाकारों की आपाधापी, एक विदेशी अनुकरण तथा अन्य रचनाकारों के अनुकरण को अपरिपक्वता नकलपन तथा अनेकान्त लक्ष्य से मुक्त कहते हैं।[4] यदि रचनाकार वास्तव में सृजन की प्रतिभा से सम्पन्न हो तथा उसे सुदीर्घ सृजनात्मक संघर्ष द्वारा अनुभव के स्तर पर भलीभांति ग्रहण कर पुनः भाषा के स्तर पर उसे "सर्जना" का रूप प्रदान कर सके तो उसका "प्रयोग" सार्थक हो सकता है।

१- जिस प्रकार हिन्दी की रोमैंटिक कविताओं के लिए [illegible] छायावाद संज्ञा दी गई उसी तरह कविता में होने वाले नये प्रयत्नों को प्रयोगवाद नाम दे दिया गया। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : नामवर सिंह, सं०-[illegible], पृ० [illegible]
[illegible]
[illegible]

२- [illegible] : [illegible]
३- [illegible] : [illegible] डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी [illegible] और आधुनिक
४- आधुनिक परिवेश और नवलेखन : डा० शिवप्रसाद सिंह, [illegible] रचना की [illegible])

वह मेरे दर्द को समझ भी पायेगा अथवा नहीं ।[1] अद्भुत अपूर्व स्वप्न की फन्टैसी तथा अन्य विचित्र घटनाओं को शब्द देकर सारे के सारे " अनुभूत " को अभिव्यक्त करना आज की सबसे बड़ी परीक्षा तथा कवि की अस्मिता का सवाल है । घुटन उलझाव के "नदी " जो बन जाते हैं उनमें भयानक-स्वयं प्रस्तुत बातें भी हुआ करती हैं, जिसमें अंधेरे और उजाले की जिन्दगी की सारी व्यथायें हुआ करती हैं । अधिकांश व्यथायें तो मन की मन में ही रह जाती हैं, शेष में से कुछ अभिव्यक्ति का रूप लेकर प्रेषणीय बन पाती हैं ।

भाषिक प्रयोग की यह विवशता "वस्तुगत प्रयोग " तथा शिल्प एवं अभिव्यंजना प्रसाधनों की नवीनता के रूप में सामने आती है । अज्ञेय इस स्थिति को सरकस के कलाकार की स्थिति मानते हैं । अस्ति+ नस्ति के दो मजबूत खम्भों के बीच तनी हुई रस्सी (अज्ञेय) पर चढ़कर कला दिखाने में अभिव्यक्ति के खतरे " भी कम नहीं हैं। रस्सी से टूटकर गिर जाने पर कलात्मकता की रक्षा नहीं हो पायेगी । यदि उस कला में सफल होकर वह अपनी बात प्रेषणीय बनाकर " कथ्य " को भाषा के माध्यम से व्यक्त कर लेता है और वह " कण्टेण्ट " भोगा हुआ यथार्थ प्रेषणीय होकर जन सामान्य तक पहुंच पाता है तो रचनाकार की बहुत बड़ी सफलता है ।

समीक्षा प्रतिमानों के प्रयोग सम्बन्धी मूल्यों में प्रेषणीयता भाषा तथा शिल्पविधि के अतिरिक्त "कथ्य " नवीन भाषिक प्रयोगों का समर्थन रचनाकारों द्वारा किये जाने पर भी समीक्षकों द्वारा इन्हें असफल कहा गया । अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर आदि कवियों के अतिरिक्त ऐसे भी प्रयोक्ता हैं जिनमें कथ्य और शिल्प में बिखराव, बिम्बों का अनर्गल क्षेपः सूत्र तथा प्रतीकों की योजना अस्पष्ट देखी जाती है । डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने प्रेषणीयता की दृष्टि से सफल निराला की " राम की शक्ति पूजा," अज्ञेय की असाध्यवीणा, कुंवरनारायण की संशय की एक रात, मुक्तिबोध की कविता आशंका के द्वीप : अंधेरे में के उदाहरण द्वारा यह प्रश्न उठाया है कि ये रचनायें इस लिए सफल हैं कि इनमें घुटन, संत्रास, कुण्ठा वैयक्तिकता, [illegible], [illegible], असामाजिकता, द्वन्द्व, बौद्धिकता

1- आत्महत्या की कविता और मुक्तिबोध — हंसराज त्रिपाठी

निर्मूल्य विद्रोह संघर्ष और रुग्णता है[1]। निरन्तर नवता, ताजगी और सफलता का कारण क्या इन रचनाओं की संवेदना गत प्रेषणीयता है या ऊपर गिनाई गई " नये मूल्यों " की प्रतिष्ठा से उत्पन्न परिस्थितियां एवं प्रवृत्तियां अथवा नयेपन की विसंगति ? डा० त्रिपाठी ने अनुभूति और संवेदना, बुनावट और बनावट के अतिरिक्त इन कविताओं में स्थित केन्द्रीय वृत्ति का सवाल उठाया है। निश्चय ही " कुछ और " में वे सारे मूल्य या प्रतिमान समाहित हैं जो रचना के कथ्य को खोलते हैं तथा शब्द व्यंजना के अतिरिक्त अर्थ मीमांसा या तत्व-मीमांसा की ओर भी पाठक को ले चलते हैं। घुटन, सन्त्रास, असमाहिति, वैयक्तिकता तथा सत्यान्वेषण भी अनमेल हो सकता है। " राम की शक्ति पूजा " में व्यापक कथ्य, राम द्वारा नियति (शक्ति) के सम्मुख निरस्त्र अवस्था में समर्पण, जो लघुमानव या सामान्य व्यक्ति की समस्यायें इस कविता की प्रभावोत्पादकता में सहायक है न कि यह " रिझाती कम खिझाती ज्यादा है " न इसीलिए कि इसके लिए " क्लैसिकल " समीक्षा का स्केल छोटा पड रहा है। अज्ञेय की " असाध्य वीणा " में केश कम्बली द्वारा नियति के प्रति स्थिर समर्पण तथा एक अन्तर्कथा का प्रेषणीय होना, महत्वपूर्ण है। " अंधेरे में " की अन्तिम पंक्तियां जहां वह मिल सके / मेरी वह खोई हुई / परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्मसम्भवा[3] / जो " विराट " शून्य में प्रकाश की किरणें बनकर इतने सारे कथ्य में बिखरे सूत्रों को जोड़कर पाठक पर एक गम्भीर प्रभाव डालती तथा वास्तविकता से साक्षात्कार कराती है। इसी प्रकार कुंवरनारायण की आत्मजयी या भारती का अंधायुग भी सफल एवं चर्चित रचनायें हैं। इन रचनाओं में संवेदना गत प्रेषणीयता ऐसा सूत्र है जो निराला, मुक्तिबोध, अज्ञेय, कुंवरनारायण तथा भारती को जोड़ देती है। इनमें रचनागत वैशिष्ट्य ही पाठक को आकृष्ट करता है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी " शक्ति और सृजन " में अन्दर बाहर की टकराहट

१- भारतीय काव्यशास्त्र नयी व्याख्या : डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं०-१९७२, पृ०-७
२- नयी कविताएं- एक साक्ष्य : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०-
३- अंधेरे में -: मुक्तिबोध, पृ०- चाँद का मुँह टेढ़ा है में संकलित

देखने का यत्न करते हैं तथा सृजन के रहस्य की आत्मदान के रूप में व्याख्या का माध्यमगत प्रयोग मानते हैं[1]। निराला, मुक्तिबोध और अज्ञेय का गहरे संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ना आत्मदान के कारण है। डा० चतुर्वेदी ने " शक्ति और सृजन " को कथ्य के स्तर पर तथा " भाषिक सर्जना " और " मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या " भी अन्य प्रतिमानों के रूप में देखकर कहा है यह सफलता मुख्यत भाषिक सर्जना- माध्यमगत प्रयोग के कारण है। अज्ञेय ने माध्यम नहीं अपितु अनुभूति की सफलता कहा है। डा०[2] नामवर सिंह ने विजयदेवनारायण साही के कथन हीरे की संरचना (क्रिस्टल की तरह) में मात्र रचना को ही सफल कहा है[3]। जबकि डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने " नामवर- साही " की स्थापना को अपूर्ण माना है जब तक कि इसमें " अनुभूति " का भी मूल्यबोध के स्तर पर सफल उपयोग न हो। डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने आगे कहा है कि " नव्य समीक्षक जिस अनुभूति की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें।" विजयदेवनारायण साही तो आगे व्याख्या करने से रहे,क्योंकि उदाहरण डा० नामवर जी देते हैं। अत प्रत्युत्तर भी देते तो वे ही देते (हो सकता है डा० सिंह ने उत्तर दिया भी हो) नामवर जी ने अन्यत्र अर्थव्यंजना-"तत्व व्यंजना " का संकेत " कविता के नये प्रतिमान " में दिया है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आई० ए० रिचर्ड्स से समर्थित है। विजयदेवनारायण साही यदि व्याख्या करते तो " सृजनशीलता का उल्लेख अवश्य करते। डा० चतुर्वेदी ने भी "भाषिक सर्जना" माध्यम गत सर्जना " में वही कहा है[4]।

इन समीक्षकों में दृष्टिकोण भेद के अतिरिक्त एक सा निर्णय देखा जाता

१- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, संस्करण-१९८६, पृ०- ६

२- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०-

३- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, संस्करण- १९६८, पृ०- ६

४- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं०- [illegible] पृ०- [illegible]

है। सम्पूर्ण कथ्य और अर्थवत्ता के साथ युगीन सन्दर्भ की स्वीकृति होने के कारण उक्त रचनायें सफल है- रहेंगी भी। अब भी प्रतिमान का सटीक समाधान के रूप में निर्णय करना बाकी ही रहा। `विपथगा` के वन की तरह `प्रतिमान` कौन वह, यह अन्य या सभी अथवा कोई नहीं। शक्ति और सर्जना, सृजनशीलता, अभिव्यक्ति की ईमानदारी, अर्थ सन्दर्भ में मतैक्य का एक ही बिन्दु है जिसके निकट तक जाकर भी सभी समीक्षक अपने आग्रही दृष्टिकोण में बंधे रहने के कारण अलग अलग निर्णय देते हैं। सबके संवादी स्वर स्थिति या `स्थिर समर्पण` तक नहीं जाना चाहते क्योंकि युग असामंजस्य, बौद्धिकता, अविश्वास और टकराहट का है। डा० चतुर्वेदी की दृष्टि में `कविता कला या सर्जनात्मकता की परिभाषा अपने आपमें एक अन्तर्विरोधी स्थिति है। इसी प्रकार "काव्य-भाषा` सम्बन्धी निबन्ध में शायद सबसे महत्वपूर्ण तत्व रस भी है पर कभी डा० देवराज ने उंगली उठाई थी। डा० चतुर्वेदी का काव्यभाषावाद -आधुनिक कविता अधिक खरी स्वायत्त कवितावाली बनती गई है। (छंद को पायल उतार कर) संगीत तत्व का सहारा लिये बिना[1]। डा० नामवर सिंह छायावादी संस्कार से मुक्ति भी चाहें तो मान लें या इन्द्रनाथ मदान से पूछा जाय तो `आधुनिकता` को ही प्रेषणीयता का माध्यम मानने लगेंगे।

डा० नामवर सिंह ने लिखा है कि रसात्मक प्रतिमान एक व्यापक और समाकलित काव्य मूल्य है + + + जब पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्त खुलकर प्रयोग में लाये जाने लगे। `रस ने ही हमारा क्या बिगाड़ा है। डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय `वस्तु निष्ठता` के सहारे `अनुभव` तथा अनुभावी `हेत्वाभास` के सहारे नयी कविता की जांच के पक्षधर हैं डा० चतुर्वेदी के प्रतिमान अज्ञेय, डा० नामवर के प्रतिमान मुक्तिबोध तथा शाही की प्रतिबद्धता `बाहर से अन्दर` या `अन्दर से बाहर` के ऊल जलूल सूत्र के साथ। डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने सैद्धान्तिक समीक्षा के स्तर पर अपनी बात कही है। समकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख समीक्षकों में जब ऐसी टकराहट है तो निर्णय कौन करेगा।

निश्चय ही एक प्रतिमान निर्धारित करना किसी मिथक का एक अंश बांध

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं०-१९८१, पृ०-[illegible]
२- समकालीन सिद्धान्त और साहित्य : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, सं०-१९७४, पृ०-[illegible]

लेना है। यह हल " संवेदनात्मक प्रेषणीयता " के द्वारा ही खोजा जा सकता है। जब प्रयोग साधन- दोहरा साधन है तो काव्य की भी दोहरा- तिहरा-साधन दोहरे, तिहरे प्रतिमानों से युक्त जितने भी व्याख्याता हैं उतने या उससे भी अधिक मत। " प्रेषणीयता " के रूप में ग्रहण की गई प्रवृत्ति " प्रयोक्ता " को ललकारती है किन्तु वह इन " प्रयोगों " को दोहरे साधन के रूप में न मानकर सरलीकरण की ओर प्रतिमानों का निर्णय कर बैठते हैं।

४- छायावादोत्तर हिन्दी कविता के रूप एवं शिल्पगत प्रतिमान

भाषा एवं काव्य भाषा -

भाषा व्यक्तिगत स्तर पर मानवीय संवेदना की वाहिका तथा सामाजिक स्तर पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भावात्मक समायोजन कर सांस्कृतिक उत्थान पतन और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बन जाती है । मानव मुख निःसृत या कृत्रिम ध्वनियों का समूह `शब्द` तथा शब्दों का उचित क्रम में प्रयोग- `वाक्य` है जिसमें निहित अर्थवत्ता तथा अभि-व्यक्ति `भाषा` का लक्षण है । भाषा परिवर्तनशील है, यह ज्ञान के साथ बढ़ती है तथा परिवर्तनशीलता के अनुरूप संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर अग्रसर होती है । साहित्य के माध्यम रूप में प्रयुक्त होने पर । `हितेन सह सहितम्` तथा `साहित्य` के अनुरूप + भाषा में रूप एवं शिल्पगत परिवर्तन होते हैं । `काव्य-भाषा` प्रकारान्तर से साहित्य-भाषा की एक भूमिका विशेष है जो अधुनातन समीक्षा में अभिव्यंजनागत प्रतिमान के रूप में बार-बार कविता के मूल्यांकन, शोध एवं ग्रहण का आधार बनती है ।

`भाषा` तथा `काव्य-भाषा` में `भाषा` के पूर्व `काव्य` शब्द का जुड़ना ही परिलक्षित होता है किन्तु `काव्य-भाषा` में भाषा के सहज गुण-अर्थ-बोधन क्षमता` का निषेध नहीं वरन् उसका विस्तार एवं संवर्द्धन होता है यानी सामान्य भाषा से काव्य-भाषा का भेद प्रकृतिगत न होकर मूलत: गुणात्मक होता है[1] । `काव्य-भाषा` रूप में प्रयुक्त होने पर भाषा की ध्वनि, शब्द, अर्थ एवं भाव व्यंजना तथा सम्पूर्ण भाषिक अभिव्यंजना `संवेदना` के उद्देश्य से अनुशासित तथा कवि के आत्म-संघर्ष की सहायिका होती है । जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति की तुलना में कवि अधिक जागरूक सम्पन्न तथा संवेदना के स्तर पर निरन्तर अनुशासित रहता है, उसी प्रकार `भाषा` की तुलना में

१- साहित्य का समाजशास्त्र - डा० नगेन्द्र, सं० १९८२, पृ० १३८ ।

`काव्य-भाषा` की रूप एवं शिल्पगत परिणति अर्थाभिव्यक्ति के अनुरूप आबद्ध और पूर्ण होती है ।

मानव जीवन की अभिरुचि, परिष्कृति एवं सामाजिकता की वृद्धि तथा परिवर्तनशीलता के अनुरूप- भाषा एवं काव्य-भाषा भी निरन्तर परिवर्तित होती तथा क्षण-अनुक्षण-दिनानुदिन नवता को प्राप्त होती है । कविता के माध्यम रूप मे प्रयुक्त भाषा की वैज्ञानिकता संवेदनीयता तथा प्रेषणीयता में उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ ही कविता में रूपात्मक परिवर्तन होते हैं। "जिन अनुभव संस्कारों से कवि की संवेदना का निर्माण होता है वे निश्चय ही कुछ विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों से जुड़े होते है ।"[1] इसीलिए एक कवि से दूसरे कवि की भाषा, एक कालखण्ड से दूसरे काल खण्ड की भाषा भिन्न तथा देश, काल एवं परिस्थितियों के दबाव में अनेक रूप धारण करती और अनेक मुखौटे लगाती है । भाषा में आगत शब्द सार्थक होते है तथा काव्य-भाषा में प्रयुक्त शब्द भी सार्थक नहीं, अपितु `ध्वनि` एवं `लय` तत्व भी सार्थकता से अनुशासित होकर भाषा को प्राणवन्ती, व्यंजनाधर्मी तथा नवनवोन्मेषशालिनी बनाते हैं[2] ।

काव्य-भाषा का इतिहास भाषिक संवेदना एवं अभिव्यक्ति का इतिहास है जिसमे शब्दों की चमत्कृति, ध्वन्यात्मकता, पद एवं नवीन `प्रयोग` की नयी दिशा एवं सम्भावनायें समाहित रहती है । `कला` मे विद्यमान कलाकार की तरह काव्य-भाषा में भी `कवि` अपनी गुणात्मकता एव

१- साहित्य का समाज शास्त्र - डा० नगेन्द्र, सं० १९८२, पृ० १९६

२- साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन - सं० निर्मला जैन
-(समाजशास्त्र और साहित्य) - ले० लुशन गिल्डमान,
सं० १९८६, पृ० २

क्षमता के अनुरूप विद्यमान रहता है । कविता की वस्तु तथा शिल्पगत अभिव्यंजना का मूल्यांकन करते समय कृति के आन्तरिक एवं बाह्य रूप पर विभिन्न कोणों से दृष्टि डालकर उसकी क्षमता के उद्घाटन का प्रयास अधुनातन समीक्षा का `श्रेय ` एवं प्रेय है ।

कहानी, उपन्यास, नाटक आदि गद्यात्मक विधाओं के विकास के साथ ही समालोचना का उदय आधुनिकता की देन है[1]। समाज सापेक्ष्य परिस्थितियों के अनुरूप कविता में जितने भी परिवर्तन हुए हैं उनके अनुरूप व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक आलोचना भी परिवर्तित होती चली गई है । भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग तक `समीक्षा ` का उद्देश्य कृति का परिमार्जन एवं काव्यानुशासन था किन्तु छायावाद युग में `शुक्ल ` `प्रेमचन्द` और `प्रसाद ` के आगमन के साथ ही हिन्दी साहित्य में वास्तविक आधुनिकता के अनुरूप कविता की समीक्षा `अतल स्पर्शिनी ` एवं बहुमुखी हुई । छायावाद युग हिन्दी `काव्य-भाषा` की सृजनात्मक क्षमता का अभिवृद्धि काल है जिसमें भाषा की अभिव्यंजनात्मक क्षमता की परख के साथ-साथ सर्जना एवं समीक्षा में संवादी स्वर सुनाई पड़ने लगा[2]। प्रतिभा सम्पन्न कृतिकार `प्रसाद` द्वारा जहां एक ओर भाषा-गत सम्भावनाओं में अभिवृद्धि हुई वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पर्श पाकर हिन्दी समीक्षा भी उत्तरोत्तर शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, नैतिक एवं स्वच्छन्द होती गयी ।

`कविता क्या है ` का प्रकाशन (१९०९) काव्य में निहित सात्विक

१- डा० नगेन्द्र आधुनिक काव्य भाषा के विकास में गद्यात्मकता का कारण कहानी, उपन्यास आदि गद्यात्मक विधाओं से कविता की निकटता मानते हैं ।

- (नयी समीक्षा नये सन्दर्भ)

२- भाषा और संवेदना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८१, पृष्ठ १३ ।

अन्वेषण के अतिरिक्त उसके बाह्य सौन्दर्य एवं रूप तथा शिल्पगत जिज्ञासा का उद्भव काल है । अभिव्यंजना प्रसाधन के रूप में आधुनिक कविता के रूप एवं शिल्पगत मूल्यांकन के साथ-साथ शब्द-शक्ति, अलंकृति, अप्रस्तुत योजना तथा वाणी के शब्दगत चमत्कार की व्याख्या हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा की गई[1]। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'छायावाद' को परख करते हुए आचार्य शुक्ल ने सर्वप्रथम विश्वभाषा काव्य परम्परा के अन्तर्गत फ्रान्स और जर्मनी की फैन्टसा-मास्मा-शैली तथा ईसाई पादरियों की रहस्यवादी आध्यात्मिक शैली की चर्चा की । पाश्चात्य समीक्षा के क्रमिक विकास के अनुरूप 'रोमान्टिक कविता' की स्वच्छन्दता से छायावादी स्वच्छन्दता की तुलना तथा पन्त निराला एवं प्रसाद की काव्य-भाषा की मूल्यांकन का आधार उन्होंने ही बनाया[2]।

कविता की अभिव्यंजना की परख के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' को आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती संस्करण बताकर 'शास्त्रीय आलोचना' को भारतीय परम्परा पर दृष्टि डालने की प्रेरणा दी । रस, अलंकार, ध्वनि रीति आदि की परम्पराओं की युगानुरूप व्याख्या के साथ-साथ आई० ए० रिचर्ड्स की समीक्षा दृष्टि की सराहना आचार्य शुक्ल ने की थी । डा० नगेन्द्र ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आई० ए० रिचर्ड्स की समीक्षा दृष्टि की तुलना

१- चिन्तामणि (भाग १) कविता क्या है, काव्य में अभिव्यंजनावाद, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, भाव या मनोविकार आदि निबन्ध समालोचना की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है ।
(इण्डियन प्रेस प्र०)

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० २०४१ ।

करते हुए दोनों सुधी समीक्षकों के मत से ‘कविता के रचना पक्ष’ पर दृष्टि डालकर लोकानुभूति एवं काव्यानुभूति पर भी विचार किया है[1]। डा० नामवर सिंह इसे आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण में परिवर्तन कहते हैं ।

आत्मवादी दार्शनिक बेनिदित्तो क्रोचे ने ‘अभिव्यंजना’ को कला की संज्ञा प्रदान करते हुए स्थापना की थी कि ‘अभिव्यंजना आन्तरिक मानसिक व्यापार है’ जो पहले अनुभूति (इम्प्रेशन) पुन: सहजज्ञान (इन्ट्यूशन) तथा बाद में अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) के रूप में रचना में आता है । ‘कला’ को ‘सहज ज्ञान’ या ‘स्वयं प्रकाश्य ज्ञान’ कहते हुए उन्होंने तर्कशास्त्र दर्शन आदि को प्रत्यय पर आधारित ज्ञान बताया[2]। ‘कला’ के सौन्दर्य पक्ष को ‘आत्म-ज्ञान’ सदृश बताकर क्रोचे ने भले ही बाह्य आकर्षण तथा अभिव्यंजना के ‘रूप’ पर प्रश्न चिह्न लगाया हो किन्तु ‘काव्यालोचन’ की विकास यात्रा में उनकी यह स्थापना स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों के लिए प्रस्थान बिन्दु बनी ।

काव्य-शास्त्र में ‘अभिव्यंजना’ का प्रयोग न होते हुए भी भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा में कविता के आन्तरिक एवं बाह्य सौन्दर्य की समान विवेचना की गई है । आचार्य भरतमुनि की ‘रसात्मक’ अवधारणा को कविता के बाह्य सौन्दर्य से जोड़ते हुए आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ के सहित को काव्य कहा[3] तथा दण्डी ने उस परम्परा को आगे ‘शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली’[4] के रूप में बढ़ाया । वक्ता को अभिव्यक्ति का सौन्दर्य

१- कृतिकार - डा० नगेन्द्र, स० १९८०, पृ० १५५

२- इन क्रोचेज फिलॉसफी आर्ट इज नथिंग बट एक्सप्रेशन आफ दि इम्प्रेशन्स ।
— स्काट जेम्स (एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ लिटरेचर

३- शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - भामह - काव्यालंकार

४- काव्यादर्श

माने हुए `वक्रोक्ति मत' के प्रवर्तक कुन्तक ने `शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनि । बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि'[1] कहा । अलंकार विरोधी आचार्य मम्मट ने `तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[2] कह कर दोष रहित गुणयुक्त शब्दार्थ को कविता कहा तो विश्वनाथ ने `वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर पुनः कविता के आन्तरिक पक्ष पर विशेष बल दिया[3] किन्तु पण्डितराज ने सबका समाहार `रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[4] कह कर `शब्द' और अर्थ की रमणीयता तथा दोनों तत्वों के उचित सामंजस्य पर ध्यान केन्द्रित किया । इस प्रकार शब्द और अर्थ के व्यंजनागत व्यापार पर ही भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा आधारित है ।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के परवर्ती चरण में `स्वच्छन्दतावादी' दृष्टि के उन्मेष के साथ ही काव्यानुभूति रसानुभूति, कल्पना, प्रेषणीयता, प्रभावोत्पादकता तथा `व्यंग्यार्थ' की व्यंजना को आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की ध्वनि एवं ध्वनिरसवादी व्याख्या का समयानुसार उपयोग डा० नगेन्द्र[5] तथा आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी[6] द्वारा किया गया । छायावादोत्तर काल की प्रगति एवं प्रयोगवादी कविता के रूप में `नयी कविता' के उद्भव काल में पश्चिम में भी `नयी समीक्षा' का उदय हुआ । इस नवता में `ब्लूम्सबरी स्कूल' के आलोचक वर्जीनिया वुल्फ, ई० एम० फास्टर आदि ने `कला' को जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार करते हुए कलानुभूति अथवा सौन्दर्यानुभूति को जीवन के अन्य अनुभवों से भिन्न एक असाधारण एवं स्वतंत्र मनोवेग के रूप में प्रतिष्ठित किया[7] । यह दृष्टि `कला कला के लिए' से प्रेरित तथा `कलामूल्य'

1- वक्रोक्तिजीवितम् - कुन्तक
2- काव्यप्रकाश — मम्मट
3- विश्वनाथ कृत - साहित्यदर्पण, (सं० डा० सत्यव्रत सिंह)
4- रस गंगाधर - पण्डितराज जगन्नाथ (सं० डा० केदार नाथ)
5- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र
6- रस सिद्धान्त- की समस्याएं — आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
7- नयी समीक्षा की समस्याएं - डा० नगेन्द्र, सं० १९७०, पृ० १३ (भूमिका) ।

को ही जीवन मूल्य रूप में स्वीकृति प्रदान करती है । इसी से आगे चल कर 'रूप और कला वाद' का जन्म हुआ । वास्तव में इनका विरोध स्वच्छन्दतावादी काव्य मत से अधिक था । कलावादी या सौन्दर्यवादी समीक्षा सम्प्रदाय से इनका विशेष विरोध नहीं था । इसी समय आई० ए० रिचर्ड्स, एफ० आर० लिविस तथा एम्पसन आदि समीक्षकों ने रोमानी मूल्यों के स्थान पर वस्तुपरक काव्य-मूल्यों का समर्थन किया । इनका मुख्य लक्ष्य मूर्त सौन्दर्य चिन्तन एवं कलात्मक छटा के स्थान पर रचना की आन्तरिक अन्विति तथा शब्दार्थ विश्लेषण के माध्यम से प्रमाता की आन्तरिक वृत्तियों का विश्लेषण था[1] । टी० एस० इलियट का समीक्षा क्षेत्र में पदार्पण इसी समय हुआ, जिन्होंने रोमानी भावुकता तथा कला मूल्यों के विरुद्ध जीवन[2] के संकट बोध संत्रास, जटिलता एवं तनाव को कविता में महत्वपूर्ण माना । यह संयोग ही कहा जायगा कि 'प्रयोगवादी कविता' की समीक्षा के क्रम में कृतिकार 'अज्ञेय' मुक्तिबोध तथा समीक्षक डा० नामवर सिंह, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डा० धर्मवीर भारती, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने 'नयी कविता' की नवता के लिए 'छायावादी' संस्कार से मुक्ति का नारा दिया । 'नयी कविता के प्रतिमान' के लेखक ने 'यथार्थ बोध के नये धरातल' की खोज के लिए 'जीवन और उसके सत्य' को सबसे बड़ा यथार्थ कह कर यह मुद्दा भी दिया कि छायावादी मान्यता का 'खण्डन' उसका लक्ष्य है अथवा नये धरातल की विवेचना । कहने का तात्पर्य यह कि 'नयी कविता' के 'प्रतिमान' के अन्वेषी ने 'प्रतिमान' का अन्वेषण किया हो या नहीं किन्तु छायावादी रूढ़िवादी संस्कारों तथा काव्य प्रवृत्तियों को इतना कोसा है कि पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्ति तथा समीक्षा दृष्टि का विरोध केवल विरोध के लिए 'एक नवीन प्रतिमान जैसा लगता है[3] । 'नयी कविता' के समीक्षकों के लिए 'छायावादी संस्कार से मुक्ति' एक ऐसा आन्दोलन रहा

१- नयी समीक्षा के सन्दर्भ - डा० नगेन्द्र, सं० १९७४, पृ० ५

२- पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र - आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

३- नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकान्त वर्मा, सं० २०१९, पृ० १०३-१०६

है जिस पर शाही के अन्वेषी तथा अनुगामी चलते रहे हैं। 'कविता के नये प्रतिमान' के लेखक ने डा० नगेन्द्र की छायावादी काव्य-दृष्टि को आड़े हाथों लेते हुए 'रस सिद्धान्त' की अस्मिता को 'नगेन्द्री दृष्टि' कहकर नकारा तथा 'नयी कविता' की उपलब्धियों को गैर छायावादी दृष्टि के रूप में स्वीकार किया है[1]। 'भाषा और संवेदना' के लेखक ने भी इस यज्ञ में अपने विचारों की आहुति तो दी किन्तु 'काव्य-भाषा' के विकास का प्रस्थान बिन्दु 'प्रसाद' को मानते हुए निराला को भी महत्त्व दिया[2]। डी० डी० एन० शाही ने प्रयोगवाद (नयी कविता) की सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया के लिए 'अज्ञेय' और 'प्रसाद' को आमने सामने खड़ा कर दिया[3] तथा मुक्तिबोध ने नये साहित्य का (स्वतन्त्र) सौन्दर्यशास्त्र रचकर 'अव्यक्त अनिवार आत्म सम्भवा' की खोज की[4]। पश्चिम की नयी समीक्षा पर रिचर्ड्स, एम्पसन एवं इलियट का प्रभाव परवर्ती चिन्तन-धारा में क्रिया-प्रतिक्रिया रूप में ग्रहण किया गया और 'आलोच्य' काल की समीक्षा में भी प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के नये जीवन मूल्यों के अन्वेषी समीक्षकों ने एक स्वर से 'स्वच्छन्दतावाद, छायावाद, रोमानी संवेदना, कल्पना, आदर्शवाद तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य-शास्त्र की परम्परा को नकार कर 'अर्थ की लय', 'विसंगति एवं विडम्बना', अभिव्यक्ति की ईमानदारी, जटिलता एवं तनाव, आत्मसंघर्ष आदि को 'नयी कविता' के नये प्रतिमान रूप में प्रतिष्ठित कर इन्हें कविता का 'शाश्वत प्रतिमान' कह कर सन्तोष किया।

१- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, स० १९६८, पृ० ४१-४३-४७।

२- भाषा और संवेदना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९६१, पृ० १३-१७

३- अनुभावन के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस - डी०डी०एन० शाही, नयी कविता (पत्रिका) अंक (५-६)।

४- नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र - मुक्तिबोध, सं० १९७१

स्वरूप और समस्याएँ

`नयी कविता  उद्भव विकास और रूप` में डा० जगदीश गुप्त वैचारिक दृष्टि से जितनी उलझनों के कारण अनिर्णय या मौन की स्थिति में हैं, गिरिजा कुमार माथुर की समीक्षा दृष्टि नयी कविता सीमा में सम्भावनाओं में उतनी ही साफ है।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के अभिव्यंजना पक्ष पर विचार करने से पूर्व तत्युगीन `काव्यात्मक` एवं `समीक्षात्मक` दृष्टियों की तुलना, रूप और कलावाद से सम्बन्धित दृष्टि बनाम साहित्य के समाजशास्त्र का विकास एवं `सापेक्षवाद` पर भी एक तुलनात्मक दृष्टि डालना उचित है। पश्चिम में `कला-कला के लिए` के विपरीत मार्क्सवादी यथार्थ तथा अति यथार्थवाद की समाजशास्त्रीय तथा वस्तुपरक समीक्षा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। `नयी समीक्षा` का एक किनारा `अमेरिकन` समीक्षा को छूता है तो दूसरा किनारा मार्क्स (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) फ्रायड (मनोविश्लेषणवाद) तथा सार्त्र (अस्तित्ववाद) को समाहित करता है। `प्रगतिवादी` समीक्षकों ने शिल्प, रूप और तन्त्र को `द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद` के सहारे कृति में स्थित `भावात्मकता एवं रूपात्मकता का द्वन्द्व कहा है। `नयी कविता` का आन्दोलन प्रगतिवादी समीक्षकों के अनुसार केवल शिल्प तथा रूप-विधान गत आन्दोलन था[1]। इस मत से न केवल तद्युगीन काव्य अपितु सम्पूर्ण काव्य-धारा को मार्क्सवादी विज्ञान चेतना के अनुरूप विकसित एवं व्याख्यायित किया जाने लगा। `प्रयोगवाद` प्रायः

१- हिन्दी के ये प्रयोगवादी कवि कभी विषय-वस्तु की चर्चा नहीं करते। इनका नया रूप विधान और रागात्मक सम्बन्धों के नाम पर केवल समाज निरपेक्ष मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिकता का सहानुभूतिपूर्ण मौखिक अलंकार है। इसी आत्म हीनता के कारण वे विषय-वस्तु पर जोर नहीं देते।

डा० नामवर सिंह का मत - डा० रामविलास शर्मा द्वारा `नयी कविता और अस्तित्ववाद` में पृ० २८ पर उद्धृत।

'प्रयोगवाद' तथा 'नयी कविता' पर आधारित समीक्षा का वस्तुगत चिन्तन १९४७-५६ ई० के बीच विकसित हुआ जिसका एक टकराव पहले छाया-वादी प्रवृत्ति से था और बाद में दूसरा मोर्चा प्रगतिवादी धारा से बन गया।

समीक्षा प्रतिमानों के अध्ययन एवं अनुशीलन के क्रम में कृति के वस्तु (तत्व) एवं शिल्प गत (अभिव्यंजना) मूल्यांकन की दो भिन्न दिशायें 'नये सौन्दर्य-शास्त्र' में परखी जाने लगी है। 'नये साहित्य' की नयी दृष्टि से 'गतिज सौन्दर्य' नये यथार्थ की खोज, तनाव, संवेदना के मोर्चे पर कृतिकार का आत्मसंघर्ष तक अनुभूति की जटिलता आदि नये बिन्दु कुरेदे तथा उभारे जाने लगे हैं। इसी क्रम में काव्य-भाषा, प्रतीक, बिम्ब, मिथक, जीवन गत मुहावरे तथा वाक्य रूपाकार को भी शाश्वत प्रतिमान की संज्ञा दी गयी।

पूर्व निश्चित घेरे से बाहर निकल कर नई राहों का अन्वेषण करते हुए पुरानी पड़ती हुई 'अर्थ की केंचुल फाड़ कर उसमें नया अर्थ भरने के' उद्देश्य से प्रयोगवाद के कवियों ने 'अज्ञेय' के नेतृत्व में 'शब्द' को नया कल्प दिया। 'प्रयोग' की आवश्यकता से भाषागत 'दोहरा साधन' अथवा काव्य-भाषा को ही दोहरा साधन मानने का उद्देश्य मुख्यतः अज्ञेय का दृष्टिकोण है। 'भाषागत प्रयोग की नवीनता कवि का मौलिक धर्म है। 'कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है। वह शब्द को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है।[1] अज्ञेय ने 'शब्द को नया संस्कार देना भाषागत - नवीन अन्वेषण के लिए आवश्यक माना है। 'संस्कार देना' (चमत्कार उत्पन्न करने के लिए) तथा 'सत्य' से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर 'सत्य' रूप में काव्य में प्रयोग हेतु सहगामी क्रियायें हैं। 'क्रोचे' ने इसी को 'सहजज्ञान' तथा अभिव्यंजना कहकर काव्य को कला कहा है। पूर्ववर्ती अभिव्यंजना में कवि की मानसिक क्रिया को प्रधानता दी गई थी किन्तु 'नयी कविता' की वैचारिक सीमा में वह फिट नहीं बैठ रहा था। क्योंकि

१- दूसरा सप्तक - अज्ञेय - भूमिका (कविदृष्टि), पृ० [illegible]

नयी समीक्षा में 'रूप और शिल्प' के आधार पर वाक्य निर्मित को विशेष महत्व दिया गया जबकि जयशंकर प्रसाद ने पहले ही कविता की परिभाषा में काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' तथा 'श्रेयमयी प्रेय-रचना' कहा था[1]। 'अज्ञेय' और 'प्रसाद' के दृष्टिकोण का मूल अन्तर छायावादोत्तर कविता के दृष्टिकोण का अन्तर है। 'संकल्पात्मक अनुभूति' तथा 'रागात्मक सम्बन्ध' में तो समानता है किन्तु जब नयी कविता के प्रणेता यह कहते हैं कि काव्य के शब्द का अर्थ विश्लेषण, विकल्पन या विज्ञान से नहीं अपितु 'रचनात्मक ज्ञान धारा' से ग्रहण किया जाना चाहिए तो यह 'वाक्य' तथा वस्तुगत रूप को प्रधानता देने के कारण है। 'काव्य के जो भी गुण बताये या बताये जा सकते हैं वे अन्ततः भाषा के ही गुण हैं[2] तथा 'कविता के प्रयोग में भाषा प्रयोग की मूल और केन्द्रीय स्थिति है[3] सदृश स्थापनायें 'बाहर से भीतर की ओर' से जुड़ जाती हैं। इसी आधार पर डा० बी० डी० एन० साही ने प्रसाद की छायावादी सौन्दर्य दृष्टि तथा अज्ञेय की छायावादोत्तर सौन्दर्य दृष्टि में अन्तर किया है।[4] 'उत्कृष्टतम भाषा का उत्कृष्टतम क्रम' की 'कालरिज' की मान्यता तथा 'एजरापाउण्ड' की 'अधिकतम सम्भव अर्थ से सम्पृक्त रूप में काव्य भाषा की स्वीकृति[5] अज्ञेय, डा० चतुर्वेदी तथा साही के विचारों से मिल जाती तथा 'छूती काटती चलती है।'

1- काव्य कला तथा अन्य निबन्ध - जयशंकर प्रसाद,

2- सीढ़ियों पर धूप - (रघुवीर सहाय) - भूमिका, अज्ञेय

कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह द्वारा उद्धृत, पृ० ९६

3- भाषा और संवेदना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९८१, पृ० १९

4- वही ,, ,,

5- नयी कविता : उद्भव विकास और रूप में - डा० जगदीश गुप्त द्वारा उद्धृत।

तारसप्तक के प्रकाशन काल (१९४३ ई०) से चौथे सप्तक की भूमिका लिखते समय तक 'अज्ञेय' के लिए प्रेषणीयता की चुनौती बराबर चुनौती बनी रही । अभिव्यंजना के स्तर पर भाषिक प्रयोग की कमजोरी से वे कृतिकार या समीक्षक रूप में सतत् संघर्ष भी करते रहे । तारसप्तक के प्रकाशन के समय (१९४३ ई०) के सत्यान्वेषण का उद्देश्य था 'पुराने शब्द मे नया अर्थ भरना' तथा 'प्रयोग' था 'प्रेषण की क्रिया और उसके कारणों को जानने का साधन'।[1] मुक्तिबोध इसे आत्मसम्भारि कृत जीवन-दृष्टि' के परिणामस्वरूप निर्मित अर्थानुभव का अनुसन्धान कहते रहे[2]। दूसरा सप्तक की भूमिका लिखते समय 'अर्थ प्रतिपत्ति और अर्थ सम्प्रेषण' की समस्या 'प्रयोग' के स्थान पर आ गई[3] । समीक्षकों द्वारा नयी कविता की दुर्बलता पर साधारणीकरण' की कठिनाई का जो आरोप लगाया जा रहा था उसका समाधान उन्होंने 'सम्प्रेषण के प्रयोग-रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का अधिकार'[4] द्वारा किया । इस प्रक्रिया में 'परम्परा' आड़े आती देखकर उन्होंने टी० एस० ईलियट की तरह 'ठोक बजाकर तोड़ मरोड़ कर' चेष्टा पूर्वक ध्यान रखकर 'संस्कार विशेष के वेष्टन मे' आई परम्परा को अपनाने की सिफारिश की[5]। किन्तु 'मुक्तिबोध' ने इसका भी विरोध करते हुए अपने मत की स्थापना की । आलोचक या प्रमाता की मांग पर परिवर्तन न करने की 'जिद' इन शब्दों में प्रकट हुई है । 'नई कविता के पास अपनी कोई विशिष्ट दार्शनिक धारा विचारधारा नहीं है ।' 'लगभग सभी कवियों में विकसित विश्व-दृष्टि का भाव है', सामोधाग विचारधारा

१- दूसरा सप्तक - (भूमिका) - कवि दृष्टि - अज्ञेय, सं० १९८३,पृ०७४-७७

२- नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र - मुक्तिबोध, सं० १९७१, पृ० ११

३- दूसरा सप्तक (भूमिका)- कवि दृष्टि, सं० १९८३, पृ० ७६

४- वही

५- वही

का अभाव है । इस चिन्ताधारा के अभाव का दुष्परिणाम यह हुआ कि एक परिस्थिति के भीतर पलते हुए मानव हृदय को पर्सनल सिचुएशन की कविता हो गई । 'अभिव्यक्ति शैली' तथा प्रतीक सम्पदा में वृद्धि के साथ-साथ 'यह पर्सनल सिचुएशन यहाँ तक बढ़ गई कि कवियों के अपने 'एस्थेटिक पैटर्न्स' बनकर बद्धमूल हो गये ।'[2] इसीलिए नयी कविता की अभिव्यंजनागत दुर्बलता के कारण या तो अनुकरण - सतही अनुकरण की प्रवृत्ति देखी गई या फिर अपनी-अपनी ढपली का अपना अलग राग निकला । सैद्धान्तिक विचारधारा के अभाव में भी बाहर से एक जैसे स्टेटमेन्ट दिये गये किन्तु प्रायोगिक स्तर पर कहीं सफल तो कहीं असफल होने के कारण 'नयी कविता' में व्यक्ति स्वातन्त्र्य' या 'मानववादी' होने का दावा किया गया[3] । यह एक विरोधाभास की स्थिति है । एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं सत्य, अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उसके बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है ।' किन्तु यह दृष्टि अति सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण या तो 'सीमित क्षेत्र के सीमित मुहावरे से अभिव्यक्त हुई या फिर बाहर निकल कर सोचने का जोखिम उठाया गया ।

तीसरे सप्तक की भूमिका का शीर्षक अज्ञेय ने 'नयी कविता प्रयोग के आयाम' दिया । इस समय तक प्रेषण को स्पष्ट और निश्चित बनाने के लिये शब्द के प्रति नये 'मानववादी' दृष्टि पर रचनाकारों का मतैक्य रहा

१- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - मुक्तिबोध, सं० १९७१, पृ० ५२

२- वही वही ,, , पृ० ५४

३- डा० रामविलास शर्मा इस प्रवृत्ति को 'राजनीतिक पार्टी की ही रचना मानते हैं ।

मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य में संकलित निबन्ध 'अनास्था और अवसाद का साहित्य', सं० १९८४, पृ० २८० ।

किन्तु चौथे सप्तक में उन्होंने स्वीकार किया कि आज की कविता में 'मैं' पूरी तरह छा गया है । आज की कविता बहुत बोलती है जबकि कविता का काम बोलना नहीं है ।[1] कुछ दुर्बलताएं प्रयोगवादी रचनाकारों में ('कुछ' को छोड़कर) गम्भीर साधना का अभाव, तथा ओढ़ा हुआ राजनीतिक पार्टी की तरह का अनुशासन, साम्प्रदायिकता जैसी तैसी घिसने वाली रचना शैली मुहावरे, बिम्बों लय-विधान आदि की समानता नयी कविता की नयी अभिव्यंजना में देखा जाती है ।[2] इसी दुर्बलता को डा० शिवप्रसाद सिंह, डा० शम्भुनाथ सिंह तथा डा० रामविलास शर्मा ने टी० एस० ईलियट तथा अन्य पाश्चात्य रचनाकारों का अनुकरण कहा है ।

इन्हीं 'वाद' एवं प्रतिवादों की आधुनिकता तथा समकालीनता के दबाव में छायावादोत्तर युग की नयी कविता के लिए 'नयी कविता के प्रतिमान' तथा 'कविता के नये प्रतिमान' के आरोप-प्रत्यारोप में अभिव्यंजना-प्रसाधन अर्थात् रूप एवं शिल्पगत प्रतिमान उभर कर सामने आया है । इन प्रतिमानों में 'काव्य-भाषा' नूतनशीलता, सपाट बयानी, नये जीवन मूल्यों से ग्रहण किये गये प्रतीक, शब्द-चित्र या भाव-चित्र (बिम्ब) फैन्टेसी-स्वप्न गाथा, निजकीय परिदृश्य तथा अनुभूति की प्रामाणिकता से जुड़ी हुई जटिलता और तनाव प्रमुख हैं । मार्क्सवादी चेतना के प्रभाव से उद्भूत वस्तुगत दृष्टि-जिसे मुक्तिबोध 'दृष्टि-विकास का संघर्ष' कहते हैं, से युक्त काव्य-भाषा की गद्यात्मकता भी इस प्रकरण में उल्लेखनीय है । एक समीक्षक ने

१- चौथा सप्तक (भूमिका)-(कवि दृष्टि) - अज्ञेय, सं० १९८२, पृ० १३
(बात बोलेगी हम नहीं भेद खोलेगी बात ही)

२- नयी कविता सीमायें सम्भावनायें - गिरिजाकुमार माथुर, सं० १९७४, पृ० १३७
([illegible] शैली, शिल्प और भाषाओं के उपयोग में दृष्टिगोचर होता है, जिसने इधर नयी कविता को एक पैटर्न में बांध दिया है ।)

समकालीन कविता के लिए `काव्य-भाषा को जीवन की गहराइयों या उथलेपन की अभिव्यक्ति के कारण सर्वथा उपयुक्त प्रतिमान कहा तो अन्य समीक्षक ने इसे छायावादी भावुकता एवं संस्कार से युक्त `भाषा-स्खलन` तथा `वैचारिक स्खलन` का प्रतिपादन कहा ।

अभिव्यंजना के स्तर पर किये जाने वाले काव्य-भाषा के नये-नये प्रयोगों के कारण `राहों नहीं राहों के अन्वेषियों ने इतनी राहें खोजी कि भाषागत प्रतिमान की सारी मर्यादा टुकड़े-टुकड़े में बिखर गई[१]। `जलसाघर` के रचनाकार ने वेश्याओं के विभिन्न अंगों पर निगाह रखी। श्रीकान्त वर्मा एक सर्वेक्षण कर्ता की तरह सड़न, गलन, बदबू तथा वेश्याओं के बाजारों की भाषा का प्रयोग कर अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रमाण तो देते रहे किन्तु उन्हें अपने पथ-प्रदर्शक शलाका पुरुष का सिद्धान्त वाक्य ही भूल गया। - - सड़ा दे दो। गला दे दो। बजा दो। उच्छिष्ट दो तक ही[२] अज्ञेय की सीमा रही जिसे[३] लाँघ कर उन्होंने कुलबुलाते कीचड़ की बदबूदार सड़कों पर चक्कर लगा डाला।

एक की पुरानी रुचि[४] `तुम हमें फूल दो` है तो उससे भी नये रचनाकार को `चमता है कीच` दिखायी देता है और उस दुर्गन्ध में से `इत्र` निकाल कर वह उसे नई गन्ध कह कर नया रंग समझकर कविता में प्रयोग में लाता है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्वीकार किया है कि, "यह काफी स्पष्ट स्थिति है कि नयी कविता के अधिकांश कवि नये पुराने उगल चुके और बीत से दिख रहे हैं।" वे अब अपने को ही दुहरा रहे हैं उनमें

१- तार सप्तक (भूमिका) अज्ञेय - (प्रथम प्रकाशन)

२- `मैंने पाँच से कहा : अज्ञेय

३- जलसाघर : श्रीकान्त वर्मा

४- जलसाघर : श्रीकान्त वर्मा

किसी नई दिशा का सन्धान नहीं मिलता[1]। कोई 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है, तो किसी को नपुंसक हताश, निराश, दिशाहीन लोग पसन्द आते हैं। ठिगने, बौने, रुग्ण, निराश, 'गंदे कफ', तथा 'बासी थूक' सदृश दिखाई पड़ने वाले इन चित्रों में संवेदना के नयेपन की जितनी भी सराहना की जाय कम है। डा इनमें प्रयुक्त मुहावरे, शब्द-व्यंजना, शिल्प और बीते हुए मूल शब्द के लिए जब उनका ही समर्थक विरोधी बनकर 'बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाये'[2] की कोशिश महसूस करता है तो नयी तरह की 'प्रशस्ति' में 'पुरानी' नयी कविता तथा 'नयी' नयी कविता आमने सामने आ जाती है। नयी कविता का यही नया यथार्थ तथा अनुभव का नया धरातल है। वहाँ तक जाने के लिए 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पढ़ने तथा 'बदलाव' का 'बदला' देखने की जगह राजकमल चौधरी को गुरु बनाना पड़ सकता है। 'भूमिका' से कुछ शब्दों को जानना आवश्यक हो जाता है। 'सार्त्र' को भी आवश्यकतानुसार बुलाया जाता है। कामू 'काफ्का' और कोकैनाई को भी चोर दरवाजे से 'नये' रूप में ला दिया जाता है। अभिव्यंजनागत इस 'नाटक' के कितने सीन तथा कितने मुखौटे हैं यह तो आगे देखा जायगा। इन्हीं नये रचनाकारों की आलोचनात्मक भाषा को ही यदि 'काव्य-भाषा' का रूप मानकर पढ़ा और समझा जाय तभी इनकी तर्कयुक्त नग्न होती हुई भाषा उलझती हुई संवेदना, अबर्थ बोध: के मूल से जुड़े किन्तु प्रत्यक्षतः टूटे बिम्बों के टुकड़े तथा सिर के बल खड़ा होकर देखने पर समझ में आने वाले प्रतीक, गणित के फार्मूले की तरह लगाया जाने वाला 'साहित्य-शास्त्र' समझ में आ सकता है। किन्तु हाँ, यह ध्यान रहे कि जब इस सम्प्रदाय में दीक्षित होना हो तो यही 'भाषा' स्वयं भी अपनानी

१- भाषा और संवेदना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं० १९६४, पृ० ६५

२- अशोक वाजपेयी की लेख माला - (हिन्दुस्तान)

* फिलहाल में संकलित, सं० १९७०, पृ० ८६

पड़ेगी उसी संस्कार से होकर गुजरना भी पड़ सकता है । या फिर 'लक्ष्मीकान्त'[1] जी समकालीन कविता को 'नये प्रतिमान पुराने निकष'[2] को 'खण्डे की खोल' (वह भी सड़ती हुई) समझने लगे या फिर धर्मवीर भारती 'प्याज के छिलके'[3] की परतें उतारने ही नहीं देंगे । क्योंकि एक-एक कर परतें उतारने पर प्याज ही चुक जायगी ।

रूप और शिल्पगत प्रतिमान : काव्य-भाषा

तार सप्तक के प्रमुख रचनाकार भारतभूषण अग्रवाल की एक कविता है जो छायावादोत्तर काल की काव्य भाषा और उसकी परिवर्तनशीलता से बोध कराती है --

> कितनी संकुचित जीर्ण बूढ़ी हो गई आज कवि की भाषा ।
> जितने प्रत्यावर्तन जीवन में कवि लहरों के समान ।

यह है अपने पुरखों की मोममयी कुण्ठित वाणी/अदमय जिजीविषा[4] : त्याग इसे बनना है तुमको युग का अगुआ ।

पूर्व प्रचलित काव्य-भाषा के प्रति ऐसी दृष्टि तथा 'पुरखों की मोममयी कुण्ठित वाणी' कहकर उसे त्यागना जिस अगुआ का लक्ष्य था उसने नये 'प्रयोग' को एक आन्दोलन रूप में चलाया था । अज्ञेय ने 'काव्य' और

१- लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता में प्रयुक्त श्री - युत श्री 'लक्ष्मीकान्त'

२- नये प्रतिमान पुराने निकष - लक्ष्मीकान्त वर्मा, स० १९६६, पृ० ३

३- धर्मवीर भारती की कविता -

४- तार सप्तक - भारतभूषण अग्रवाल (द्वितीय संस्करण)

'भाषा' के अनिवार्य सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि 'नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है।'[1] इसके पहले दूसरे सप्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि 'रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है।'[2] . . . (आगे उन्होंने कहा) जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है।'[3] . . . इन वाक्यों को यदि 'काव्य-भाषा' में होने वाले परिवर्तन के एक क्रम में देखा जाय तो यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि —(१) नयी कविता की प्रयोगशीलता भाषा की प्रयोगशीलता है,[4] (२) रागात्मक सम्बन्धों में परिवर्तन के कारण कवि कर्म- भाषा में भी परिवर्तन होता है, (३) नयी काव्य-भाषा के प्रयोग का कारण है शब्द के चमत्कारिक अर्थ का मरो क्षीयमाण (अभिधेय होना)। इसी को भारत भूषण ने पूर्व उद्धृत कविता में भी कहा है। 'काव्य-भाषा' नये कवि के प्रयोग का 'साक्षात् प्रमाण तथा 'दोहरा' साधन है। 'नयी समीक्षा' में वस्तुगत प्रतिमानों - अभिव्यंजना प्रसाधनों को समीक्षण-परीक्षण का आधार बनाने के साथ ही पुरानी अर्थ-ग्रहण प्रणाली, संस्कार तथा कवि-व्यक्तित्व का अन्वेषण व्यर्थ कहा गया।[5] पूर्ववर्ती समीक्षा में देशकाल परिस्थितियों पर भी एक लेखा-जोखा प्रस्तुत कर यह कहा जाता था कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' किन्तु अब बदले हुए

१- तीसरा सप्तक की भूमिका - 'नयी कविता : प्रयोग के आयाम' (कवि दृष्टि में संकलित), पृ० ८२।

२- दूसरा सप्तक की भूमिका - अर्थ प्रतिपत्ति और अर्थ सम्प्रेषण, पृ० ७५-७६

३- वही वही, पृ० ७७

४- काव्य के जो भी गुण बताये जाते या बताये जा सकते हैं, अन्ततोगत्वा भाषा के ही गुण हैं - सीढ़ियों पर धूप - (भूमिका - अज्ञेय)

५- कविता के नये प्रतिमान - नामवर सिंह, सं० १९६८, पृ० ५५

यथार्थ ने 'काव्य-भाषा' को अभिव्यक्ति के मोर्चे पर जूझने का एक सफल माध्यम माना । रघुवीर सहाय ने लिखा है कि, " सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं से लडूं – किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूं [1], अपने भाषा के इसी भाषायी मोर्चे की ओर संकेत करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा था कि "आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है . . . (१) तत्व के लिए संघर्ष, (२) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, (३) दृष्टि विकास का संघर्ष . . . दूसरे (मोर्चे) का सम्बन्ध चित्रण सामर्थ्य से है [2]। 'अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष' 'नयी समीक्षा' 'सृजन और संघर्ष' के रूप में जाना गया । अज्ञेय ने इसी को 'शब्द को कल्प प्रदान करना', 'पुराने शब्द में नया अर्थ भरना कहा था । प्रत्येक सफल रचनाकार का लक्षण उन्होंने उसका प्रयोग माना विशेषकर[3] नयी भाषा के नये शब्दों का प्रयोग बताया जो नयी अर्थवत्ता से युक्त हों । समकालीन रचनाकारों द्वारा नयी काव्य-भाषा के प्रयोग का आग्रह ऊपरी अधिक रहा और गहरा कम । यह आवश्यक नहीं है कि जिस गहराई और गम्भीरता से 'अज्ञेय' शब्द को कल्प देते तथा मुक्तिबोध 'अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष' करते हों, रघुवीर सहाय अपने मोर्चे – भाषा के मोर्चे पर जूझने को उतनी ही उतना सभी ने किया हो । प्रयोगवाद के आरम्भ में 'काव्य-भाषा' या अभिव्यक्ति के लिए कठिनता, तनाव और दृष्टि-विकास के संघर्ष की बात उतने जोर से नहीं उठी । १९४७ ई० में 'प्रतीक' निकलने से कुछ तो इस पत्रिका के कारण तथा कुछ मार्क्सवादियों द्वारा पहले समर्थन किन्तु बाद में

१– आत्महत्या के विरुद्ध – (वक्तव्य) ' रघुवीर सहाय

२– नयी कविता का आत्मसंघर्ष – मुक्तिबोध, सं० १९६४, पृ० १५५

३– प्रत्येक शब्द का प्रत्येक सच्चा उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है । इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है यही उसका कल्प है । . . .
कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए । (तार सप्तक के वक्तव्य में भी)
(अज्ञेय)– कवि दृष्टि – सं० १९८३, पृ० ८२–८३

सीधे टकराव के लिये आमने सामने आ जाने से 'काव्य-भाषा' को न बदलकर उल्टे समीक्षक को ही अपनी समीक्षा-दृष्टि बदलने की सलाह 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के रचनाकारों ने दी। मुक्तिबोध ने इसी प्रकार चुनौती भरे स्वर में कहा था कि, 'यदि कुछेक रचनाकारों और विचारकों के अनुरोधों और आग्रहों से कविता का रूप रंग बदल पाता तो न मालूम कितने समीक्षकों और विचारकों के भिन्न आग्रहों अनुरोधों से कविता के भिन्न-भिन्न रूप रंग हो गये होते . . . इसका यह अर्थ नहीं है कि कविता के भिन्न रूप रंग नहीं हुए, काव्य भाषा में वैविध्य नहीं है? काव्य-भाषा की विविधता परिस्थितियों के दबाव तथा 'अभिव्यक्ति' के संघर्ष के परिणामस्वरूप हुई', ऐसा मुक्तिबोध का मन्तव्य है।[1]

अभिव्यंजना प्रसाधन की इसी परिवर्तन शीलता तथा प्रयोगधर्मिता से दृष्टि ग्रहण कर 'काव्य-भाषा' को एक सर्वाधिक समर्थ एवं शाश्वत प्रतिमान बनाकर डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने १९६० ई० में लेखकों के सम्मेलन में एक निबन्ध पढ़ा था जो 'कल्पना' (१९६०) में प्रकाशित भी हुआ था। डा० चतुर्वेदी ने अपने इस प्रतिमान के पक्ष में कहा था कि, 'नयी कविता के युग में जब कि कविता के सभी भेदक लक्षण तुक, छन्द, अलंकरण, लय (शायद सबसे महत्वपूर्ण तत्व रस भी) धीरे-धीरे विलुप्त हो चले हैं तो काव्य-भाषा ही वह अंतिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार शेष रह जाता है जिसके सहारे कविता के आन्तरिक संघटन को समझने की चेष्टा हो सकती है।'[2]

'काव्य-भाषा' को सर्वाधिक सशक्त माध्यम मानने का कारण है— (१) भेदक लक्षण तुक-छन्द अलंकरण और रस का विलुप्त हो जाना, (२) कविता के आन्तरिक संघटन को समझने की चेष्टा तथा (३) नयी कविता का

१- नई साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र - मुक्तिबोध, सं० १९७१, पृ० ९-१०
२- भाषा और संवेदना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ८८, तृतीय संस्करण १९८१।

युग अर्थात् कृति के गर्भ से निकाले गये प्रतिमान ' से कृति को समझने की चेष्टा न कि 'शास्त्रीय मान्यता' अथवा परम्परानुवर्ती शाश्वत प्रतिमानों द्वारा कविता का मूल्यांकन किया जाना। डा० नामवर सिंह ने इसे 'काव्य-भाषा' के प्रतिमान के प्रति (लेखक का) अतिरिक्त आत्म-विश्वास कहा[1]। डा० चतुर्वेदी ने 'भाषा और संवेदना' तथा 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' में इस प्रतिमान को और व्याख्यायित करके 'आत्मविश्वास' का परिचय देते हुए नयी कविता के शाश्वत प्रतिमान की खोज की है। उनकी इस स्थापना में अज्ञेय की 'कवि-दृष्टि' तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती की प्रेरणायें भी कुछ अंश में सम्मिलित है। भाषा और संवेदनाकार ने अपने मत की पुष्टि में कहा कि, 'कविता में भावावेग या रोमांटिक मन. स्थिति का होना अनिवार्य नहीं है।' . . . यों तो प्रत्येक युग के काव्य बोध को समझने के लिए कवि की भाषा प्रयोग विधि हमारे लिए 'शायद' सबसे महत्वपूर्ण कुंजी सिद्ध हो सकती है।[2] 'युग विशेष की काव्य सर्जन क्षमता' के लिए 'काव्य-भाषा का उपादान ही एक मात्र विश्वसनीय माध्यम' विशेषकर विचारणीय है। डा० देवराज ने माध्यम '१९६५' में डा० चतुर्वेदी के 'शायद' को लक्ष्य करके लिखा कि, लेखक को पूरा पूरा विश्वास नहीं है कि उसके द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली कसौटी सार्वकालिक व सार्वभौम है।[3] जबकि डा० चतुर्वेदी ने 'शायद' का प्रयोग उस उद्देश्य से नहीं किया है। पूरे निबन्ध को पढ़ने से ऐसा लगता है कि जैसे 'अज्ञेय' ने तार सप्तक की भूमिका में लिखा था कि कवि

१- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं०१९६८, पृ० ६४

२- भाषा और संवेदना - डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सं०१९६४, पृ० ८८-८९

३-(क) कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं० १९६८, पृ० ६४ पर उद्धृत
(ख) प्रतिक्रियायें - डा० देवराज - सं० ६ में संकलित
(डा० नामवर सिंह द्वारा उद्धृत)

प्रस्तुत हैं कि उनको परख की जाय उसी प्रकार भाषा और संवेदनाकार भी अपनी इस मान्यता के साथ हिन्दी समीक्षा में उपस्थित हुआ है । `शायद` शब्द का प्रयोग नम्रता की ओर संकेत है न कि आत्म विश्वास की कमी । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि `नई काव्यधारा के सौन्दर्य विश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम है, उनमें अब कोई ऐसी सम्भावना भी नहीं शेष है जिसे नई काव्यधारा के सन्दर्भ में उधारा जा सके ।`[१] तब भी डा० नामवर सिंह के मतानुसार `शायद` का सम्बन्ध लेखक की काव्य-भाषा सम्बन्धी पूरी समझ से है ।` डा० नामवर सिंह का इसी सम्बन्ध में अगला तर्क यह है कि, छन्द, अलंकार, रस आदि के द्वारा प्राचीन कविता की भाषा समझने समझाने की कोशिश जब प्राचीन आलोचकों ने की थी तो क्या उस युग की कोई काव्य भाषा न थी ? डा० चतुर्वेदी छन्द, अलंकार, रस आदि को प्राचीन `काव्य-भाषा` को समझने का शास्त्रीय उपकरण न मानकर `काव्य-भाषा` का वास्तविक अंग मानते हैं[२] । डा० सिंह के तर्क का यह उत्तर हो सकता है कि छन्द, अलंकार, लक्षणा-व्यंजना आदि के द्वारा साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने कविता की भाषा समझने-समझाने की कोशिश भले न की हो किन्तु वे ( आचार्य ) काव्य की आत्मा या काव्य-सौन्दर्य की चर्चा के तर्क वितर्क में उलझते रहे ।` उस समय तक भाषागत अध्ययन-`व्याकरण` विभाग के अन्तर्गत माना जाता था । `अलंकार` `रीति` `गुण` तथा `वक्रोक्ति` मत का सम्बन्ध कविता के बाह्य सौन्दर्य रूप या आकर्षण से ही स्वीकृत है किन्तु अन्तर वास्तव में

१- (क) भारतीय काव्य-शास्त्र - नयी व्याख्या - डा० रामपूर्ति त्रिपाठी, [illegible] उद्धृत पृ० ३

(ख) डा० जगदीश गुप्त द्वारा लेखकों के सम्मेलन में काव्य-शास्त्र पर पढ़ा गया निबन्ध

२- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं० १९६८, पृ० ४७-४८ पर उद्धृत ।

'युग' का है। प्राचीन साहित्य शास्त्र के आचार्य रस, अलंकार, ध्वनि, रीति को महत्त्व देते रहे। रस, ध्वनि, वादियों की दृष्टि काव्य के आन्तरिक तत्व रस या उसके दूसरे रूप 'ध्वनि' तथा परवर्ती रूप- ध्वनिरस पर थी, तब तक 'काव्य' शास्त्र युग में महत्ता प्रदान की जाती थी, 'विभावानुभाव संचारियों' को भी कविता में भाषा के ही माध्यम से मूर्त रूप ग्रहण करते थे। किन्तु प्राचीन 'साहित्य शास्त्र' में ग्रहीता पक्ष से कम निर्माता पक्ष से अधिक विचार किया जाता था। दूसरा कारण यह था कि काव्य-शास्त्र की जिज्ञासा 'अध्यात्म' से प्रेरित तथा 'अव्यक्त सत्ता' की अस्मिता को मानकर आरम्भ हुई थी। भरतमुनि का रस ब्रह्मानन्द सहोदर था भले ही वह वस्तुवादी रहा हो। मध्यकालीन रस चिन्तन पर शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन)[१] तथा वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रभाव से रस-दृष्टि ही बदल गई थी। भरत से भामह के पूर्व तक का काव्यशास्त्र, भामह से अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्र से भिन्न है और अभिनवगुप्त से पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक का चिन्तन उससे भी भिन्न है। डा० नामवर सिंह जिस प्राचीन काव्यशास्त्र की बात करते हैं वह कब का काव्य-शास्त्र है पहले तो यह ही स्पष्ट हो और फिर जब 'नयी कविता' का व्याख्याता उस परम्परा को ही त्याग कर कह रहा हो कि 'अब उस चिन्तन में सम्भावनायें ही शेष नहीं रह गई हैं तो उसकी स्थापना का पुनर्मूल्यांकन 'समकालीन' या 'आधुनिक' युग के अनुरूप करना चाहिए। यदि डा० चतुर्वेदी ने रस, अलंकार आदि को वास्तविक अंग माना है तो वह 'नयी कविता' के प्रतिमान' ढूंढने की प्रक्रिया होने के साथ ही अमेरिकी नयी समीक्षा - 'रूप और अन्तर्वस्तु' का परवर्ती प्रभाव है जो रिचर्ड्स एम्पसन तथा टी० एस० ईलियट की नवीन दृष्टि भी है जिसका स्पष्ट प्रभाव अज्ञेय पर तथा उनकी काव्य-भाषा प्रतिमान के व्याख्याता डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी पर है।

डा० नामवर सिंह प्रगतिशील (मार्क्सवादी) विचारधारा के अध्येता और आलोचक हैं जिन्हें 'प्रात के रक्त पात्र' कृष्णकली में छायावादी संस्कार तथा भाषा स्फुरण 'विचार स्फुरण' का आरोप लगाने का एक आधार मिल गया है। डा० चतुर्वेदी ने यह नहीं कहा है कि प्राचीन कवियों ने काव्य-भाषा

१- मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध — र कु मे — सं. 176.

का महत्त्व समझा ही नहीं और साहित्य शास्त्रियों ने काव्य-भाषा का उपयोग किया ही नहीं।[1] यथा (नवीन अर्थ में) अलंकार और 'अलंकार्य' में भेद या दण्डी तथा अभिनवगुप्त की मान्यता से नयी कविता की परख करना उपयुक्त नहीं है। 'कवि का काव्य रचना सामर्थ्य' तथा 'रसिक का काव्य-विवेचन सामर्थ्य' यहां अलग हो ही नहीं सकता। प्राचीन कवि का 'रचना सामर्थ्य' गौण किन्तु विवेचन सामर्थ्य अग्रगामी रहे हैं। नयी समीक्षा में जब अज्ञेय की 'रचना सामर्थ्य' आगे चलती है तो डा० चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा या जी० डी० एन० साही उसी सामर्थ्य में अपनी सीमा और सम्भावना खोजने का संकल्प लेते दिखाई पड़ते हैं।

काव्य-भाषा के स्वतंत्र एवं शाश्वत प्रतिमान के इस प्रश्न पर हम दूसरी दृष्टि से विचार करना उपयुक्त समझते हैं। डा० सिंह की 'नामवरी' मीमांसा, डा० चतुर्वेदी की अतिरिक्त 'आत्मविश्वासी' दृष्टि तथा डा० देवराज के सन्दर्भवाद की इस उलझन को और आगे तक न ले जाकर मूल प्रश्न पर हम लौटना चाहते हैं कि काव्य-भाषा छायावादोत्तर कविता का प्रतिमान है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं तो अन्य प्रतिमान क्या है जो स्वीकार्य हो। प्रतिमान के रूप में निर्णय छायावादोत्तर युग की काव्य-समीक्षा के आधार पर करना है और उसी आधार पर आज छायावादोत्तर युग की काव्य-भाषा को समझना है। डा० नामवर सिंह की स्थापना 'सृजनशीलता' की ओर अग्रसर है जिसके केन्द्र में मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नेमिचन्द्र जैन और भारत भूषण अग्रवाल की कविता है जो परख का आधार हो सकती है। इन रचनाकारों की 'वरासत' अधिक सशक्त रही इस बिन्दु पर भी विवाद नहीं हो सकता।[2] डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की 'काव्य-भाषा के प्रतिमान सम्बन्धी स्थापना' के केन्द्र में 'अज्ञेय'

१- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, १९८२, पृ० ६४-६५

२- वही ,, , ,, , पृ० १०१

धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शकुन्तला माथुर, मदन वात्स्यायन, विजयदेवनारायण साही, डा० जगदीश गुप्त आदि की कवितायें हैं।[1] डा० रामविलास शर्मा ने अज्ञेय तथा उनकी परम्परा के रचनाकारों में छायावादी प्रवृत्ति से गुप्त समझौता[2] देखा है तथा प्रमाण है लक्ष्मीकान्त वर्मा का यह कथन् " नयी कविता और छायावाद के बीच जो अदृश्य मन में समझौता प्रयोगवाद के रूप में हुआ था वह सब-का-सब उलटकर आ पड़ा है।"[3] डा० सिंह भी इस तथ्य से अवगत हैं- " इसका सम्बन्ध भावात्मक और बौद्धिक विभाजन से है "[4] "आलोचना के क्षेत्र में इससे एक निष्कर्ष यह निकला कि यदि भाषा कवि के अनुभव और ज्ञान का साधन है तो कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है।" + + + कवि ने अनुभव तो बहुत किया किन्तु भाषा की असमर्थता के कारण अपनी बात पूरी तरह कह नहीं पाया "[5] डा० सिंह यह भी कहते हैं कि यदि अज्ञेय के वक्तव्य `कविता ही कवि का परम वक्तव्य है` का निर्वाह `आलोचना` में दृढ़ता से हुआ होता तो आज स्थिति कुछ और होती।[6]

जब डा० नामवर सिंह उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अवधान शब्द के माध्यम से आत्मपरिक स्वच्छता की बात करते हैं, मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं, + + + गिरिजा कुमार माथुर संवेदना की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के सन्दर्भ में भावपक्ष, बिम्ब पक्ष और नाद पक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा को महत्व देते हैं, जब

१- नयी कविता के प्रतिमान लक्ष्मीकान्त वर्मा, टीका, २०१५

२- नयी कविता और अस्तित्ववाद . डा० रामविलास शर्मा, सं०-१९७८, पृ०-२२

३- नये प्रतिमान पुराने निकष . लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ०-२१२

४- कविता के नये प्रतिमान

५- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, सं०-१९८२, पृ०-१०१

६- वही, द्वारा पृष्ठ १०१ पर उद्धृत

डा० जगदीश गुप्त अनुभूति और अभिव्यक्ति की सचाई को ही महत्व देते हैं + + + तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य कुन्तक, अभिनव गुप्त और आनन्दवर्द्धन—का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्य सत्ता काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते[1]।" डा० राममूर्ति त्रिपाठी की भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बन्धित `वर्तमान सन्दर्भ` की स्थापना `काव्य-भाषा` और `सृजनशीलता` के इस विवाद में एक मध्यम मार्गीय दृष्टि हो सकता है। डा० नामवर सिंह ने रघुवीर सहाय की `नया शब्द` शीर्षक कविता का उद्धरण देकर " और अब भाषा नहीं— । शब्द अब भी और शब्द ऐसा ही जो `चीजों के आरपार दो अर्थ मिलकर सिर्फ एक| स्वच्छन्द अर्थ दे| "[2] भाषा सम्बन्धी इसी खोज के लिए दूसरा उदाहरण है " न सही यह कविता | यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही | + + + हर अभिव्यक्ति व्यक्ति नहीं | अभिव्यक्ति | जली हुई लकड़ी है न कोयला न राख |[3]— शब्द को खोजने में नये अनुभव रूप `प्राण शक्ति` की खोज, भाषा नहीं हाथ की छटपटाहट |[4] में मुक्तिबोध की कई अधूरी कवितायें जिनके सम्बन्ध में वे कहते हैं " कहीं भी खतम कविता नहीं होती "[5] के साथ `तारसप्तक` में स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में उनका स्मरण हो आना स्वाभाविक है। `चीजों के आर-पार दो अर्थ मिलकर सिर्फ एक` के लिए हमें था चाहिए कुछ बस। कि जो गम्भीर ज्योति : शास्त्र रच डाले। नया दिक्काल थियोरम बन | प्रकट हो भव्य सामान्यीकरण। | भयंकर | कि जो गहरी व्याख्या | अनाख्या वास्तविकताओं

१- भारतीय काव्यशास्त्र . नयी व्याख्या, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, सं०-१९८०, पृ०-८
२- `नया शब्द` `(कविता) रघुवीरसहाय, डा० नामवर सिंह द्वारा उद्धृत
३- फिल्म के बाद चीख : रघुवीर सहाय, ,, ,, ,, १०२ पर
४- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, सन् १९६८, पृ०-१०७
५- आत्मसंघर्ष की कविता और मुक्तिबोध . अंबराम त्रिपाठी, सं०-१९६८

जगत की प्रतिक्रियाओं की ।[1] रघुवीर सहाय को " आग की खोज " तथा "चीख चिल्लाहट "मुक्तिबोध को " कनक की चिनगारियाँ " "औरांग उटांग " तुलनीय हैं। " पृथ्वी के रत्न विवर में निकली हुई।

बलवती जलधारा नवनीत मणि समूह बहाती लिये जाय
और उस स्थिति में, रत्न मण्डल की तीव्र दीप्ति।
आग लगाय लहरों में।[2]

"दो अर्थ मिलकर एक "—" नया दिक्काल थियोरम " तथा अभिव्यक्ति—" आग " —"लहरों में आग " के अतिरिक्त गाँठे, बारूद, सुरंग, ज्वलनशीलता, छटपटाहट, टीस, करुणा, सन्नास तथा अर्थगाम्भीर्य के लिए न केवल रघुवीर सहाय अपितु अन्य " नये कवि " भी मुक्तिबोध से शब्द-अर्थ तथा काव्य-भाषा की "सृजनशीलता" तक उधार लेकर काम चलाते देखे जाते हैं।

"काव्य-भाषा " तथा "सृजनशीलता " के इस " प्रतिमान " के अनुकूल डा० नामवर सिंह तथा डा० चतुर्वेदी के दृष्टिकोण भेद का अन्य कारण है। डा० नामवर सिंह का "मुक्तिबोध " के काव्य के प्रति अतिरिक्त लगाव तथा विश्लेषण की अद्भुत क्षमता है। " कविता के नये प्रतिमान " के समर्पण भूमिका, द्वितीय संस्करण की भूमिका तथा विभिन्न स्थापनाओं में मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष को ही "नये प्रतिमान " के पर्याय रूप में स्वीकार किया गया है। "सृजनशीलता" शब्द में "क्रियेटिविटी " (Creativety) नवनिर्माण मौलिकता तथा कर्मठता का मिलाजुला अर्थ प्रकट होता है।[3] "अज्ञेय " की तुलना में मुक्तिबोध की विद्रोही मुद्रा तथा आत्मसंघर्ष के अनुरूप काव्यभाषा को " बनाता " हर परिस्थिति को झेलने में साथ देती है। " काव्य-भाषा " में कुछ तो " काव्य "- ही भाषा की तीव्रता को सीमा कर देता है और कुछ बिखरी हुई शब्दावली भी कारण बनती है।

१- चाँद का मुँह टेढ़ा है : मुक्तिबोध, सं०- १९६४

२- वही,

३- काव्यभाषा के स्तर पर सृजनशीलता बहुत कुछ अन्वेषण का पर्याय है। कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, -१०२

डा० नामवर सिंह की स्थापना के अनुरूप `कौन्वस्मिन् साम्प्रत होवे ? ` मुक्तिबोध `[1] नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति छायावाद में निराला की है।`[2] ` रचना के साथ आलोचना के भी मान रखे `—मुक्तिबोध ने। डा० सिंह की इन स्थापनाओं के समर्थन में कहा जा सकता है कि `आलोचना` की भाषा का मान रखा डा० नामवर सिंह ने। अपनी आलोचनात्मक क्षमता के द्वारा। मुक्तिबोध। डा० नामवर सिंह ने यह प्रमाणित कर दिया कि कोई भी चीज तभी स्पष्ट होती है जब कम से कम एक ईमानदार व्यक्ति (कवि-सर्जक)-(आलोचक-ग्रहीता) मौजूद हो।[3] द्वितीय संस्करण में ` नये प्रतिमान ` पर `नेमिचन्द्र जैन ` द्वारा लगाये आरोप ` रूपवादी झुकाव ` की सफाई के लिए भी डा० नामवर सिंह मुक्तिबोध के `काव्यसंसार को ही जीवंत ` और सार्थक करते हैं।`[4]

` काव्य-भाषा के परीक्षण के सहारे ` कविता के मूल्यांकन तक पहुंचने की प्रक्रिया में रूपवादी खतरे का संकेत पहले भी अन्य सन्दर्भ में किया जा चुका है। यह ध्यान डा० नामवर सिंह तथा नेमिचन्द्र जैन को है। अन्तर यह है कि `नेमिचन्द्र जैन ` नामवर के रूपवादी आग्रह से चिन्तित हैं जो `मार्क्सवादी` आलोचक के रूप में विख्यात हैं जब कि डा० नामवर अपने अतिरिक्त डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के रूपवादी विवेचन पर ध्यान दिये हैं। डा० चतुर्वेदी अभिव्यंजना-प्रसाधन- काव्य-भाषा- शब्द सम्पदा- प्रतीक बिम्ब-`अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता ` को ` काव्य-भाषा ` के साथ स्वतः पर्यवसित मानते हैं। "कविता के प्रयोग में भाषा प्रयोग की मुख्य और केन्द्रीय स्थिति है " ।[5]

१- कविता के नये प्रतिमान . (भूमिका) नामवर सिंह,(१९६८),पृ०-८

२- वही,

३- वही,

४- द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण की भूमिका : डा० नामवर सिंह, १९७७, पृ०-६

५- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी,(भूमिका) सं०-१९६४

डा० नामवर सिंह ने अभिव्यंजना तथा बाह्य रूपाकाराश्रित सौन्दर्य के मूल में "बोध शक्ति" - "भाषा शक्ति" - "सर्जना को तथा अनुभव की सच्चाई को महत्व दिया। इनकी स्थापनाओं में सर्वाधिक क्षमता से मुक्तिबोध ही छाये रहते हैं- रहे भी। काव्य के "कथ्य की तुलना में "कथन" को महत्व देना वस्तु या तत्व की तुलना में "रूप और शिल्प" को महत्वपूर्ण मानना है।[1] डा० रामविलास शर्मा ने प्रयोगवाद में व्यक्तित्व का अभाव देखा है तथा अशोक वाजपेयी की दृष्टि में अधिकांश कविताओं में पूर्ववर्ती कविता को दुहराया गया है। "सृजनशीलता" कथ्य और कथन का[2] समन्वय है।

काव्य-भाषा की "अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाकर" खून के छींटे," "निचुड़े रक्त" तथा "हारर शादशा" आदि स्थितियों पर निगाह डालकर मुक्तिबोध जैसा यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं वह - "जीवन की गति जीवन का स्वर | है। "प्रतीकों और बिम्बों के अलंकृत रूप में भी रह | हमारी जिन्दगी है यह।"[3] उस बनते हुए मानस के रूपों पर बाह्य टकराव के कारण "भीतरी व्यक्तित्व को खूब चोटें पहुंचती हैं। दिल और दिमाग में तनावों के कारण उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति बहुत ज्यादा खर्च होती है। इस संघर्ष में आपसी स्नेह सम्बन्ध काफी तोड़े मरोड़े गये होते हैं-[4] यह सबका सब मुक्तिबोध की भावनागत रचना में परिलक्षित होता है-

" अनगिनत काली-काली हाय-फन वेलों की लकीरें। बाहर निकल पड़ीं। अन्दर घुस पड़ी भयभीत। सब ओर विशाल।[5]

१- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, सं०- १९८२, पृ०- ९९
२- वही,
३- मुक्तिबोध के कविता संग्रह (चांद का मुंह टेढ़ा है में संकलित)
४- नयी कविता का आत्मसंघर्ष : मुक्तिबोध, सं०- १९८२
५-

ऐसे स्थलों में रीतिबद्ध भाषा की चमक भले ही न हो + + किन्तु वह प्राणशक्ति असंदिग्ध है जो सृजनशीलता की अनिवार्य शर्त है।"[1] ऐसी अपूर्व सफलता के लिए मुक्तिबोध की छोटी कवितायें उल्लेखनीय हैं। "भाषा और संवेदना" नामक कृति में लेखक ने नयी कविता की कथानक रूढ़ियों पर चिन्ता व्यक्त की है। और "आज पहली बार" अधूरी भर धूप, चक्रव्यूह, कुण्ठा, बौना, घर आदि शब्द उनके अनुसार अब लगभग मृतप्राय हैं।"

"काव्य-भाषा" की जीवन्तता के लिये अज्ञेय के काव्य को ही अधिक प्रयोग में लाना डा० चतुर्वेदी का अज्ञेय के प्रति विशेष लगाव के कारण है। जबकि इससे भी स्थापना का मुलम्मा छूट सकता है। आलोचना में भी शब्दों को बार-बार दुहराने से उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। — "सतर्क और सर्जनात्मक प्रयोग करके ही "अज्ञेय" ने अपनी रचना को इतना निखारा"[2] "अज्ञेय बोलचाल की भाषा के आधार पर ही अपनी काव्य-भाषा का निर्माण करते हैं।"[3] "नदी के द्वीप" की भाषा अर्थ का सघन रूप प्रस्तुत करती है।[4] + + + शब्दों को सारी अपेक्षित प्रयोग में न लाकर उसकी प्रतीकार्थ सृष्टि करती है। ऐसे बहुत से भाषा प्रयोग द्वारा अज्ञेय ने छायावाद से अपने को अलग कर लिया।"[5] अज्ञेय के शब्दों द्वारा नयी काव्य संवेदना का रूप निर्धारित हुआ है।[6] लुकेल ने कहा है- "बताने की प्रक्रिया में शब्द विलुप्त हो जाता है उसे सम्प्रेषित ही किया जा सकता है।[7] जबकि डा० चतुर्वेदी ने अपनी समीक्षात्मक भाषा में बताया है।

१- कविता के नये प्रतिमान- नामवर सिंह (काव्यभाषा और सृजनशीलता)

२- भाषा और संवेदना . डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९६४- पृ०- १५

३- वही, पृ०-१७

४- वही, पृ०- २०-२१

५- वही, पृ०- २४

६- वही

७- वही

समीक्षा प्रतिमान रूप में " काव्य-भाषा " तथा भाषा की "सृजनशीलता " की स्थापना के अतिरिक्त " नयी समीक्षा " में कुछ और भी प्रश्न उठाये जाते रहे हैं जो आलोच्य सन्दर्भ से जुड़े हैं। "अशोक वाजपेयी " ने उत्सव धर्मा रचनाकार "अज्ञेय " पर " व्यक्तित्व की रूढ़ियों के साथ चुक गये हैं " का आरोप लगाया है।[1] "कितनी नावों में कितनी बार " के बाद "काव्य-भाषा के शब्द संवेदना शून्य " लगते हैं।[2] "ठाठ फकीरी ", भानी के " सुख साध " "टोये " डॉगर मचाते हैं, " अटिया पर चमरौधे की रूखी थाप " प्रयोग पांचवें दशक के अन्त तक " बासी " संस्कारहीन तथा उधार लिये हुए लगते हैं। जिन भाषागत विशेषताओं को डा० चतुर्वेदी " अज्ञेय " की काव्य सर्जना की उपलब्धि मानते हैं, अशोक वाजपेयी उन्हीं को पुरानी पड़ती "दृष्टि " कहकर "अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र " देखते हैं। आगे चलकर अज्ञेय की दुनिया सुरक्षित और समकालीन दबावों से मुक्त सी लगती है। इसी प्रकार " मुक्तिबोध " की "सृजनशीलता " में उत्तरोत्तर ताजगी आती गई है। " आदि से अन्त तक। अन्त से अनन्त तक। " जीवन का संघर्ष " मुक्तिबोध " की अस्मिता से जुड़ गया है। जिस प्रकार आज का संघर्षरत व्यक्ति आवेश, क्रोध और झुंझलाहट में भाषा का व्याकरण अथवा " शब्दकोष " न देखकर अंग्रेजी, उर्दू तथा देशज शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से करता चला जाता है उसी प्रकार मुक्तिबोध का रचनाकार भी जीवन के पथ पर "भाषा" का प्रयोग अपनी क्षमता भर करता चला जाता है। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कविताओं के भी अभिव्यक्तिगत रूप काव्य-भाषा के प्रतिमान हो सकते हैं। आज का संसार जितना ही पेचीदा, जटिल तथा अनुभव से परे होता जा रहा है रचनाकार की " काव्य-भाषा " सम्बन्धी जटिलता उतनी ही विसंगति से मुक्त होती जा रही है। "आज की दुनिया एक व्यवसायी

१- बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाये (फिलहाल)- अशोक वाजपेयी, संस्करण-१९७० पृ०- [illegible]

२- भाषा और संवेदना - डॉ० चतुर्वेदी

अज्ञेय और (तथा) आधुनिक रचना की समस्या - वही

खोज ली गई है " तथा कवि को उसी दुनिया से " इन्हें देने उन्हें देने " के लिए कुछ शब्द ध्वनियाँ यहाँ तक लयात्मकता भी ग्रहण करती है।

आज समीक्षा के " वस्तु " या " कथ्य " गत प्रतिमानों की सत्ता में निरन्तर बदलाव हो रहे हैं, उसके अनुरूप काव्य-भाषा तथा समीक्षा भी बदलती जा रही है। समय की संधि पर रचनाकार " शब्द-प्रयोग " की आरम्भिक स्थिति से लेकर अभिव्यक्ति के स्तर तक इतनी बार " काट " छाँट, तोड़ मरोड़ कर देता है कि वह पाठक, ग्रहीता या मूल्यांकनकर्ता के लिए टेढ़ा या कठिन रास्तों का चलना हो जाता है। जैसे यह कहा गया था कि-कहीं भी खत्म कविता नहीं होती उसी प्रकार उसकी " भाषा- काव्य-भाषा, उसकी संवेदना- भी कभी खत्म नहीं होती।

<u>छायावादोत्तर कविता का रूपगत प्रतिमान</u>

काव्य-भाषा में " प्रतीक योजना " समकालीन कविता के रूप और शिल्पगत प्रतिमानों के क्रम में " काव्य-भाषा " या सृजनशीलता के माध्यम से अभिव्यक्ति की ईमानदारी, विसंगति एवं विडम्बना, नाटकीयता तथा अनुभूति की प्रामाणिकता आदि की परख के लिए शब्द तथा अर्थ संवेदना की सूक्ष्म प्रक्रिया की समझदारी आवश्यक होती है।[1] प्रतीक विधान अनुशासन मनोविज्ञान, दर्शन और " साहित्य का समाजशास्त्र " के अनुरूप भाषा अध्ययन की एक पूर्व दृष्टि है जो दूर तक वस्तुगत अध्ययन के साथ साथ संरचनागत अध्ययन में भी सहायक होती है। आज की कविता में उलझी हुई संवेदना, " चीजों के आर पार भाषा का नया अर्थ; " हाथ की छटपटाहट " " निचुड़े रक्त की तलाश," कलाकार की अस्मिता

१- प्रत्येक कवि का सरोकार भाषा से नहीं, शब्दों से होता है, और रचनात्मक प्रयोग वास्तव में भाषा का नहीं शब्द का प्रयोग है। + + + सम्प्रेषण रचना में निहित है, उसका अनिवार्य अंग है।
समीक्षा और संदर्भ : अज्ञेय- (रचनात्मक भाषा और सम्प्रेषण की समस्यायें)
संस्करण- १९७५, पृ०- ३५४

तथा उसके द्वारा भाषा के मोर्चे पर किया जाने वाला संघर्ष " शब्द " को रूप एवं संस्कार प्रदान करने के आधार पर परखा जाने लगा है। काव्य-भाषा की अभिव्यंजनागत मूल्यवत्ता जिन ध्वनि संवेदनों तथा शब्द चित्रों के माध्यम से पकड़ में आती है वे प्राय प्रतीक-बिम्ब या अप्रस्तुत रूप में रहकर प्रस्तुत का आभास कराते हैं।

रघुवीर सहाय की कृति " सीढ़ियों पर धूप " की भूमिका मे "अज्ञेय" ने लिखा था कि " काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से निसृत होते हैं।" अज्ञेय की इस परिभाषा में यदि कुछ जोड़ने की छूट मिले तो कहा जा सकता है कि काव्य सबसे पहले (सार्थक) शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य- अप्रस्तुत या प्रतीकाश्रित शब्द है। "तीसरे सप्तक " की भूमिका में अज्ञेय द्वारा कालिदास के रघुवंश के श्लोक का उद्धरण देते हुए "वाक् + अर्थ + प्रतिपत्तये " का आशय व्यक्त किया गया है। " जो अभिधेय है, जो अर्थ " वाक् " में ही है, उसकी प्रतिपत्ति की प्रार्थना कवि नहीं करता। अभिधार्थ युक्त शब्द तो वह कच्चा माल है जिससे वह रचना करता है, ऐसी रचना जिसके द्वारा वह बना नया अर्थ उसमें भर सके उसमें जीवन डाल सके। यही वह अर्थ प्रतिपत्ति है जिसके लिए कवि " वागर्थाविव सम्पृक्त " पार्वती परमेश्वर की वन्दना करता है।"[1] शब्द और अर्थ की साधना ही कवि कर्म है जो अपार काव्यजगत के प्रजापति रूप में कवि को प्रतिष्ठापित करती है। कविता चाहे नई हो या पुरानी, चाहे कालिदास की हो या " अज्ञेय " की किन्तु उसमें शब्दों का सार्थक समायोजन अवश्य होगा। भारतीय साहित्यशास्त्र में " शब्दार्थौ सहितौ काव्यं " या " रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द . काव्यं " में इसी शब्द तथा अर्थ के उचित समायोजन की स्थापना की गई है।

पं० पट्टाभिराम शास्त्री ने " साहित्य " की व्युत्पत्ति में सहित का

१- दूसरा सप्तक (भूमिका)- अज्ञेय- (कवि दृष्टि) पृ०- [illegible]

अर्थ पिहित, सन्निहित, अवस्थित किया है। जिसे ` साहित्य का प्रयोजन कस्मैदेवाय ` में उद्धृत करते हुए आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने यह स्वीकार किया है कि ` सहित ` में व्यापकता को समेटने की शक्ति होती है।[1] उपमा, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा आदि अप्रस्तुताश्रित अलंकारों के माध्यम से कभी अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर आरोप तो कभी प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की व्यंजना शब्दों के माध्यम से की जाती है। इसी प्रक्रिया को ` अलंकरोति इति अलंकार ` कहा जाता है। अलंकृति, गुणवत्ता, `विशिष्ट पद रचना,` या ` प्रतीयमान अर्थ के द्वारा अभीष्ट संवेदना की अभिव्यक्ति काव्य की सृजन प्रक्रिया है जिसमें वक्रोक्ति, अन्योक्ति, समासोक्ति तथा एलीगरी के अतिरिक्त अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द शक्तियों की भी सहायता ली जाती है।

`काव्यात्मा ` की जिज्ञासा शब्द और अर्थ की जिज्ञासा है जो भारतीय काव्यशास्त्र, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र, दर्शन, नृतत्वशास्त्र तथा मानविकी आदि विषयों में विभिन्न तर्कों एवं सिद्धान्तों द्वारा ग्रहण की जाती है। शास्त्रीय शब्दावली में रसात्मकता, ध्वन्यात्मकता, रीति या वक्रोक्ति अथवा अरस्तू की मान्यता के अनुरूप `जैसी वे थीं या हैं ` जैसी वे कही सुनी या समझी जाती हैं ` या ` जैसी उन्हें होनी चाहिए ` - का प्रकृतिस्थ अनुकरण ` कला ` कहा जाता है।[2] सम्पूर्ण ` काव्य-कला ` की यह विवेचना शब्द तथा अर्थ की सन्निहितता पर निर्भर है।

पहले शब्द ऋषियों के `सहित `—सन्निहित- समायोजित होने से बनता था किन्तु आज के विज्ञान-आश्रित समाज में यह धारणा अब सर्वमान्य हो चुकी है कि शब्द-संरचना-प्रक्रिया ऋषियों की रचना मात्र संवेदना के वशीभूत होने से होती है। अब ये अनुभव कल्पना किस प्रकार ` सम्पत्ति मिलन ` द्वारा

1- साहित्य का प्रयोजन : कस्मैदेवाय, विद्यानिवास मिश्र

2- अरिस्टोटिल्स थियरी आफ पोयेट्री एण्ड फाइन आर्ट, प्रो०- बूचर

या घनीभूत होकर अणु या परमाणु का आकार ग्रहण करती है उसी प्रकार भाषा- काव्य- भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि " प्रयोक्ता " द्वारा प्रयोग में लाये जाने से पूर्व कच्चामाल की तरह बनी होती है जिसका प्रयोग रचनाकार कविता में करता है। शब्द के ये अर्थ संस्कृति, समाज तथा व्यक्ति द्वारा स्वीकृत मूल्य के अनुसार प्रेषणीयता के उद्देश्य से निर्मिति में स्थान पाते हैं। भारतीय साहित्य शास्त्र के "वक्रोक्तिवाद " तथा अभिव्यंजनाश्रित प्रतिमानों के अनुरूप आंतरिक अनुभूति को महत्व दिये जाने के कारण बाह्य रूप-रचना तथा कलाविधान महत्वपूर्ण नहीं कहा जाता था। समकालीन समीक्षा में " रूप एवं कलावादी " अमेरिकी प्रभाव तथा समाजशास्त्रीय मान्यता की वस्तुपरक दृष्टि के टकराव से कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले गये हैं जिन्हें " शाश्वत प्रतिमान " तो नहीं किन्तु कालक्रम बोधात्मक प्रतिमान की संज्ञा दी जा सकती है। आज का समीक्षक " रूप और कलावाद " के संस्थापकों से प्रभावित होकर काव्य-भाषा में शब्द की संरचना को "क्रिस्टल " या " स्फटिक " तुल्य मानता है। इसे ही छायावादी शब्द संरचना तथा परवर्ती रूप रचना का विभाजक मानकर श्री विजयदेवनारायण साही ने कहा है कि- " छायावादी कलाकृति एक स्फोट करता हुआ कला रूप है। + + + तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नहीं बल्कि एक लहर की तरह चित्रित करती है। + + + नयी कविता उस तरंग के रूप को एक "स्ट्रक्चर " में बदल देती है जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।[१] डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी छायावाद युग को नयी प्रतीक-योजना का प्रस्थान बिन्दु मानकर इसे " अमूर्तन " की क्रिया कहा है। आज की कविता और रोमांटिक अनुभूतियों के सहारे कविता होती चली गई है। काव्य-भाषा की इस निर्मिति में प्रतीक योजना, भावचित्र विधान वाक्यविन्यास तथा काव्य रूढ़ियों की जड़ता कार्य करती है। " काव्य-भाषा " की

१- "लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस " विजयदेवनारायण साही,
(नयी कविता, अंक ५-६)

२- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, संस्करण-१९६४
(ख) अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

इस सर्जना में नये रागात्मक सम्बन्धों का उलझनें परिवर्तित रूप में " प्रतीक " बनकर आती है। " सम्बन्ध तत्व " तथा " अर्थतत्व " की मिश्रित प्रक्रिया से बने हुए पद ध्वनि परिवर्तन के कारण बदलते जाते हैं। इसी प्रकार भाषा की परिवर्तनशीलता के अनुरूप शब्दों के अर्थ में भी आगम संकोच तथा विस्तार होता है। प्रतीक योजना का सम्बन्ध इस दृष्टि से ध्वनि परिवर्तन से भी है। व्याकरण के " शब्दानुशासन " तथा " अर्थविज्ञान " की वैज्ञानिकता वाक् तथा अर्थ पर आधारित थी। जिसे अब प्रतीक विधान को समझने में सहायक माना जाता है।

आज जब यह कहा जाता है कि " शब्द की चोट गहरी होती है " तब चोट उसी " चिन्ह " " स्पन्न-क्रिस्टल " या इकाई से लोगों जो कोई मूर्त अथवा अमूर्त रूप में हो। शब्द की सघन लयात्मकता, रागात्मिकावृत्ति, सम्बन्धतत्व एवं अर्थतत्व " स्फोट करता हुआ " प्रकाश मान होता हुआ अर्थ " ध्वनि " या शब्द का भेदक तत्व " प्रतीक " कहा जाता है। प्रतीकों और बिम्बों के अमूर्त रूप में भी रह हमारी जिज्ञासा है यह,[1] अर्थात् रचनाकार मुक्तिबोध की रचनाधर्मिता शब्द या ध्वनि संकेत द्वारा अर्थ का बोधन कराती है। आज की दुनिया का प्रदूषण मानव की क्रियाओं तथा हाव भावों के अतिरिक्त उसकी भाषा को मानसिक विकृति देता है। " उच्चारण की असमर्थता " - मौन - भाषा का संकेत तथा " केवल अब केवल अब का मनोग्रंथि "[2] आज प्रतीकों को नये रूप में समझने की प्रेरणा देती है। " एक कंठ विषपायी "[3] के सर्वहत को पकड़ना अथवा " आत्मजयी "[4] की अनुभूति को जानने के लिए अब केवल अभिधार्थ पर्याप्त नहीं है। छायावादोत्तर कविता के अध्येता की यही समझ " संवेदनात्मक ज्ञान से " ज्ञानात्मक संवेदन " की प्रक्रिया के बीच की एक संभावना है जिसमें अन्य सम्भावनायें तथा सीमायें भी हैं।

१- चांद का मुंह टेढ़ा है : मुक्तिबोध, सं० १९६४

२- अंधायुग : धर्मवीर भारती में (अश्वत्थामा का कथन)

३- एक कंठ विषपायी : दुष्यंत कुमार

४- आत्मजयी : कुंवर नारायण

वर्तमान " प्रतीक " भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम वैदिक काल में मूर्ति चिन्ह, संकेत, दान की वस्तु या पूजा के प्रसाद के रूप में प्रयुक्त होता था । पाश्चात्य जगत में Symbol संकेत धार्मिक-चिन्ह या गले में पहने जाने वाले[१] आभूषण का साम्प्रदायिक रूप था । संस्कृत में प्रतीक की व्युत्पत्ति की गई है- प्रति = पीछे, अक = झुका हुआ, अर्थात् पीछे की ओर मुड़कर अप्रस्तुत से अर्थ ग्रहण करता हुआ ।[२] जिस शब्द की अर्थवत्ता अभिधार्थ द्वारा नहीं अपितु किसी सांकेतिक मुद्रा या भंगिमा पर आधारित हो । "ग्रीवाभंगाभिरामम् - - -

" आज की काव्य-भाषा में प्रतीक ऐसे ध्वनि संकेत हैं जो कर्ता और ग्रहीता के बीच नाद संवेदना द्वारा अर्थ का स्फोट ग्रहण या त्याग सम्पन्न करते हैं ।"

साहित्यशास्त्र में " उक्ति वैचित्र्य," या " व्यंजना व्यापार " के एक भेद के रूप में "प्रतीक " का उल्लेख मिलता है । सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी सिगमण्ड फ्रायड ने प्रतीकों को अचेतन की दमित कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है ।[३] कार्ल युंग ने भी फ्रायड की इस चिन्ताधारा को आगे बढ़ाते हुए प्रतीक को अचेतन के मानसिक संघात से प्रकट अभिव्यक्ति पुंज कहा । साहित्यशास्त्र के जनक "प्लेटो " ने सत्य, तथ्य तथा दृश्य (सादृश्य विधान) में " प्रतीक " को एक माध्यम माना था ।[४] " क्लाइव बेल " ने लिखा है कि शब्द एक प्रतीक है, इसका अर्थ विचार प्रक्रिया, और भाव भी श्रोता के मानस में उद्भूत होता है; निहित रहता है । उन्होंने प्रतीक " की तीन स्थितियों का भी उल्लेख किया है-(१) वाच्य और आलम्बन के बीच का सम्बन्ध, (२) द्रष्टा या प्रयोक्ता की मनोदशा, (३) अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण,[५] डेंवर का कहना है कि प्रतीक का निर्माण एक

१- प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य-मूल्य, डा० प्रसाद, सं०१९८४,पृ०-३२

२- आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द : डा० बच्चन सिंह,

३-

४-

५-

सहज प्रक्रिया है किन्तु इसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अर्थ असहज रूप में चमत्कार युक्त होकर श्रोता या प्रमाता का ध्यान आकृष्ट करते हैं।[1] `अर्नेस्ट कैसिरर` ने तो यहाँ तक कह दिया कि `मनुष्य की भाषा, संस्कृति- धर्म और कला के द्वारा ही प्रतीकों का जाल बुना जाता है। मनुष्य के जीवन का समस्त अनुभव प्रतीकों का उलझा हुआ जाल है। एक सुन्दर और अटूट जाल।"[2]

आज की काव्य समीक्षा में शब्द की सार्थकता, अर्थवत्ता, ग्राह्यता, मूल्यवत्ता, जीवन्तता इत्यादि समान शब्द हैं जो प्रतीकात्मकता के लिये प्रयुक्त होते हैं। बीसवीं शताब्दी की जटिल होती हुई अर्थवत्ता तथा संवेदना पर आश्रित मूल्यग्रहण की समीक्षा ने ` प्रतीक ` शब्द का प्रयोग अब तक के परम्परित अर्थ से भिन्न मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र के वर्तमान सन्दर्भ के अनुकूल ग्रहण किया है। एजरापाउण्ड, डी० एच० लारेंस, एडगर-एलेन-पो, बादलेयर तथा मेलार्मे आदि पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों के प्रभाव से अनुप्राणित काव्य-भाषा तथा समीक्षा में व्यवहृत होने वाला प्रतीकविधान मनोविज्ञान तथा भाषाशास्त्र के समन्वय की देन है।

` प्रतीक,` "प्रतीक-विधान` " प्रतीक योजना " के रूप में व्यवहृत होने वाले इस प्रतिमान का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बादलेयर, मेलार्मे, रुम्बू, बी० यीट्स तथा ब्लाक के साहित्य में हुआ। इससे पूर्व सुप्रसिद्ध कलाचिन्तक हेगल ने " दि फिलासफी आफ फाइन आर्ट " में (१) सिम्बालिक, (२) क्लासिक, (३) रोमान्टिक कलात्मकता की स्थापना की थी। डा० `प्रसाद ` ने हीगल को ही ` प्रतीकवाद ` का जन्मदाता माना है।[3] `बादलेयर ` जर्मनी के सुप्रसिद्ध चिन्तक थे जिन्होंने इसे वाद रूप में नहीं किन्तु अभिव्यक्ति की " नवीन शैली " के रूप में प्रचारित किया। काव्य या साहित्य में इसका प्रथम प्रयोक्ता " मेलार्मे " था।

१-

२-

३- प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य मूल्य : डा० वी० एस० प्रसाद, पं०-[illegible], पृ०-[illegible]

आगे चलकर बादलेयर और मेलार्मे की यह नवीन शैली डब्लू० बी० यीट्स तथा ब्लाक द्वारा अपनायी गई ।

आज की समीक्षा का प्रतीकवाद फ्रांस[1] और जर्मनी के पूर्व प्रतीकवाद से भिन्न " नव प्रतीक " वाद है जिसका श्रेय लैंगर, कैसिरर, ह्वाइट हेड आदि चिन्तकों के अतिरिक्त विलियम एम्पसन को भी है । प्रसिद्ध समीक्षक टी०एस० इलियट के शिष्य एम्पसन का पर्याप्त प्रभाव नवीन समीक्षा पर है । उन्होंने "सेवेन टाइप्स " आफ एम्बीग्युटी " में संदिग्धता को ही कविता की मुख्य पहचान कहकर " पूर्व " प्रतीकवाद से नवीन प्रतीकवाद को उसी प्रकार अलग कर दिया जैसे-आज की समीक्षा तथा काव्यभाषा छायावादी संस्कार से अलग हो गई है ।

हिन्दी आलोचना में प्रतीकवाद का इतिहास अद्भुत और चमत्कारपूर्ण है । आधुनिक समीक्षा के जनक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "काव्य में प्रतीकवाद " निबन्ध में " एलागरी " के विवेचन के साथ ही " प्रतीक " को एलीगरी से भिन्न कहा । उनकी मान्यता है कि कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आन्तरिक प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का समावेश कर लिया जाता है । ऐसे अप्रस्तुत उपलक्षणवत् या प्रतीकवत् होते हैं । शुक्ल जी की इस विवेचना के अनुसार "प्रतीक " अप्रस्तुत आश्रित अलंकारों के निकट होते हैं ।

"प्रयोगवाद और नयी कविता " के स्वतंत्र सौन्दर्यशास्त्र तथा प्रतिमानों के अन्वेषण की होड़ में पूर्ववर्ती परम्परित स्थापनाओं से अलग प्रतीक विधान की भी नयी व्याख्या की जाने लगी । सैद्धान्तिक समीक्षा से व्यावहारिक समीक्षा में आकर " शब्द व्यंजना " की नयी समझ के लिए कैसिरर, विलियम एम्पसन तथा विमसाट की मान्यताओं के अनुरूप " नयी समीक्षा " के अंतर्गत प्रतीकवाद का उद्भव हुआ ।

नयी कविता के काव्यशास्त्र के प्रवर्तक "अज्ञेय " का कहना है कि कविता

१- प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य रूप : डा० वी०एस० प्रसाद, इलाहाबाद

है स्मय कवि इतना सजग नहीं रहता कि वह जिन भाषा, शब्द, वाक्य अथवा मुहावरे द्वारा अपनी बात कहने जा रहा है, वह कलात्मकता के क्षेत्र में सफल होगी अथवा नहीं। अर्थग्रहण के उद्देश्य की पूर्ति तथा प्रेषणीयता की सम्भावनाओं से भी वह विशेष चिन्तित नहीं रहता। अप्रस्तुत विधान, प्रतीक विधान, अलंकार-बिम्ब विधानों द्वारा वह सांस्कृतिक मूल्यों को कलात्मक मूल्यों के रूप में अपनाता है।[1] अज्ञेय द्वारा की गई उपर्युक्त विवेचना में कला या काव्य कला की स्वतंत्र सत्ता का समर्थनावादी चिन्तन सन्निहित है। इसके विपरीत मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल आदि प्रगतिवादी तथा कला व सृजन में संघर्ष को महत्व देने वाले रचनाकारों तथा समीक्षकों का दृष्टिकोण साहित्य के समाजशास्त्र से प्रेरित है।

गजानन माधव मुक्तिबोध ने काव्य-रचना प्रक्रिया के तीन स्तर पर किये जाने वाले रचनाकार के संघर्षों में से " अभि-व्यक्ति का संघर्ष कौशल्य " तथा दृष्टिविकास के संघर्ष की तुलना में महत्वपूर्ण कला, जो कला के अभिव्यंजना पक्ष से सम्बन्धित है।[2] साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र में कलात्मकता की परख के लिए रस अलंकार, ध्वनि रीति एवं वक्रोक्ति के अतिरिक्त प्रतीक, बिम्ब, अप्रस्तुत योजना प्रेषणीयता एवं प्रभावोत्पादकता को " वस्तु " एवं रूपगत मूल्यांकन का आधार माना गया था किन्तु " नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में परम्परित प्रतिमानों के विपरीत "अभिव्यक्ति का संघर्ष " अनुभूति की प्रामाणिकता का निकष बन जाने के बाद भी प्रतीकों को रूपगत मूल्यांकन में महत्वपूर्ण कहा गया है[3] पुष्ट और सुदृढ़ कलात्मक चेतना के विकास की पार्श्वभूमि का होना जहां रचनाकार के लिए अनिवार्य है वहीं आज की समीक्षा के लिए बिम्ब विधान को छायावादी संस्कार का अवशेष मानकर उससे सम्बन्धित प्रतीकों को विश्लेषण में बाधक कहा गया।

१- रचनात्मक भाषा और सम्प्रेषण की समस्या : अज्ञेय, सर्जना और सन्दर्भ सं०-१९८५, में पृ०- ३४३ पर

२- नयी कविता का आत्म संघर्ष : मुक्तिबोध, सं०-१९८३, पृ००-२७ तथा ५६ पर

३- वही

समीक्षा के नये प्रतिमानों को शास्त्र से न ग्रहण कर काव्य रचना के अन्तर में स्थित `अस्मिता` और `सम्प्रेषण` को महत्वपूर्ण कहा गया। नयी कविता की समीक्षा में जब तक सम्यक् ईक्षण या दृष्टि न हो तब तक रूप या अभिव्यंजना गत समीक्षा सम्भव नहीं हो सकती।

नयी समीक्षा के अन्तर्गत कथ्य के अभिव्यंजना पक्ष के मूल्यांकन के लिए काव्य-भाषा के अन्य उपादानों के अतिरिक्त प्रतीकों की परख उसमें छुपे अर्थ संवेदन की समझ के लिए सहायक हो सकती है। तनावपूर्ण जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए `काव्य-भाषा` एक प्रतिमान है तथा `प्रतीक` भाषागत शब्द और अर्थ की संवेदना को पकड़ने के सशक्त माध्यम। तिरछे, आड़े खड़े पड़े विराम चिन्ह, टूटी हुई काव्य पंक्तियाँ, गद्यात्मकता का दोष तथा `एम्बीग्यूटी` की तरह उलझी हुई कथन की भंगिमा मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा राजकमल चौधरी की रचनाओं में देखी जाती है। `अज्ञेय` इसकी व्याख्या रचनाकार की `लाचारी` का कमाऊ रूप में करते हैं तथा रचनाकार की ओर से इसका संकेत आवश्यक नहीं मानते।[1] डा० नामवर सिंह ने `सपाट बयानी` के सहारे बिम्बों में निहित प्रतीकार्थ को ग्रहण करने की सलाह दी है।[2] रघुवीर सहाय ने प्रतीकों के अर्थ को `चीजों के आर पार नया अर्थ` कहा है। नये बिम्बों को नयी कविता के लिए आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कहने वाले केदारनाथ सिंह ने `शब्द की परतों के बीच छूटी हुई` भाषा को प्रतीक भाषा के समकक्ष कहा। पुरानी पड़ती अर्थ की केचुल या `मैले उपमान` का परित्याग कर `कनक चम्पे की कली` के बजाय `कलँगी बाजरे की` के प्रतीक डा० चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती आदि समीक्षकों तथा रचनाकारों ने एक नयी कविता की `प्रतीक योजना` की सैद्धान्तिक भूमिका की सराहना की है। अधूरी और सतही जिन्दगी के अधूरे चित्रों में ही कविता की रचना-प्रक्रिया की पूर्णता लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार यथार्थ का नया धरातल है। `यथार्थ की स्वीकृति के साथ-साथ ही यह मानना होगा कि

जीवन में व्याप्त पीड़ा, वेदना, कुरूपता, विद्रूपता, मृत्यु, प्रतारणा इत्यादि उतने ही सशक्त सत्य है जितने की आनन्द, सुख, शान्ति, सुन्दरता, जीवन और जीवन की संघर्षशील प्रवृत्ति की उदात्त भावना।[१] जीवन का संघर्ष टूटन और बिखराव "वस्तु" में द्वन्द्व और तनाव का कारण बनकर प्रतीकों को कठिन तथा समझ से बाहर कर देता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा का उपर्युक्त कथन आंशिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवन में विद्रूपता या असुन्दरता ही है। नया कवि जिन प्रतीकों का प्रयोग ताजा समझ कर करता है वे भी इतनी बार प्रयोग में लाये जा चुके होते हैं कि किसी भी भ्रान्त सजग गृहीता के लिए बासी या पुराने लगते हैं। "कोरे फतवे" और राजनीतिक नारों द्वारा सप्त के सप्तक "जलसाघर" "मायादर्पण" या "आत्महत्या के विरुद्ध" में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक चुके हुए अर्थ संभावना की दृष्टि से निचुड़े जाते हैं। एक प्रकार की "जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि" तथा पैटर्न के शिकार नये रचनाकारों को "अभिमन्यु" "क्वारी कुन्ती", "प्याज का छिलका", "पदाघात रिरियाता कुत्ता," गन्धाकफ," "बासी-थूक, मवाद, सड़न, बदबू और कीचड़ की प्रतीक-भाषा में अभिव्यक्ति के स्तर पर जूझना ही नहीं मरना पड़ता है। "मरता" तो उर्दू का कवि भी है किन्तु वह मजार में सोकर भी ऐसे चित्रों को देखता है कि गृहीता को "दाद" देनी पड़ती है किन्तु नये रचनाकार की बार-बार होने वाली "मौत", "आत्महत्या" खेलने लगती है।

नयी कविता की रूप एवं कलावादी अभिव्यंजनाश्रित समीक्षा रचनाकारों द्वारा बताये गये बिन्दुओं तथा सीमा रेखाओं से बाहर पड़कर बेमानी और निरर्थक हो जाती है। इसका सार्थक अनुशीलन डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० नामवर सिंह, डा० रघुवंश और श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने किया है। मुक्तिबोध भी इस कमजोरी को स्वीकार करते हैं। "कविता को भाव से पृथक एक पदार्थ" मानकर नये समीक्षक या अनदेखी कर देते हैं कि उनकी स्थापना इलियट या रस्किन का अनुकरण हो जाती

१- नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकान्त वर्मा, संवत्-२०१४, पृ०-१०७

है। नयी समीक्षा का तर्क यह मानकर चलता है कि "कविता एक स्वतंत्र कृति या कला वस्तु है, अपने से परे किसी विचार या अनुभव की व्यंजना नहीं। उसकी अपनी वस्तु सत्ता या गोचर सत्ता है। * * उसमें शब्द अर्थ का विशिष्ट मूर्त अर्थ भी प्रयुक्त होता है।"[१] इस मान्यता की चकाचौंध (आपाधापी) में नया समीक्षक यह भूल जाता है कि उसकी स्थापना दो विपरीत बिन्दुओं की ओर होने के कारण समाज रहित तथा प्रभावहीन हो जाती है।

अज्ञेय की "रचनात्मक भाषा और सम्प्रेषण की समस्या" तथा मुक्तिबोध की "आत्मसंघर्ष" की तिहरी प्रक्रिया में "प्रतीक" या "भावचित्र" इतनी पर्तों के नीचे पड़ जाते हैं कि उनके अर्थ ग्रहण के लिए "सम्यक् मंथन" या "गोताखोरी" आवश्यक होती है। जबकि पाठक या श्रोता "अभिव्यक्ति का संघर्ष" के तुल्य नयी व्याख्या की समझ के लिए संघर्ष मिलने के लिए सदैव तैयार नहीं रहता। "समाज परक दृष्टि" तथा "कलागत अभिव्यंजना" की दो विपरीत सीमाओं में फंसी हुई रचना "भोगने" या जीने के लिए नहीं पहुंचे, ग्रहण करने या समझने के लिए होती है।

<u>प्रतीक-विधान . भावबिम्ब .</u>

नयी कविता की समीक्षा में प्रतीकों की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या के अनुरूप "यौन कुण्ठा", दमित वासना या ग्रन्थि के परिणामस्वरूप बने हुए "आर्केटाइप" को समझने के लिए फ्रायड, एडलर या युंग की मान्यताएँ भी जानना आवश्यक है। जिस प्रकार छायावादोत्तर काव्य-भाषा में समाज अथवा जीवन की चित्रात्मकता आधुनिक सन्दर्भों में ग्रहण की जाती है उसी प्रकार मनोविश्लेषणवादी व्याख्या में प्रतीकों की विशिष्ट अर्थ व्यंजना से जुड़ना पड़ता है। मुक्तिबोध ने अपनी रचना-प्रक्रिया की तुलना फ्रायड से करते हुए कहा है कि "फ्रायड का यह कहना ठीक है कि कला में जो अनायासता और प्रवाह है, जो

१-

रंगीन चित्रात्मक वातावरण है, वह अचेतन स्रोतों के कारण है।"[1] फ्रायड के "सबकान्शस" का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने आगे कहा है कि "मेरे लिए वह प्राकृत शक्ति का एक गतिमान प्रवाह है, जिसके तत्व समाज से प्राप्त होते हैं। इसी प्रक्रिया के अनुरूप नयी कविता के भावबिम्ब की समीक्षा में उनका समाज सापेक्ष्य अर्थ करते हुए आज का समीक्षक उन्हें अनुशासन संदर्भों से जोड़ता है। अपने वर्ग, समाज या श्रेणी को सही जिम्मेदारी के अतिरिक्त "असहाय नकारात्मकता" तथा निस्संगता से बचाने में मनोविश्लेषणाश्रित भावबिम्ब का महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रतीकों की प्रयोग की प्रणाली किसी एक सिद्धान्त पर आधारित न होने के कारण छायावादोत्तर युग का रचनाकार अथवा समीक्षक इनका उपयोग रचना के "टेढ़े मेढ़े रास्ते" अथवा "अंधेरे बन्द कमरे के भटकाव से बचने के लिए" करता है। टटोलते हुए जो भी अर्थ उसके हाथ लगता है उसे वह महान् उपलब्धि कहकर अपनी समीक्षा को महत्व प्रदान करता तथा परस्पर समीक्षक या रचनाकार की दोहरी भूमिका का सही अभिनय करता है। ऐसे ही रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, मुक्तिबोध तथा अज्ञेय ऐसे रचनाकार रहे हैं, जो समीक्षक, व्याख्याता या उसके रूप में युगीन समीक्षा से जुड़े हैं। गिरिजाकुमार माथुर, डा० जगदीश गुप्त, प्रो० विजयदेवनारायण साही भी इसी कोटि के समीक्षक-कवि हैं जिनकी "आर्कीटाइप" योजना सम्बन्धी व्याख्या में क्रियात्मक दृष्टि का अभाव तथा परस्पर समर्थन करने की प्रवृत्ति देखी जाती है।

रघुवीर सहाय की कविता में "मुसद्दी लाल," तिवारी, शर्मा आदि नाटकीय-पात्र मुख्य भाव की भूमिका के चेहरे पर का मुखौटा लगाये हुए हैं।

छायावादोत्तर काव्य-समीक्षा में "स्थापित प्रतिमान" अथवा अभिव्यंजना-प्रणालियों की परख के लिए प्रतीकों की जांच-पड़ताल में सम्पूर्ण समीक्षा को पाठक के लिए महत्व है किन्तु इस प्रकार के छिट-पुट प्रयोगों से समीक्षा का मूल्यांकन सही रूप

१- नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध - मुक्तिबोध

मैं नहीं हो पाता है।

`काव्य-भाषा` के निर्धारक `बिम्ब` (मानचित्र)

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा में अपनाया जाने वाला `बिम्ब-विधान` भारतीय काव्यशास्त्र में न होने पर भी रीति अलंकारवाद, `वक्रोक्ति` तथा ध्वनि सिद्धान्त से सम्बन्धित है। बिम्ब विधान अप्रस्तुत विधान का एक प्रायोगिक रूप है जो स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के मोर्चे से अनेक नये पुराने प्रतिमानों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल आकर आधुनिक युग में चर्चित सा हुआ है। `बिम्ब` इमेज का हिन्दी नामकरण है जो एक ओर `मान` मूल्य, सार्थकता, प्रतिरूप एवं प्रतिकृति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो दूसरी ओर आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणवाद के सहारे उसका सम्बन्ध मनोविकारों से जुड़ जाता है। कविता गीत अथवा गीतिनाट्य में प्रयुक्त होने के बाद `बिम्ब` बाह्यरूप और आकर्षण से जुड़ा है।

हिन्दी समीक्षा में `बिम्ब-प्रतिबिम्ब` के माध्यम से कृति, प्रतिकृति, छाया या चित्र-काव्य परम्परा के रूप में कृतित्व के मूल्यांकन के लिए यह एक चर्चित प्रतिमान है। आचार्य शुक्ल ने `चित्रकाव्य को सामान्य काव्य की कोटि में रखकर मम्मट, पण्डितराज तथा अभिनव गुप्त आदि ध्वनि एवं रसध्वनि वादियों की पूर्व परम्परा का समर्थन किया है। `पण्डित रामदहिन मिश्र` ने बिम्बों को अप्रस्तुत विधान की कोटि में रख इन्हें अलंकार- मुद्रा- चमत्कार तथा सौन्दर्य-निरूपण के माध्यम

छायावादोत्तर काव्य-समीक्षा का 'रूप एवं कलावादी परिणति' तथा 'साहित्य का समाजशास्त्र'

छायावादोत्तर हिन्दी समीक्षा -

नयी हिन्दी समीक्षा प्रयोगवाद, नकेनवाद, नयी कविता, साठोत्तरी कविता की सर्जना एवं अभिव्यंजना पर सप्रश्न दृष्टिपात एवं संवादी मुद्रा की परिणति है । समकालीन हिन्दी कविता के समीक्षा क्रम में कृतिकार और उसके समर्थक कवि द्वारा अपनाये जाने वाले वादगत सन्दर्भ तथा उसकी सम्पूर्ण रचनात्मकता के अतिरिक्त समीक्षकों द्वारा प्रेषणीयता, अनुभूति की प्रामाणिकता, विसंगति और विडम्बना, गीतात्मकता एवं नाटकीयता आदि की स्वीकृति- अस्वीकृति के साथ 'नयी-समीक्षा' के अद्यतन रूप की पहचान बनती है । जिस प्रकार 'नयी कविता' में 'नया' का अर्थ आधुनिकता, यथार्थता, एतद्देशीयता, शिल्पगत प्रयोग, छायावादी संस्कार से मुक्ति, गैर रोमाण्टिकता आदि लिया जाता है उसी प्रकार 'नयी समीक्षा' में भी 'नया' से तात्पर्य है-नये जीवन-मूल्यों के गर्भ से उद्भूत संस्कृति बोध, ऐतिहासिकता, वैयक्तिकता एवं निर्वैयक्तिकता, काव्य-भाषा के क्रमातिक्रम लय-ध्वनि तथा ध्वनिग्राम से आगे बढ़कर विस्फोट करने के अर्थ एवं अर्थानुषंगों के सन्दर्भ ।

नयी कविता का 'नया' विशेषण अब केवल काल-सापेक्ष एवं इतिहास सापेक्ष न होकर 'नये रागात्मक सम्बन्धों के विकास' की तरह बहु आयामी हो चुका है और इस नये पन का अधिकांश नयी समीक्षा से पहचाना और ग्रहण किया जाता है । छायावादोत्तर हिन्दी कविता पूर्ववर्तिनी कविता से भिन्न 'अरुण अरुण वैतरिणी' से 'कितनी नावों में कितनी बार' राही नहीं राहों के अन्वेषियों द्वारा की जाने वाली साधना की नयी अन्वेषणा की परिणति है । जिसमें '[illegible] होता है'

का भय नहीं, `मारो-गोली - दागो-स्साले को ` स्कीनिंग करो मि० क्रास हक्बामिन `हिम पारोलो `कौहारा-सन्नाल ` `तेलिया लिबास पहने शेवर लेट डालू के नीचे लेटा आम आदमी, हरिजन गाथा का दलित कलुआ (नागार्जुन) भी विद्यमान है । `आशंका के द्वीप अंधेरे में ` का आत्मसंघर्षयुक्त रचनाकार `कुमारदास ` का वह `अव्यक्त `,असाध्य वीणा का केश कम्बली `एक कण्ठ विषपायी ` के शंकर अन्धायुग के अश्वत्थामा, आत्मजयी के नचिकेता सदृश पात्रों की मूर्त अथवा प्रतीक रूप मे उपस्थिति [समकालीन कविता को समझने के लिए] अध्येता को ऐसे क्षेत्र की ओर ले चलती है जो `कविता ` का कम सिद्धान्तों एवं मतवादों का अधिक है ।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के आस पास एशिया ही नहीं विश्व के रंगमंच पर ऐसी मान्यताओं एवं स्थापनाओं का अवतरण हुआ जिनसे व्यक्ति स्वातन्त्र्य सह-अस्तित्व, अपराधबोध, मनोविश्लेषण, अति यथार्थबोध, व्यक्तित्व का विघटन, यौन कुण्ठा, मनोरोग सदृश (विविध) प्रकार के दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के बीज शब्द । टर्म । साहित्य-शास्त्र एवं साहित्य में सोचे एवं अपनाये गये हैं । न केवल कविता और उसकी समीक्षा अपितु कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण,रिपोर्ताज़, एकांकी, `एकालाप` आदि विधाओं में भी इतना परिवर्तन हुआ है कि नाटक से एब्सर्ड-नाटक, कविता से - अकविता, कहानी से नयी कहानी का उद्भव नये युग की नवता की प्रतिश्रुति बनी है । हिन्दी साहित्य में गद्यात्मक विधाओं का विकास यथार्थ जीवन की वैज्ञानिकता, तर्क वितर्क . मतवाद तथा वाद-वादिता के अनुरूप हुआ है । जिस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में तिलक से आरम्भ होकर महात्मा गांधी के समय तक सम्मिलित होने वाली पीढ़ी पहले एक ही दल कांग्रेस के झण्डे के नीचे चलती रही किन्तु त्रिपुरी कांग्रेस में जो मतभेद `गरम दल ` तथा नरमदल के रूप में उभरा उससे गांधी जी के नेतृत्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगने लगा था उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी पुरानी पीढ़ी बनाम नयी पीढ़ी का संघर्ष खुलकर सामने आने लगा । आरम्भ

में एकता और अनुशासन बाद मे विखराव एव अलगाव की यह प्रवृत्ति राज-नीतिक है जो साहित्य और समीक्षा में भी अपनी पैठ बना चुकी है । आदर्श के स्थान पर यथार्थ-अतियथार्थ की स्वीकृति, धार्मिक सहिष्णुता एव आध्यात्मिकता के स्थान पर वैज्ञानिकता तथा भौतिकता का अनुगमन आधुनिक संस्कृति की देन है । जीवन और समाज की परिवर्तित होने वाली प्रवृत्तियों के अनुरूप प्रथमत आधुनिक कविता मे हर ८-१० वर्ष बाद प्राय परिवर्तन हुआ, पुन' समीक्षा और उसकी मान्यताओं में भी परिवर्तन होता गया है। प्रगति - प्रयोग- नकेन- नयी कवितावाद से अग्रसर साठोत्तरी कविता की समझ के लिए ग्रहण किये गये प्रतिमानों के अन्तर्गत बिम्ब प्रतीक, मिथक, अप्रस्तुतविधान लय-अर्थ की लय, काव्य-भाषा आदि को स्थान दिया जाने लगा है ।

कृतिकार के छन्द में शब्द मिलाकर समीक्षक द्वारा उसका समर्थन समीक्षा की दुर्बलता है तो समीक्षक द्वारा बिन्हाये गये प्रतीकों एव बिम्बों को घिसे पिटे प्रयोग रचनाकार के चुक जाने का लक्षण है । `प्रयोगवाद` और `नयी कविता` के नाम से छायावादोत्तर हिन्दी कविता का जो `काल खण्ड` सामने आया उसके अन्तर में `अज्ञेय-मुक्तिबोध` की प्रतिभा, अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा अपनी अस्मिता के प्रति सचेष्ट रहकर रचना के प्रति स्थिर समर्पण एव अभिव्यक्ति की ईमानदारी प्रमुख है । नयी कविता (प्रयोगवाद) के मुखरित होने से पूर्व इस धारा पर जितने भी आक्रमण हुए थे उनमें से अधिकांश का जवाब देने के लिए `अज्ञेय` मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, शमशेर, डा० जगदीशगुप्त आदि ने जिन मतवादों और सिद्धान्तों का सहारा लिया समकालीन समीक्षकों ने उसी की विवृत्ति आवृत्ति और प्रत्यालोचना द्वारा नयी कविता के अधिग्रहण करने का प्रयास किया है । समकालीन समीक्षा में प्रगतिवाद- बनाम प्रयोगवाद या प्रयोगवाद- बनाम नयी कवितावाद से चलकर साठोत्तरी कविता के उलझे हुए अन्तर्द्वन्द्वों के ग्रहण एवं मूल्यांकन की प्रक्रिया में अपनाये जाने वाले प्रतिमानों का सम्पूर्ण आलोच्य विधाय के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार यदि `प्रच्छन्नता का उद्घाटन` कवि-कर्म का प्रमुख अंग है तो डा० नामवर सिंह के अनुसार आलोचना कर्म का भी यह अभिन्न अंग है। `हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जाने के कारण कठिनतर होते हुए कविकर्म के कारण आलोचना कर्म भी कठिन होता गया है`[1]। डा० सिंह के अनुसार आचार्य शुक्ल के जमाने में जो कार्य `सभ्यता` द्वारा सम्पन्न होते थे वही काम अब हिन्दी आलोचना में `संस्कृति` द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं। हिन्दी साहित्य तथा आलोचना की इस `संस्कृति` को व्याख्यायित करने के लिए डा० नामवर सिंह ने जनवरी-अप्रैल १९८७ के पूर्वग्रह में प्रकाशित अशोक वाजपेयी की सम्पादकीय टिप्पणी के हवाले स्वीकार किया है कि `साहित्य अपनी विशिष्ट संस्कृति भी विकसित करता है। यह साहित्यिक संस्कृति साहित्य में सक्रिय शक्तियों और दृष्टियों के बीच संवाद का शील निरूपण करती है, सीमायें निर्धारित करती है, खेल के नियम बनाती है; ताकि कुछ सीमाओं का अतिक्रमण न हो सके`[2]। डा० सिंह और वाजपेयी के अनुसार यह (नयी) संस्कृति असहमति और अन्तर्विरोधों को मुख्य प्रक्रिया में समाहित करती है।" डा० सिंह के अनुसार सभ्यता का स्थान ग्रहण करने वाली `संस्कृति` तथा अशोक वाजपेयी की `असहमति और अन्तर्विरोध की` `विशिष्ट संस्कृति` में स्थिति के अनुसार अन्तर है किन्तु यह असहमति और अन्तर्विरोध (फिलहाल) `मुद्रा गिद्ध क्यों पंख फैलाये` के प्रकाशन के उपरान्त छठवें दशक से आया है। इससे पूर्व की हिन्दी समीक्षा में कृतिकार का समर्थन अथवा विरोध ही आलोचना का का पर्याय बना रहा। डा० नामवर सिंह ने इस वास्तविकता को बिना हिचक के स्वीकार किया है कि इस दौर में विकसित नये सौन्दर्य-शास्त्र तथा परम्परित सौन्दर्यशास्त्र में अन्तर है। संस्कृति- सौन्दर्यबोध तथा सौन्दर्य-

---

१- आलोचना - अंक ८७ (अक्टूबर-दिसम्बर ८८ - सम्पादकीय

२- वही ,, (अशोक वाजपेयी का उद्धरण)।

शास्त्र की बहुप्रभुत मान्यताओं से अलग `क्रिटिसिज्म` का दोष-दर्शन और छिद्रान्वेषण वाला अर्थ डा० सिंह को स्वीकार है। `साहित्यिक आलोचना` को रूस में `बेलिंस्की` ने सामाजिक और राजनीतिक आलोचना के प्रखर अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया था तथा हिन्दी में भी वह तेवर सामाजिक-राजनीतिक (समीक्षा) रूप में बरकरार है।[१] डा० नामवर सिंह की इस स्थापना का उद्देश्य है हिन्दी में `रूपवाद` और `कलावाद` के विकास से पूर्व विद्यमान बहुप्रभुत सौन्दर्याभिरुचि को अस्वीकार कर, `एक खास ठाट की कविता` के स्थान पर यथार्थपरक `समाज सापेक्ष्य नयी कविता की स्वीकृति तथा उसी की पहचान के लिए अपनायी जाने वाली संस्कृति के प्रभाव से मुक्त असहमति और अन्तर्विरोधों से युक्त समीक्षा की पहल तथा समर्थन। इस सम्पादकीय से पूर्व `कविता के नये प्रतिमान` `दूसरी परम्परा की खोज` तथा `इतिहास और आलोचना` नामक कृतियों और लेखों में भी डा० सिंह ने इसी तरह की सजीव आलोचना का क्रियात्मक समर्थन किया है किन्तु `कविता` के रूप में पाठक और अध्येता के मन पर पड़ा हुआ संस्कार जिस प्रकार अमिट होता है उसी प्रकार आलोचना का संस्कार भी स्थायी है। यह आलोचना क्रिटिसिज्म होने के साथ ही काव्यानुशासन भी है जिसके द्वारा रचना पर नियंत्रण और परिमार्जन होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी कविता के लिए तथा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी/प्रयोगवाद के लिए यही किया था।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने अधिकांश लेखन में यह नहीं कर सके इसीलिए इनका लेखन समकालीनता से अलग रहा किन्तु डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा तथा डा० नामवर सिंह समीक्षा से पूर्णरूप से जुड़े और चर्चित रहे।

समकालीन कविता के मनोविश्लेषण, कुण्ठा, अपराधबोध तथा

१- आलोचना - (अंक ८७) - अक्टूबर-दिसम्बर ८८, पृ० सं० ६

निराशा की गहरी संवेदना की पहचान के लिए प्रयुक्त हिन्दी समीक्षा में अजनबी विशयिक आद्य बिम्ब की अंधेरी पगडण्डियां तथा निर्वैयक्तिकता की जितनी खाक छानी गई 'कृति' में निहित शिल्प-विधि सौन्दर्य एवं अर्थ के उद्घाटन के लिए इतना प्रयास नहीं किया गया । कला के शाश्वत और चिरन्तन मान-मूल्यों तथा कविता की आस्वाद्यता को किसी प्रकार नकारा नहीं जा सकता भले ही कविता नयी हो या अकविता 'स्वटी पीढ़ी' समानान्तर कविता हो या फिर विदेशी प्रभाव रूप में इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, रूस और अमेरिका में उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों का गम्भीरतर काव्य-प्रवाह जो रचनाकारों एवं कवियों द्वारा वैचारिक स्तर पर शोपेन हावर, कीर्केगार्द, नीत्शे, कामू और काफ्का के माध्यम से ग्रहण किया गया हो । विदेशी प्रभाव से न तो काव्य-कृति अछूती रह सकती है न ही समीक्षा । फिर भी 'प्रभाव' एक सीमा तक ही स्वीकार्य है तथा अनुकरण निषिद्ध साहित्य में किया जा सकता है । आज की समीक्षा में साहित्येतर मूल्यों की शरण लेकर न केवल 'सौन्दर्य-शास्त्र' की भारतीय परम्परा का परित्याग किया गया है अपितु वैश्विक चेतना के नाम पर ऊबकाई, आत्म-हत्या, नपुंसकता, असहायता, निष्क्रियता तथा निरस्त्र, निस्त्राण स्थिति का जितना समर्थन किया गया है वह किसी भी समृद्ध परम्परा के साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । कृतिकार के साथ-साथ समीक्षक को भी वर्तमान पर सापेक्ष्य दृष्टि डालनी पड़ती है तथा चाहे अनचाहे वह भी कृतिकार के पक्ष का समर्थक बन जाता है —

> कहाँ[1] है जी / भला है जी / अजुन जी / उत्कृष्ट जी - - -

ऊब गए हैं । कवि की 'हां' में 'हां' मिलाकर आधुनिक हिन्दी समीक्षक भी जब सार्वीकरण का पथ अपना लेता है तो जाने-अनजाने वह समीक्षक के दायित्व से च्युत हो जाता है । हिन्दी समीक्षा का वर्तमान

१- 'हमने मौन से कहा' - [illegible]

दशक इससे मुक्त नहीं है । जितने उत्साह से क्रोचे, रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट की साहित्यिक मान्यताओं को अपनाया गया तथा अपनी रस-परम्परा के लिए कहा गया कि, 'अब फायदा नहीं निकलेगा.. . ..[1] .... यदि उनसे बचकर अपनी सम्पूर्ण परम्परा के दाय और देय को स्वीकार किया गया होता तो छायावादोत्तर समीक्षा का रूप कुछ और होता । विदेशी वस्तुओं सौन्दर्य प्रसाधनों और वस्त्र विन्यास को अपनाने की आपाधापी में आज की 'कविता' और समीक्षा ने अपने को समृद्धतर तथा वैश्विक स्तर पर दिखाने के लिए आयातित विचारों और रुचियों को आवश्यकता से अधिक ग्रहण किया । जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि हमारी सौन्दर्य दृष्टि, सोचने और ग्रहण करने की दिशा, चिन्तन एवं समझ सब कुछ बदल गयी । रसात्मक प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता, अलंकार का गुण, चमत्कार तथा काव्य के गुण-दोष एवं रीतियां उतनी गूढ़ या दूर नहीं हैं, औचित्य, वक्रोक्ति या ध्वनि उतना त्याज्य नहीं है जितना आज की समीक्षा ने मान लिया है[2] ।

'नयी समीक्षा के प्रतिमान' नामक कृति की भूमिका में डा० निर्मला जैन लिखती हैं कि '१९३०ई० से ६०ई० तक के समय को 'वान डाइक' ने साहित्यिक आलोचना में क्रान्ति का युग कहा है । कहना न होगा कि इस समय की सबसे महत्वपूर्ण और समृद्धतर आलोचनात्मक प्रवृत्ति नयी समीक्षा है ।' इसी काल खण्ड के समानान्तर चलने वाले छायावादोत्तर हिन्दी समीक्षा पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है जिसके आवर्त एवं चिन्तनों से 'नयी समीक्षा' अग्रसर हुई है । 'जान क्रो रैंसम' ने नयी समीक्षा की पहचान के लिए लिखा था कि 'इस युग के अधिक प्रतिष्ठित आलोचकों में वे परस्पर कितना भी व्यापक अन्तर क्यों न हो, वे सबके सब अपने से पहले की पीढ़ी के आलोचकों से किसी न किसी बात में भिन्न हैं । यदि हिन्दी

समालोचना पर भी इस उद्देश्य से दृष्टिपात किया जाय तो आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, डा० नामवर सिंह, डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० जगदीश गुप्त, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, डा० शिवकुमार मिश्र, डा० रमेश कुन्तल मेघ आदि समीक्षकों में भी यह भिन्नता दिखाई पड़ जायगी। भिन्नता, नवता, दृष्टिकोण भेद, मौलिकता तथा सोचने की दिशा प्रक्रिया सम्पन्नता और ग्रहण शीलता का गुण है तथा समीक्षक में यह अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा का छायावादोत्तर काल आरम्भ से ही एक सवाली मुद्रा, अस्वीकृति और स्वीकृति का उन्मेष, पक्षधरता, प्रगतिशीलता, नवता, यथार्थवाद, अभिव्यक्ति की ईमानदारी, अनुभूति की प्रमाणिकता विसंगति और विडम्बना, अर्थ की लय आदि समस्याओं और प्रश्नों से सम्बद्ध होकर अग्रसर हुआ है। नयी समीक्षा के दो छोर—'रूप और कलाकार' तथा 'साहित्य का समाजशास्त्र' इसी चिन्तन प्रक्रिया से उद्भूत है। अतः इन दोनों बिन्दुओं पर दृष्टि डालने से पूर्व तारसप्तक के प्रकाशन से आरम्भ हुई, चौथे पांचवे दशक की हिन्दी समीक्षा पर एक बार पुनः ध्यान दे लेना आवश्यक है। जहां 'तार सप्तक' के सम्पादक ने अपने वर्ग के कवियों को 'प्रयोगवादी' अथवा 'वाद का पदाधर' न कहकर "राही नहीं राहों का अन्वेषी" कहा था। उसी सम्पादकीय भूमिका में यह भी कहा गया था कि वे किसी 'वाद' या 'स्कूल' के समर्थक न होकर मार्क्सवादी या 'मरणास' एक साथ एक संकलन में प्रकाशित हुए हैं। पुराने शब्द में नया अर्थ भरना "आसन अधिक घिसने से छूटे मुलम्मे की तरह पुरानी पड़ी अर्थ की केंचुल उतार कर नयी अर्थवत्ता से युक्त भी अर्थानुषंग युक्त शब्दों के प्रयोग की उनकी स्थापना हिन्दी कविता की समीक्षा में एक नवीन क्रान्ति थी जिस पर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० नामवर सिंह तथा डा० राम विलास शर्मा की समीक्षा दृष्टियां कहीं अलग कोणों से और कहीं समान दिशा में समान रूप से पड़ती है। राहों के अन्वेषियों को "स्कूल से छूटे हुए बच्चे" कहकर आचार्य वाजपेयी ने आगे कहा था कि

'ये अपने घर का रास्ता भूल गये हैं'। वाजपेयी की अगली टिप्पणी रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण से सम्बन्धित थी। इन आरोपों का उत्तर अज्ञेय ने 'त्रिशंकु', 'प्रतीक', दूसरे-तीसरे 'तार सप्तक' की भूमिकाओं तथा कई अन्य लेखों में देने के साथ ही 'चौथे सप्तक' की भूमिका (कवि दृष्टि) में कई तर्क दिये, जिनकी सहमति-असहमति ही 'नयी समीक्षा' का सूत्र वाक्य बनी है। १९५० ई० के बाद 'हिन्दी समीक्षा' के क्षेत्र में 'नया' क्या है तथा 'कविता क्या है' का प्रश्न उठाया गया। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा लिखित नयी कविता (लेख माला) डा० नगेन्द्र का निबन्ध 'छायावादोत्तर हिन्दी कविता . मूल्यांकन की समस्या' डा० जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित 'नयी कविता' पत्रिका के सम्पादकीय (अग्र लेख) तथा मुक्तिबोध की एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध 'नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र' गिरिजा कुमार माथुर की समीक्षा कृति नयी कविता सीमायें सम्भावनायें, डा० शिव कुमार मिश्र का 'नया हिन्दी काव्य' प्रकाशित हो जाने के बाद १९६५ ई० तक नयी कविता ने (स्थायी) मुकम्मल रूप प्राप्त किया[1]। 'आलोच्य समीक्षा' की सहज शुरुआत इसके समानान्तर सही समय पर उठने वाली सही बात के रूप में हुई। 'नयी कविता के प्रतिमान' (लक्ष्मी कान्त वर्मा, कविता के नये प्रतिमान (नामवर सिंह) आदि समीक्षा कृतियों के प्रकाश में आ जाने के बाद भी यह सिलसिला चलता रहा तथा डा० रामविलास शर्मा की कृति 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' के प्रकाशन में भी उसी की क्रिया-प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। इससे पूर्व डा० शर्मा ने 'आस्था और अयथार्थ का साहित्य' नयी कविता लिखकर डा० धर्मवीर भारती, डा० रघुवंश, विजयदेव नारायण साही तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा के विचारों का खण्डन किया था।

'नयी कविता' के समानान्तर विकसित 'नयी समीक्षा' में वस्तुतः

१- डा० नामवर सिंह के अनुसार - 'चांद का मुंह टेढ़ा है' के प्रकाशन काल तक नयी कविता ने अपना दौर वस्तुतः पूरा कर लिया।

की नयी आलोचना की अनुगूंज है । डा० बच्चन सिंह के अनुसार `नई समीक्षा` अपने सही रूप में आने के दो दशक पहले ही शुरू हो चुकी थी[1] या इस दिशा में लोग सोचने लगे थे । डा० नगेन्द्र, डा० निर्मला जैन, `जान क्रो रैन्सम` की पुस्तक `दि न्यू क्रिटिसिज्म` के प्रकाशन (१९४१) काल से नयी समीक्षा को प्रतिष्ठित मानते हैं । इससे पूर्व `स्पिंगार्न` ने (१९१०) ई० में इसी शीर्षक से एक व्याख्यान दिया था । `स्पिंगार्न` के इस व्याख्यान का प्रभाव `एजरापाउण्ड` टी० एस० ईलियट, आई०ए० रिचर्ड्स, तेन एम्पसन आदि की समीक्षात्मक कृतियों पर देखा जाता है । क्लीथ ब्रुक्स, `एलेन टेट` राबर्टपेन वारेन, आइवर विंटर आदि समीक्षकों पर भी `रैन्सम` की उपर्युक्त रचना का प्रभाव है । हिन्दी नयी समीक्षा में अपनाये गये बीज शब्द `विसंगति और विडम्बना` (पैराडाक्स एण्ड आइरनी) बनावट और बुनावट (टेक्सचर एण्ड स्ट्रक्चर) तनाव (टेंसन) शिशुवत जिज्ञासा, इन्हीं पाश्चात्य समीक्षकों के ग्रहण किये गये हैं । लीविस, एम्पसन, आदि कृतिकारों एवं समीक्षकों की मान्यताओं का सन्दर्भ `काव्य-भाषा` के सिद्धान्त रूप में हिन्दी नयी समीक्षा में ग्रहण किया जा रहा है । जिस प्रकार पश्चिम के `नयी समीक्षा` के विचारकों का मुख्य विरोध `रोमानी संवेदना` से था उसी प्रकार हिन्दी के नये समीक्षक भी `छायावादी संस्कार से मुक्ति` का प्रश्न बार-बार उठाते देखे जाते हैं । गजानन माधव मुक्तिबोध, डा० नामवर सिंह, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, गिरिजा कुमार माथुर आदि नये समीक्षक एक साथ एक मोर्चे से छायावाद तथा स्वच्छन्दतावाद पर आक्रमण करते हैं तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी भी कहते हैं कि `आधुनिकता रोमांटिक भावधारा को ठीक-ठीक पर्यवसित किये बिना विकसित नहीं हो सकती ।`[2] नयी कविता की ही तरह आधुनिकता की भी अनेक व्याख्यायें है

१- साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद - डा० बच्चन सिंह, सं० [illegible],
पृ० [illegible] ।

२- कल्पना - जनवरी [illegible] (डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी)
(डा० रामविलास शर्मा द्वारा नयी कविता और अस्तित्ववाद में उद्धृत - पृ० [illegible]) ।

किन्तु उनमें यदि कोई सामान्य तत्व है तो यह कि आधुनिकता छायावाद की विरोधी है ।[1] पश्चिम और पूर्व की नई कविता और नई समीक्षा का यह आश्चर्यजनक साम्य बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में देखा जाता है । इसीलिए हिन्दी नयी समीक्षा का आरम्भ इसी समय से मानना उपयुक्त है ।

(२) स्वच्छन्दतावादी दृष्टि बनाम नये यथार्थवादी प्रतिमान

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा `प्रयोगवाद' पर की गई टिप्पणी तथा साधारणीकरण की समस्या से सम्बन्धित आरोपों का खण्डन करते हुए `अज्ञेय' ने दूसरे सप्तक की भूमिका में कहा है कि `जो अब भी नहीं समझे ( नये रागात्मक सम्बन्धों को ) वे नये अनुभव से कट गये हैं । यह मोर्चा आरम्भ में अज्ञेय बनाम नन्द दुलारे वाजपेयी का था, जिसमें डा० जगदीश गुप्त प्रयोगवाद और नयी कविता की पक्षधरता के कारण अज्ञेय से जुड़ गये तथा डा० नगेन्द्र `रससिद्धान्त' नामक कृति में साधारणीकरण की समस्या पर विचार करते हुए आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के विचारों के निकट पहुंच गये । अज्ञेय का बार-बार यह कहना कि `हम वादी नहीं रहे ` से यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि वे `वादी ` नहीं `प्रतिवादी' हैं ; क्योंकि `वादी ` तो आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी हैं । समीक्षक के लिए रचनाकार की चुनौती अथवा समीक्षक द्वारा लगाये गये आरोपों के खण्डन के लिए प्रयोगवाद के अलावा पुरस्था का मुखर होना `नयी समीक्षा ` का प्रथम प्रस्फुटन है जिसमें नये कवि का आत्मस्वीकार पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी का द्वन्द्व, क्रान्ति विद्रोह समाहिति, द्वन्द्व व एवं नैराश्य की परिणति, आत्मसापेक्ष पक्षधरता, तटस्थता तथा अपने मोर्चे पर (माध्यमी मोर्चे पर) जूझने की मुद्रा उल्लेखनीय है ।

१- नयी कविता और अस्तित्ववाद - डा० रामविलास शर्मा, सं० १९७८, पृ० ३१ ।

आचार्य वाजपेयी की समीक्षा-दृष्टि भारतीय काव्य-शास्त्र के सौष्ठववाद एवं 'अनुभूति' से प्रेरित तथा छायावादी कविता से ग्रहण किये गये स्वच्छन्दतावाद के अधिक निकट थी। अब नयी समीक्षा का प्रथम दौर स्वच्छन्दतावाद बनाम गैर स्वच्छन्दतावाद का, आदर्शवाद बनाम यथार्थवाद (अति यथार्थवाद) का था। इस मान्यता के अनुसार वाजपेयी जी के विचारों के निकट पड़ने वाले छायावादी संस्कारों से विरोध नयी कविता के कवियों और समीक्षकों का अपना मोर्चा बन गया। यहीं से नये हिन्दी कवियों ने अपने को पुरानी हिन्दी कविता — छायावाद युग की कविता से अलग करते हुए कहा कि 'नयी हिन्दी कविता पुरानी हिन्दी कविता से अनेक बातों में इतनी भिन्न है कि उसको पहली ही दृष्टि में सरल भाव से पहचान लेना सरल नहीं है। पुरानी कविता में भाव, विभाव, अनुभाव को रस का संस्कार देकर आकर्षक एवं सुगन्धि पूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने की परम्परा पाई जाती है। इसके विपरीत नई कविता में सम्बन्धों के मूल कारणों का अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति है।' फलत नई कविता में आलोचना हास्य और व्यंग्य के तत्व भी पृथक रूप में विन्यस्त हैं।[1] कविता के क्षेत्र में प्रयोगवाद की जो धारणा शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन आदि ने स्वीकार की थी। नयी समीक्षा भी समाजवाद-यथार्थवाद तथा प्रतिबद्धता की उसी प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दृष्टि से जुड़ जाती थी। इसीलिए प्रयोगवाद 'नया रूप विधान नये रागात्मक सम्बन्धों के नाम पर केवल समाज निरपेक्ष मध्यमवर्गीय व्यक्ति की मानसिक बीमारी'[2] होने पर भी नये समीक्षकों का सहानुभूतिपूर्ण ध्यान आकृष्ट करने में सफल रहा।

१- शैल (जून ४७)(डा० रामविलास शर्मा द्वारा उद्धृत 'नयी कविता और अस्तित्ववाद में पृ० २१ पर) ।

२- प्रयोगवाद के सम्बन्ध में डा० नामवर सिंह की टिप्पणी (डा० रामविलास शर्मा द्वारा उद्धृत) ।

प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) समीक्षक पहले से ही स्वच्छन्दतावाद के विरोधी थे अत प्रयोगवादियों द्वारा आचार्य वाजपेयी के विरोध में वे भी सम्मिलित हुए । हिन्दी नयी समीक्षा का यह काल `हंस`, `नया साहित्य` `आलोचना` `प्रतीक` आदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अग्रसर हुआ । प्रतिमान की दिशा मे नये रूप-विधान की स्वीकृति, नये रागात्मक सम्बन्धों की विवृति समाज निरपेक्ष मध्यम-वर्गीय जीवन की कुण्ठा, निराशा एव असफलता का समर्थन नयी समीक्षा में देखा जाता है । प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में अन्तर्विरोध होने पर भी छायावादी-स्वच्छन्दतावादी संस्कार से मुक्ति के आकर्षण के कारण अब तक इनका मुख्य विरोध `छायावाद` से रहा । इसीलिए `अनुभूति` के विपरीत कवि के अनुकूल स्वर की खोज, जीवन की रागात्मकता के विपरीत बदले रागात्मक सम्बन्धों का अनुसंधान दिखाने वाली रसात्मक कविता के स्थान पर बौद्धिकतायुक्त दिखाने वाली खुरदरी ताजा कविता, टटके नये शब्द, आत्मसजगता, अनुभूति की जटिलता एव तनाव आदि की अवधि नयी समीक्षा का सूत्र बन गई ।

छायावादी संस्कारों के साथ-साथ रोमानी संवेदना, भावुकता, भावों का सहज उच्छलन, लयात्मकता, गीतात्मकता तथा कविता के अन्य परम्परित तत्वों को खारिज करते हुए उन्हें यथार्थ एव जीवन मूल्यों के ग्रहण मे बाधक कहा गया । स्वच्छन्दतावादी काव्य में अपनायी गयी `मैं` शैली वैयक्तिकता भावनामय बिम्ब, अप्रस्तुत विधान तथा शब्दार्थ प्रयोग की गीतात्मकता की पूर्व प्रणाली को रीतिकाल का जूठन मानकर नये समीक्षक ने लयविहीनता गद्यात्मकता घुटन उबासपन के मोह, अंधेरे और उजाले के जीवन-द्वन्द्वों के संवाहक प्रतीक, तिरछे आड़े खड़े पड़े सौफ्ट बिम्बों को नयी कविता का सवाहक माना ।

डा० नगेन्द्र द्वारा `छायावादी कविता की पहचान के लिए की गई स्थापना `छायावाद` स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है`[१] के विपरीत

१-

नये समीक्षक विजय देवनारायण साही, डा० नामवर सिंह, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा कृतिकार 'अज्ञेय' ने भी कहा कि 'नये कवि की अनुभूति भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा नहीं है -- रूप के भाव ग्रहण की चेष्टा है, दूसरे शब्दों में तथ्य का सहसा अर्थ से आलोकित हो जाना है। जाने हुए का पहचाना हुआ हो जाना है।'[1] छायावादी कविता से नयी कविता का अन्तर स्पष्ट करने के लिए डा० नामवर सिंह ने 'प्रसाद' और 'अज्ञेय' की कविता के सहारे कहा कि 'छायावादी काव्य रचना प्रक्रिया भीतर से बाहर की ओर है', 'इसमें रूप पर भाव का आरोपण होता है' तथा 'नयी कविता की रचना-प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है', (इसमें) रूप का भाव में रूपान्तरण होता है। विजय देवनारायण साही ने लिखा कि कामायनी में अनुभूति दर्शन में परिवर्तित होती है और अज्ञेय दर्शन को अनुभूति में बदल देते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नयी कविता के प्रतिमान में 'नयी कविता' को समझाने के लिए छायावादी कविता को अधिक समझाते हुए छायावादी कल्पना को शिशुवत् जिज्ञासा कह डाला तथा महादेवी और बच्चन पर भी आक्रमण किया। इतना ही नहीं गिरिजा कुमार माथुर, नयी कविता सीमायें सम्भावनायें' के सीमा-निर्धारण के लिए छायावादी सीमा से जा टकराये। 'छायावाद में न केवल शब्द विन्यास, बिम्ब भाव और काल्पनिक उद्भावनाओं की एक रीतिकालीन रूढ़ि स्थापित हुई अपितु शब्दनाद भी रीतिकालीन कवियों की भांति अनुप्रासात्मक रहा।'[2]

इस प्रकार छायावादी कविता की कल्पना प्रवणता, कैशोर भावना, स्वच्छन्दतावादी दृष्टि, रोमानी चेतना, बिम्ब एवं अप्रस्तुत विधान, रागात्मकता एवं भावात्मकता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए 'प्रयोगवाद'

१- कविदृष्टि - अज्ञेय

२- नयी कविता : सीमायें और सम्भावनायें - गिरिजाकुमार माथुर

के पक्षधर समीक्षकों ने प्रगतिवादी यथार्थवाद के मोर्चे से आक्रमण आरम्भ किया । आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र की कृति -रस-सिद्धान्त तथा `रस सिद्धान्त नये सन्दर्भ ` में अनुभूति, गीतात्मकता कविता की ध्वनि रसवादी व्यापक दृष्टि का विरोध `नयी समीक्षा ` में देखा जाता है । वाजपेयी जी ने छायावादी कविता की पहचान के साथ-साथ प्रसाद-निराला तथा पन्त की कविता की समीक्षा के लिए जो सूत्र अपनाये नया प्रयोगवाद और नयी कविता में जिस खुरदुरेपन अपरिपक्वता तथा बचकानेपन को त्यागने की सलाह दी, नया कवि तथा नये समीक्षक अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए उन्हें वास्तविक और यथार्थयुक्त सिद्ध करने लगे । इस व्याख्या के लिए सबसे अधिक सहायता टी० एस० ईलियट के सिद्धान्तों से ली गई । अज्ञेय तथा रघुवीर सहाय जिसे `जाने हुए का पहचाना हुआ हो जाना` और अपने मोर्चे पर जूझना कहते हैं । टी० एस० इलियट ने इसी तरह पहले ही कहा था - निर्वैयक्तिकता, अमूर्तन, कविता आत्माभिव्यक्ति नहीं व्यक्तित्व से पलायन, कवि व्यक्तित्व का उसकी रचना से सीधा सरोकार न होना ऐसी स्थापनायें हैं । टी० एस० इलियट ने भी समीक्षा-क्षेत्र में प्रवेश करते ही किशोरावस्था में वह जिस शैली और शैलेयों से प्रभावित था, उन्हीं स्वच्छन्द भावों पर आक्रमण करना आरम्भ किया । `नयी समीक्षा` के लेखकों और पाश्चात्य नयी समीक्षा के चिन्तकों का यह साम्य आश्चर्य और कुतूहल तो नहीं उत्पन्न करता पर कहीं-कहीं प्रेरित अवश्य करता है, इन नये समीक्षकों की गहराई महत्व तथा मौलिकता की परख के लिए ।

छायावादी कविता का `कलाविधान` आधुनिकता का प्रथम चरण है जहां से आधुनिक कविता की वास्तविक समीक्षा ने प्रेरणा ग्रहण की । छायावादी सौन्दर्यबोध (पन्त), जीवन दर्शन (प्रसाद),गीतात्मकता (महादेवी) तथा प्रगतिशीलता (निराला) की परख और समझ के लिए जो समीक्षा कृतियां रची गयीं उनसे हिन्दी समीक्षा को एक आधार मिला किन्तु `नयी समीक्षा` के आलोचकों ने अपनी `प्रतिभा` को विशिष्ट रूप से

प्रदर्शित करने के लिए पूर्ण परम्परा को नकारा ही नहीं उससे ग्रहण किये गये दाय एवं देय को भी स्वीकार नहीं किया। गिरिजा कुमार माथुर, डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, डा० धर्मवीर भारती, डा० जगदीश गुप्त, वी० डी० एन० साही आदि नये कवि जिस प्रकार छायावाद से रोमानी संवेदना, नवरहस्यवाद, कल्पना प्रवणता ही नहीं बिम्ब एवं शब्द चित्र भी ग्रहण करते हैं उसी प्रकार नयी समीक्षा भी स्वच्छन्दतावादी समीक्षा से बहुत कुछ ग्रहण करके आगे बढ़ी है भले ही ये चेतना को क्रिया रूप में न मानकर अपनी नवचेतना को नये जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति कहें।

२-(ख) छायावादोत्तर समीक्षा का दूसरा दौर

यथार्थ दर्शन से उत्पन्न कुण्ठा बनाम बहिर्मुख - सौन्दर्याभिरुचि -

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा का दूसरा दौर १९५३ ई० के बाद आरम्भ हुआ। नयी कविता के आरम्भिक काल से ही प्रयोगवाद और नयी कविता के दो शीर्षस्थ रचनाकार मुक्तिबोध और अज्ञेय का एक साथ सर्जना की दिशा में अग्रसर होना यदि गिरिजा कुमार माथुर की दृष्टि में 'वास्तविक आधुनिकता' का आगमन है[1] तो हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में दूसरे सप्तक के प्रकाशन काल से ही अज्ञेय की आक्रोशी मुद्रा का लोप पण्डित जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव में आकर उनके अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन (१९५१ ई०) तथा अपनी कृति पर 'भारत एक खोज' के लेखक द्वारा भूमिका लिखाना एक शीत युद्ध का आरम्भ है जो १९५५ ई० के बाद पहले रचनात्मक स्तर पर पुनः समीक्षात्मक स्तर पर अलगाव के रूप में देखा गया। अज्ञेय समर्थकों की सौन्दर्याभिरुचि को 'बहिर्मुख सौन्दर्याभिरुचि' की संज्ञा देते हुए मुक्तिबोध ने लिखा था कि - 'सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है, जिस विशेष

१- नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ - गिरिजा कुमार माथुर, सं० १९६६, पृ० ८-९

वर्ग ने विशेष परिस्थिति में ही सौन्दर्याभिरुचि को स्वीकार किया है[1] और उस अभिरुचि के अन्तर्गत सेन्सर अपनी सक्रिय है। इस उच्च मध्यम-वर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के अधीन ही निम्न मध्यम वर्गीय कविजन जाने अन-जाने उस फ्रेम के कारण सेंसर लगाते रहते हैं।

'नयी कविता' के इस साहित्यिक सिद्धान्तों के शीत युद्ध का ही कारण है कि अज्ञेय 'आत्म ग्रस्तता' तथा 'वस्तु-सत्य' तथा 'व्यक्ति-सत्य' के द्वन्द्व को रागात्मकता के द्वारा 'तथ्य' को सत्य बनाने पर बल देते हैं[2] तथा मुक्तिबोध यथार्थ दर्शन की प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न छटपटाहट और आक्रोशी मुद्रा को कविता में व्यक्त करने के लिए 'दृष्टि विकास के संघर्ष' तथा 'अभिव्यक्ति के संघर्ष' का दुहरा खतरा मोल लेकर 'भूल गलती' (प्रकाशन १९६३) का एहसास कर रहे हैं। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में प्रकाशित उपर्युक्त कविता 'एक साहित्यिक की डायरी' की विसंगति तथा नयी कविता का आत्मसंघर्ष में आयी हुई चोट खाये व्यक्तित्व की नयी संवेदना एक निश्चित सीमा पर आकर एकाकार होती है। 'रागात्मकता' का समर्थन करने वाले रचनाकार 'अज्ञेय' तथा 'परिमल' संस्था से जुड़े लक्ष्मीकान्त वर्मा, धर्मवीर भारती आदि के साथ गिरिजा कुमार माथुर, डा० जगदीश गुप्त, डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी तथा बी० डी० एन० साही का झुकाव देखा जाता है। इसके विपरीत आत्मसंघर्ष कुण्ठा और निराशा से परिचालित 'सत्य की एक रात' का तनाव भेलकर 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'जंगल का दर्द' लड़ने वाले समीक्षकों, रचनाकारों का एक वर्ग अलग रहा है। 'आलोचना' (जुलाई-सितम्बर १९६८) में डा० केदारनाथ सिंह ने लिखा है कि, "अपने अन्य समकालीन कवियों की परिधि से मुक्तिबोध का काव्य यदि कुछ अलग या खड़ा हुआ दिखाई पड़ता है तो इसलिए कि उन्होंने सृजन के स्तर पर कला के

१- नयी कविता का आत्मसंघर्ष - मुक्तिबोध

२- कविता के नये प्रतिमान - डा० नामवर सिंह, सं० १९६८, पृ० ८९

संघर्ष को अस्तित्व के स्तर में एकाकार कर लिया ।

नया कविता में तैयार होने वाले उच्च मध्यम वर्ग (अज्ञेय समर्थक) तथा निचले गरीब मध्यवर्ग (मुक्तिबोध समर्थकों) का तीसरे सप्तक में एक साथ प्रकाशित होना एक समन्वय है किन्तु असली बिलगाव समीक्षा कृतित्व में देखा जा सकता है । तीसरा सप्तक में कवि रूप में स्थान पाने वाले डा० केदारनाथ सिंह तथा अन्य नये रचनाकारों का मोह अब भंग होने लगा था । जिसकी परिणति `नये कवि से` के विरुद्ध नयी कविता पत्रिका में हुई, अज्ञेय के विचारों का विरोध करते हुए उन्हें `असमय में ही अस्त हो गये` कहा गया । निराला के लिए कहा गया वाक्य नयी पीढ़ी ने उन्हीं पर चिपका दिया । डा० नामवर सिंह कहते हैं कि मुक्तिबोध के कृतित्व का महत्व इसी `भ्रम-मुक्ति` में है । नयी समीक्षा में `बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाये` लेख तथा अज्ञेय के भ्रम से अलग मुक्तिबोध के निकट आने वाले नये (नवयुवक) रचनाकारों को डा० केदारनाथ सिंह ने प्रतिपदा की भूमिका में स्वीकार किया है[१] ।

इसी समय `उच्छृंखल`, `नया साहित्य` तथा `हंस` आदि पत्र-पत्रिकाओं में डा० रामविलास शर्मा की समीक्षायें छप रही थीं ।परिमल के समर्थक आलोचकों द्वारा `कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम` का आयोग प्रगतिशील लेखक संघ को कम्युनिस्ट कार्यवाही मानते हुए डा० शर्मा ने उन आलोचकों द्वारा स्वीकृत नयी कविता को `आलोचना की लाठी से बार-बार हांकी जाकर` स्वीकार की जाने वाली` कहा । समकालीन समीक्षा के इसी दौर में `कविता के नये प्रतिमान` या `नयी कविता के प्रतिमान` के अतिरिक्त अन्य कई ज्वलन्त प्रश्न उठाये गये । १९५२ ई० से आरम्भ हुई हिन्दी समीक्षा का यह दूसरा दौर १९६२ ई० तक रहा और अब भी किसी न किसी रूप में जारी है ।

१-(क) आलोचना (जुलाई-सितम्बर ५८)

(ख) सन् ६० के बाद के हिन्दी कविता - धर्मयुग - ५ अगस्त, १९६२

साठोत्तरी पीढ़ी द्वारा मोह भंग की अनुभूति तथा सांस्कृतिक स्तर पर बीटनिक कविता के माध्यम से सेक्स, यौनाचार, नग्नता प्रदर्शन तथा काल गर्ल और माडलिंग के बढ़ते प्रभाव के परिणामस्वरूप नई पीढ़ी के कुछ रचनाकार 'माया दर्पण' 'मुक्ति प्रसंग', 'ककावती' जैसी 'अकविता' का समर्थन करने लगे। इन्हीं दिनों अस्वीकृति और विद्रोह की भूमिका में सक्रिय विभिन्न रचनाकारों के समर्थन में समकालीन समीक्षा का तीसरा दौर १९६९-७० से प्रारम्भ हुआ जिसके अन्तर्गत तीन 'उपधारायें' देखी जाती है।

पहली प्रमुखधारा -

यथार्थवाद और समाजशास्त्र के साथ-साथ मानवतावादी जीवन-दृष्टि की आड़ मे पश्चिम से आने वाले 'साहित्य का समाजशास्त्र' का समर्थन करती है। हिन्दी समीक्षा में यद्यपि इस मार्ग के समीक्षकों को मार्क्सवादी रूप मे वाश्वत: स्वीकार किया जाता है किन्तु इनकी समीक्षा में कलात्मक मूल्यों के प्रति उतना आग्रह नहीं है जितना कि मार्क्सवादी समीक्षकों में है।

दूसरी धारा -

मनोविश्लेषण और आत्म बिम्ब के माध्यम से आगे बढ़कर भूखी पीढ़ी, नयी पीढ़ी के मन की उलझनों का एक फ्रायडीय विश्लेषण खोज रही है। अह, अत्यहं, इद से आगे अवचेतन की दमित-वासना के द्वारा एडलर और युग का पथ अपनाकर अनास्था, अपराधबोध नयी पीढ़ी का विद्रोह, भटकाव आदि का कारण खोजने में संलग्न है।

तीसरी धारा -

हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षकों की है जो अब भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समर्थन करते हुए परम्परागत, उदारवादी मार्क्स के समर्थक दृष्टिकोण, कृत्रिम-भौतिकवाद से प्रभावित होने पर भी 'मार्क्स' में पूरी आस्था रखते हैं।

`हिन्दी समीक्षा ` के ये परस्पर विरोधी किन्तु अधिकांश मिलते जुलते मार्गों के तीन प्रमुख प्रतिमानों पर विचार अपेक्षित है --

(१) साहित्य का समाजशास्त्र

(२) रूप एवं कलावाद

(३) शैली विज्ञान या रीतिविज्ञान

(३) छायावादोत्तर हिन्दी समीक्षा साहित्य का समाजशास्त्र

समकालीन हिन्दी समीक्षा की प्रगतिशील परम्परा के अन्तर्गत स्वच्छन्दतावाद के विरोध में आयी मार्क्सवादी तथा यथार्थवादी विचारधारा की एक नवीन परिणति `साहित्य का समाजशास्त्र ` है । जिस प्रकार हिन्दी समीक्षा की अधुनातन परिणति । डा० मैनेजर पाण्डेय के अनुसार । नयी कविता में यथार्थवादी प्रतिमान की स्थापना है, जबकि इंगलैण्ड और अमेरिका में यथार्थवाद का प्रतिमान कहानी और उपन्यास के लिए प्रचलित है, उसी प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा के साथ ही साहित्य का समाजशास्त्र भी प्रतिमान रूप में व्यवहृत होने लगा है । इस मान्यता के अपनाये जाने का दूसरा प्रमुख कारण कार्लमार्क्स के बाद ग्राम्शी, लूशिये गोल्डमान `फ्लेखनोव ` लुकाच आदि समीक्षकों का विश्व समीक्षा पर बढ़ता हुआ प्रभाव है । परवर्ती मार्क्सवादी चिन्तनधारा के साथ ही सामाजिक और राजनीतिक दबाव तथा रूप और कलावाद के विरोध रूप में आये इस समाज-शास्त्रीय प्रतिमान की लोकप्रियता का कारण है नयी समीक्षा की वस्तुपरक दृष्टि ।

`छायावादी संस्कारों से मुक्ति ` के लिए हिन्दी समीक्षा में प्रगतिशीलता के माध्यम से एक ओर काव्य-भाषा तथा शैली विज्ञान का

१- हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना . कितनी मार्क्सवादी-कितनी आलोचना -- डा० मैनेजर पाण्डेय, आलोचना - जुलाई - सितम्बर ८८, पृ० १० ।

सहारा लिया गया, जो प्रयोगवादी कविता के शलाका पुरुष अज्ञेय की सप्तकीय भूमिकाओं का परवर्ती विकास है[1] तो दूसरी ओर मुक्तिबोध और उनकी कविता में प्रयुक्त आत्मसंघर्ष एवं सामाजिक तथा राजनीतिक दबाव की पहचान के लिए 'नये प्रतिमान' अथवा नये साहित्य का (नया) सौन्दर्य-शास्त्र लागू करने पर बल दिया गया[2]। डा० मैनेजर पाण्डेय ने हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए पहले ग्राम्शी का उद्धरण देकर वर्तमान समीक्षा की दो परिणतियों का उल्लेख किया है जो 'कलाकार' और 'कृतित्व' पर आधारित हैं। मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति के दोनों खेमों के जटिल सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए डा० पाण्डेय ने यह स्वीकार किया है कि हिन्दी के ये आलोचक मार्क्सवादी ही कहे जाते हैं जबकि एक खेमा 'समाजशास्त्रीय प्रतिमान' अपनाता है। 'इस धारा में रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और लेखक की जीवनी की खोज होती है। उसमें प्राय रचना की अन्तर्वस्तु का ही विवेचन होता है। इस धारा के कुछ आलोचकों ने विषयवादी आलोचना की एक प्रवृत्ति चला रखी है, जिसके अनुसार कुछ खास विषयों पर लिखी गई रचनायें ही प्रगतिशील मानी जाती हैं। . , . इस प्रक्रिया में एक ही विषय पर लिखी गई रचनाओं में कला की दृष्टि से फर्क करना मुश्किल हो जाता है। कुल मिलाकर यह आलोचना अपने सर्वोत्तम रूप में राजनीतिक आलोचना होती है और वह प्राय समाजशास्त्रीयता का शिकार होने के लिए अभिशप्त होती है[3]। दूसरी धारा जीवन और जगत के

१- 'नयी कविता' में प्रतिमान सम्बन्धी परिचर्चा : (अंक ५-६)
-सं० डा० जगदीश गुप्त।

२- कविता के नये प्रतिमान (भूमिका) - डा० नामवर सिंह

३- हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना : कितनी मार्क्सवादी, कितनी आलोचना।
- आलोचना (पत्रिका) - जुलाई - सितम्बर ८८, पृ० ११-१२

यथार्थ का विशिष्ट बोध मानती है और रचना में उस यथार्थ की पुनर्रचना पर विचार करती हुई उसको कला की समस्या से टकराती है ।[1] सर्वोच्च रूप में राजनीतिक आलोचना डा० पाण्डेय की दृष्टि में समाजशास्त्रीय होने के कारण 'अभिशप्त' होने के लिए विवश है जबकि यथार्थ की पुनर्रचना तथा कला की समस्या से टकराने वाली शुद्ध मार्क्सवादी आलोचना डा० पाण्डेय की दृष्टि में 'अभिशप्त' नहीं है । समकालीन आलोचना के परिसंवाद सम्बन्धी इसी आलेख में आगे डा० रामविलास शर्मा द्वारा उनके अपने समकालीन समाज और साहित्य की समस्याओं से टकराने पर भी उन्हें जीवन्त व समकालीन सवालों से क्रमश: पीछे हटते हुए 'परम्परा और इतिहास' की खोज में लगा देखा गया है तथा डा० नामवर सिंह को समकालीन रचना-शीलता से सवादी मुद्रा में जुड़ा कहा गया है ।

डा० रामविलास शर्मा तथा डा० नामवर सिंह की मार्क्सवादी चेतना की समझ के लिए डा० पाण्डेय द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि डा० नामवर सिंह मार्क्सवाद के अधिक निकट हैं ।

हिन्दी समीक्षा में 'समाजशास्त्रीय चिन्तन' भले नया हो किन्तु छायावादी कविता की समीक्षा में आचार्य शुक्ल द्वारा मधुचर्या, पलायनवादी प्रवृत्ति और रागात्मकता का विरोध उनको 'जन' और 'समाज' की भूमिका की ओर ले जाता है । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मुंशी प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध, धूमिल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री आदि के काव्य की समीक्षा के लिए 'जन' और 'संस्कृति' का द्वन्द्व, राजनीतिक दबाव पक्षधरता एवं 'आम आदमी' के जीवन संघर्ष की स्वीकृति समाजशास्त्रीयता की देन है । समकालीन हिन्दी समीक्षकों

१- हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना : कितनी मार्क्सवादी, कितनी आलोचना ।

- आलोचना (पत्रिका) - जुलाई- सितम्बर ८८, पृष्ठ ११-१२ ।

द्वारा प्रेमचन्द की विरासत का प्रश्न उठाकर 'यथार्थवाद' को उपन्यास से काव्य-समीक्षा में लाया जाने का उत्साह 'समाजशास्त्र' तथा मार्क्सवाद की भ्रान्तिपूर्ण अवस्था है ।

१७वीं व १८ वीं शताब्दी में मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव में आने से पूर्व 'मदाम दि स्ताल' की रचना 'दि ला लितेरात्यूर' (१८०० ई०) (साहित्य के सम्बन्ध में) प्रकाशित हुई थी जिसमें 'साहित्य के समाजशास्त्र' का उल्लेख किया गया है । इससे पूर्व 'विको' ने नवीन विज्ञान- (१७२५ ई०) में तथा 'हर्डर' ने 'अनुभववादी सौन्दर्य-शास्त्र के प्रतिपादन द्वारा साहित्य के समाजशास्त्रीय प्रतिमान को उजागर किया था । 'मदाम द स्ताल' का कथन है कि 'मेरा उद्देश्य साहित्य पर धर्म रीति-रिवाज और कानून के प्रभाव का परीक्षण करना है, क्योंकि साहित्य की प्रकृति को प्रभावित करने वाले सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों का बहुधा विश्लेषण नहीं किया गया है ।[1] 'मदाम दि स्ताल' के अतिरिक्त प्रसिद्ध फ्रान्सीसी इतिहासकार इपोलीत तेन को कुछ विद्वान साहित्य के समाजशास्त्र का प्रवर्तक मानते हैं । तेन अपने समय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ, दार्शनिक-हेगल, साहित्यकार जोला के विचारों से प्रभावित थे । अपने पूर्व वर्ती विचारक आगुस्त काट की तरह तेन ने भी पूर्णत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास का प्रयास किया । प्रकृतिवाद से प्रभावित होने पर भी साहित्य के समाजशास्त्र के सम्बन्ध में उनकी निश्चित धारणा है । उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में लिखा था कि 'साहित्यिक रचना 'कल्पना की मात्र वैयक्तिक क्रीड़ा नहीं होती, किसी उद्वेलित मानस की अकेली मट की तरंग भी नहीं बल्कि वह समसामयिक आचरण की प्रतिलिपि होती है जिसे हम एक विशेष प्रकार की मानसिकता की अभिव्यक्ति कह सकते हैं ।[2] तेन ने तीन

१- साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन - सं० डा० निर्मला जैन, प्रथम० १९८६, पृ० १६ ।

२- हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर - एच० तेन (अनु० एच० वान-लान) । साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन में डा० निर्मला जैन द्वारा पृ० २२ पर उद्धृत ।

अवधारणाओं के उपयोग का प्रतिपादन किया । (१) प्रजाति,(२) क्षण, (३) परिवेश । इन्हीं अवधारणाओं के बीच अन्त क्रिया एक व्यावहारिक अथवा चिन्तनशील मानसिक संरचना को जन्म देती है । इसी मानसिक संरचना मे विचारों का जन्म होता है जिन वैचारिक अवधारणाओं से महान कला और साहित्य का उद्भव होता है[१] । डा० नगेन्द्र ने प्रजाति का मूल अर्थ राष्ट्रीय चरित्र किया है, क्षण सम-सामयिक युग का पर्याय है और परिवेश के अन्तर्गत भौतिक पर्यावरण जलवायु आदि आते हैं । इन्हीं अवधारणाओं पर मानव की धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियां निर्भर करती है ।

तेन द्वारा व्याख्यायित परिवेश का उपयोग 'बाल्जाक ने मानव सुखान्ति की भूमिका मे किया है । साहित्यिक उत्पाद पर प्रबल आर्थिक दबावों को स्वीकार करने पर भी वे कार्लमार्क्स की तरह वैचारिक अवधारणाओं का सम्बन्ध समाज और राजनीति से मानते हैं । हिन्दी समीक्षा के परवर्ती काल मे अपनाया जाने वाला मार्क्सवाद तथा अस्तित्ववाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तेन के विचारों का ऋणी है ।

कार्ल मार्क्स से पहले ही रूस में समाजशास्त्रीय चिन्तन आरम्भ हो चुका था । बेलिंस्की चर्नी शेव्स्की आदि विद्वान इसी यथार्थवाद की मीमांसा करते थे । पहले हैगल ने भौतिकवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था जिसे परिवर्तित कर मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद की व्याख्या की । मार्क्सवाद के प्रकाश में आने के बाद यह भ्रम फैल गया कि साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य का मार्क्सवादी समाजशास्त्र है किन्तु टेरी इंग्लिटन की 'मार्क्सिज्म एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज्म' का उद्धरण देते हुए डा० बच्चन सिंह ने स्वीकार किया है । मार्क्सवादी आलोचना अधिक विकसित और पूर्ण है ।

परवर्ती मार्क्सवादी चिन्तक ट्राटस्की प्लेख नोव और लुकाच के सिद्धान्तों पर भी साहित्य के समाजशास्त्र का प्रभाव देखा जा सकता है ।

१- साहित्य का समाजशास्त्र - डा० नगेन्द्र, सं० १९८२, पृ० ५०

परवर्ती विचारक ग्राम्शी की विचारधारा विशेष रूप से औपन्यासिक यथार्थ-वाद की व्याख्या के लिए व्यवहृत होती है । गोल्डमान-लूशि ये तथा इलियट एवं लॉविस के विचारों में भी साहित्यिक समाजशास्त्र के सूत्र खोजे जा सकते हैं ।

डा० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का समाजशास्त्र' में भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र से आरम्भ हुई काव्यशास्त्र और व्याकरण शास्त्र की परम्परा में साहित्य के समाजशास्त्र का सूत्र खोजा है । समाज संस्कृति एवं राजनीति तथा भौगोलिक परिस्थितियों का मानव मन तथा कला चिन्तन से इतना निकट का सम्बन्ध है कि किसी भी युग के काव्य-काव्यशास्त्र अथवा साहित्य में 'समाजशास्त्र' का सूत्र खोजा जा सकता है । जहां तक हिन्दी-समीक्षा के साथ 'साहित्य का समाजशास्त्र' के सम्बन्ध का प्रश्न है, वह बीसवीं शताब्दी के मध्य पूर्व छठवें दशक की विकसित आलोचना परम्परा है । नगेन्द्र ठाकुर का यह मत इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है कि 'दायित्व-पूर्ण आलोचना' आलोचनात्मक दृष्टि और जीवन दृष्टि के एक होने पर ही उद्भूत होती है । आलोचनात्मक निर्णय किसी बड़े सामाजिक सत्य का अंग अथवा आलोचक के ऐतिहासिक सत्य का अंग होते हैं । यह सत्य सामाजिक प्रक्रिया में शामिल होने पर अर्जित किया जाता है ।

आज की हिन्दी कविता की समीक्षा में मुक्तिबोध, नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, शिवमंगल सिंह, सुमन तथा अज्ञेय की कविताओं को लेकर समीक्षकों द्वारा जो मत-मतान्तर व्यक्त किये जा रहे हैं उनमें किसी एक रचनाकार को महत्व देने के लिए उसकी किसी एक प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए उसे एक प्रतिमान रूप में स्थापित करने की परम्परा प्रचलित हुई है । डा० रामविलास शर्मा ने केदारनाथ अग्रवाल की 'किसान चेतना' को प्रतिमान मानते हुए उनमें मुक्तिबोध की तुलना में जन-जीवन का वैशिष्ट्य देखा है । इसी प्रकार कुछ जनवादी विचारों से प्रभावित नये समीक्षक सुदामा पाण्डेय मुक्ति की रचना 'संसद से सड़क तक'

या 'कल सुनना मुझे' में भविष्य की कविता का बीज देखते हैं । इसी प्रकार राजकमल चौधरी, कमलेश, उग्राल, लीलाधर जगूड़ी, वीरेन्द्र कुमार जैन की किसी रचना की भूमिका या समीक्षा में किसी प्रसिद्ध आलोचक द्वारा एक उच्चकोटि की स्थापना तथा उसके साथ कभी नवीन यथार्थवाद, कभी नव-रहस्यवाद, कभी 'किसान चेतना' कभी 'ऊर्ध्व चेतना' रेखांकित की जाती है । इस दिशा में संवादी वातावरण तैयार करने का श्रेय डा० नामवर सिंह, डा० रामविलास शर्मा, डा० विद्यानिवास मिश्र, रामदरश मिश्र, डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, अशोक वाजपेयी तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी को है । इधर कुछ वर्षों से डा० ब्रजेन्द्र नारायण सिंह, डा० परमानन्द श्रीवास्तव, डा० मैनेजर पाण्डेय आदि समीक्षकों ने भी साहित्य की वर्तमान समीक्षा में अपनी भागीदारी प्रस्तुत की है ।

श्री अशोक वाजपेयी ने आज की समीक्षा की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि आज का लेखन सामाजिक यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है और प्राय इसका रचनात्मक अन्वेषण करता है । आलोचना भी अन्ततः, आज भी, आदमी की हालत की पड़ताल है, भले ही ऐसा करने में वह साहित्य और कलाओं के साक्ष्य का सहारा लेती है । उसके पास भी सामाजिक यथार्थ के सीधे अनुभव और वस्तुस्थिति की अपनी समझ है[1] । इतना होने पर भी आज की आलोचना से युवा लेखकों और नये कवियों को प्रायः शिकायत रहती है । आलोचना, रचना और पाठक के बीच समन्वय स्थापित कर कृतित्व की समझ और परख के लिए जब प्रयुक्त होती है तो उससे शिकायत कम होती है किन्तु जब समीक्षक अपनी संवादहीनता की रव में रचना से कुछ न ग्रहण कर शास्त्र या परम्परा से ही प्रतिमान ग्रहण कर समीक्षा करता है तो ऐसा होता है ।

समसामयिक हिन्दी समीक्षा का समाजशास्त्रीय प्रतिमान यहाँ

---

१. कुछ पूर्व ग्रह - अशोक वाजपेयी, सं० १९८४, पृ० ५७ ।

की परम्परा से कम विदेश स के नवीन आन्दोलन से अधिक जुड़ा है । आज के पाठक की समझ भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ी है किन्तु जन-सामान्य तक आलोचना की इस नयी समझ को पहुंचने में अभी समय लगेगा । पुस्तकों का प्रकाशन, लेखन तथा अध्ययन की वृद्धि के बावजूद भी गम्भीर लेखन और स्तरीय समीक्षा में जैसे एक ठहराव सा आया है ।

छायावादोत्तर प्रतिमान 'रूप और कलावाद'

समकालीन हिन्दी काव्य समीक्षा में अपनाये जाने वाले प्रतिमानों में 'रूप और कलावाद' 'संरचनावाद' रूपवाद फार्मेलिज्म) शैली विज्ञान तथा रीति-विज्ञान प्रमुख हैं । 'स्वच्छन्दतावाद' कला कला के लिए अभि-व्यंजनावाद तथा प्रकृतिवाद से चलकर आने वाली काव्य के रूप और शिल्प के मूल्यांकन की परम्परा वर्तमान काल में (बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में) अंकुरित हुई और छठें दशक के बाद 'नयी समीक्षा' के विकास-क्रम में 'साहित्य का समाजशास्त्र' के समानान्तर संरचनावाद या 'रूप और कला-वाद' नाम से उद्भूत हुई । 'मार्क्सवादी विज्ञानवाद', यथार्थवाद, समीक्षा की सांस्कृतिक ऐतिहासिक दृष्टि तथा 'कला जीवन के लिए' से सम्बन्धी मत ठीक इसके विपरीत है किन्तु यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि 'रूप और कलावादी' मत को 'यथार्थवादी' तथा 'अतियथार्थ-वादी' प्रतिमानों ने प्रभावित किया है ।

मार्क्सवाद के बाद 'नयी समीक्षा' के आलोच्य विकास-क्रम में टी० एस० इलियट, टेन, क्लीन्थ ब्रुक्स, एफ० आर० लीविस, लूसिये गोल्डमान, लुकाच ग्राम्शी तथा 'रेमण्ड विलियम्स' का महत्वपूर्ण योगदान है । 'रूसी रूपवाद' संरचनावाद, कलावाद, शैली विज्ञान और रीति-विज्ञान आदि नामों से विश्व समीक्षा में प्रसिद्ध यह प्रतिमान 'हिन्दी समीक्षा' में छठें दशक के अन्त में सुना जाने लगा । मार्क्सवादी समाजशास्त्र

तथा गैर मार्क्सवादी विचारों का मुख्य टकराव 'स्क्रूटनी' ग्रुप के पुरोधा एफ० आर० लीविस की देन है ।

रूपात्मक समीक्षा का मूल स्रोत नयी समीक्षा है । ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पद्धति का विरोध करते हुए नयी समीक्षकों ने कविता के भाव और विचारों का विरोध किया । 'बौद्धिक हेत्वाभास' तथा रागात्मक हेत्वाभासों से बचकर नया समीक्षक कविता का अस्तित्व उसके रूप या कलात्मकता में निहित मानता है । अत: रूपात्मक समीक्षा का मुख्य आधार है कविता की भाषा तथा भाषा में प्रयुक्त शब्द और ध्वनियों का गुम्फन । प्रसिद्ध समीक्षक टी० एस० ईलियट ने पहले ही 'अमूर्तन' सिद्धान्त की स्थापना द्वारा इस मार्ग का उद्घाटन किया था । आई०ए० रिचर्ड्स की स्थापना में काव्य चिन्तन के दो प्रमुख आधार हैं —(१) दृढ़ मनोवैज्ञानिक पीठिका, (२) काव्य का रूपात्मक विश्लेषण ।

मनोवैज्ञानिक पीठिका से निर्मित काव्य मूल्य विधायक धारणा तथा रूपात्मक विश्लेषण के परस्पर विरोधी पक्षों को ध्यान में रखकर 'क्लीन्थ ब्रुक्स' ने इसे अन्तर्द्वन्द्व का सिद्धान्त कहा था[1] । रेनेवेलेक भी यह स्वीकार करते हैं कि आई० ए० रिचर्ड्स एक ओर तो लगातार अपने शिष्यों की आलोचना करते हैं और वह एक ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं जो उनकी अपनी बेजोड़ आलोचना पद्धति से बिल्कुल उलटा पड़ता है ।[2] एक ओर मनोवेगों को कविता में स्थान देना और दूसरी ओर 'कविता का निश्चित पैटर्न' परस्पर विरोधी है । आधुनिक समीक्षा के दो प्रमुख चिन्तक एफ० आर० लीविस तथा एम्पसन इलियट के अनुवर्ती स्कूल के ही हैं ।

'रूप और कलावादी' समीक्षा के विकास में 'एजरा पाउण्ड' द्वारा चलाये गये 'बिम्बवाद' का भी प्रमुख योगदान है । बीसवीं शताब्दी

१- नयी समीक्षा के सन्दर्भ में : डा० नगेन्द्र द्वारा उद्धृत विचार

२- साहित्य सिद्धान्त - रेन वेलेक : आस्टिन वारेन (हिन्दी अनुवाद)

के तीसरे चौथे दशक की इन मान्यताओं ने पुरातन स्थापनाओं का विरोध करने के साथ जो मत स्थापित किये हैं 'प्रस्तुत प्रतिमान' उनमें अत्याधुनिक है। इसकी मुख्य स्थापना यह है कि 'कलाकृति का रूप ही समीक्षा का वास्तविक विषय है और इस रूप की अपनी स्वतंत्र सत्ता है - वह किसी अन्य अर्थ का वाहन मात्र नहीं है। अथवा यह कहना चाहिए कि कलात्मक संरचना का समग्र अर्थ रूप में ही निहित है।'[1] कला की इस स्वायत्तता सम्बन्धी मत में विचार या अनुभव के विरोध की धारणा है।

'कविता के नये प्रतिमान' के प्रकाशन के बाद श्री नेमिचन्द्र जैन ने प्राय दृष्टि स्तम्भ के अन्तर्गत 'कविता के प्रतिमानों' की खोज शीर्षक निबन्ध लिखकर यह प्रश्न उठाया था कि, 'मार्क्सवादी नामवर सिंह का सर्वथा रूपवादी आलोचना दृष्टि की ओर क्रमश झुकाव ?'[2] इसी की पुष्टि में आगे उन्होंने लिखा है कि, 'नामवर सिंह का विश्लेषण उस प्रवृत्ति को समर्थन देता जान पड़ता है, जिसका मूल्यों से, किसी सामाजिक सार्थकता से कोई सम्बन्ध नहीं।'[3] प्रथम संस्करण की स्थापनाओं की सफाई में डा० नामवर सिंह ने पुस्तक के अन्तिम प्रकरण 'परिवेश और मूल्य' का हवाला दिया है तथा 'सापेक्ष स्वतंत्रता' का भी उल्लेख किया है। इसी आधार पर मार्क्सवादी आलोचक एक ओर शुद्ध कविता के समर्थक रूपवादी आलोचकों से लोहा लेते रहे हैं और दूसरी ओर कविता को समाज का पर्याय मानने वाली स्थापना समाजशास्त्रीय आलोचना से लोहा ले रहे हैं।'[4] डा० सिंह के इस

१- लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन अमेरिका (ले० गाल्डेण्ड)
- के भूमिका भाग से डा० नगेन्द्र द्वारा नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ में, पृ० १५ पर उद्धृत।

२- साप्ताहिक हिन्दुस्तान - १२ जनवरी १९६९, श्री जैन का लेख
(डा० नामवर सिंह द्वारा द्वितीय संस्करण की भूमिका में उद्धृत - १९७४)

३- वही ,, ,, ,,

४- कविता के नये प्रतिमान (द्वितीय संस्करण की भूमिका)

कथन से यह स्पष्ट है कि `रूपवादी` अथवा `संरचनावादी` प्रतिमानों का मुख्य संघर्ष मार्क्सवादी विचारों से है । रूपवादी आलोचक कविता या साहित्य की स्वायत्तता के समर्थक हैं किन्तु मार्क्सवादी `आइडेन्टिटी` अर्थात् अस्मिता के समर्थक हैं । भारतीय साहित्य की समीक्षा में मार्क्सवादी मान्यताओं का उपयोग उसी सीमा तक स्वीकार है जितना कि यहां के परिवेश में ग्राह्य हो । डा० मैनेजर पाण्डेय ने अपने निबन्ध `मार्क्सवादी आलोचना ' कितनी मार्क्सवादी कितनी आलोचना ` में स्वीकार किया है कि हिन्दी के क्षेत्र में मार्क्सवादी समझ के कई रूप हैं ।[1]

`रूपवादी ` आलोचना का उपयोग मार्क्सवादी आलोचना को विकसित करने के लिये किया जा सकता है ऐसा संकेत जेरेमी हाथार्न ने अपनी कृति `आइडेन्टिटी एण्ड रिलेशनशिप ` में किया है ।[2]

नयी कविता आन्दोलन के दूसरे चरण में अज्ञेय ने दूसरे सप्तक की भूमिका में कहा था कि काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है जो उनके[3] इस कथन का यही आशय नहीं ग्रहण कर सकते वे वर्तमान अनुभव से कट गये हैं । जटिल से जटिलतर होते जीवन सम्बन्धों के दबाव में कविता बदलती गई है और `आत्म-अन्वेषण ` पर दिया गया जो रूप इस कलावाद की दृष्टि से उल्लेखनीय है । मैथ्यू आर्नल्ड,आई०ए० रिचर्ड्स से चलकर एफ० आर० लीविस० तक आने वाला कला की स्वायत्तता का यह प्रवाह हिन्दी कविता और समीक्षा को प्रभावित करता है । `साहित्य के समाजशास्त्रीय` चिन्तन के विरुद्ध संरचनावादियों द्वारा साहित्य की स्वायत्त सत्ता की स्थापना में भी हिन्दी की समकालीन समीक्षा को प्रभावित किया है ।

१- आलोचना - अंक ८६, (जुलाई-सितम्बर ८८)

२- डा० नामवर सिंह द्वारा कविता के नये प्रतिमान में उद्धृत ।

३- दूसरा सप्तक : (भूमिका) - अज्ञेय (कवि दृष्टि में अंक)

श्री विजयदेव नारायण साही ने कहा है कि 'तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नहीं बल्कि एक लहर की तरह निर्मित करती है – जिस प्रयास में महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते हैं । नयी कविता उस तरंग के रूप को स्ट्रक्चर में बदल देती है, जैसे हीरे का क्रिस्टल हो[1]' 'तरंग के रूप को स्ट्रक्चर में बदलने' सम्बन्धी मत में अज्ञेय की दूसरे सप्तक की भूमिका का प्रभाव है जिसका व्यापक रूप डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के निबन्ध 'भाषा और संवेदना' में देखा जा सकता है । 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त नयी कविता की भाषा जिसमें छन्द, अलंकरण, लय धीरे-धीरे विलुप्त हो चुके हों तब कविता के आन्तरिक संघटन को समझने के लिए 'काव्य भाषा' ही सबसे महत्वपूर्ण आधार रह जाता है[2] । अज्ञेय, साही, तथा डा० चतुर्वेदी की इन स्थापनाओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'काव्य-भाषा' द्वारा कवि के अनुभूत सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता । वह अनुभूत सत्य (अनुभूति) जिसे नया कवि तरंग से क्रिस्टल में बदल देता है । यह क्रिस्टल जो तरंग की रूपात्मक परिणति है । हेगल ने 'रूप' और 'भाव' का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा था कि, 'रूप का वस्तु में रूपान्तरण वस्तु तथा वस्तु का रूप में रूपान्तरण रूप है ।' रूपवादी इसी रूप के सहारे कविता की वस्तु ही नहीं सभी तत्वों को व्याख्यायित करने के पक्ष में हैं । कविता की समीक्षा के लिए संस्कृति, समाज, इतिहास, राजनीति तथा दर्शन की किसी मान्यता को न स्वीकार कर केवल उसके रूप को आधार बनाना इस सिद्धान्त का लक्ष्य है ।

पाश्चात्य देशों में 'रूपवाद और कलावाद' के कई रूप विकसित हुए हैं । रूसी रूपवाद, इंगलैण्ड और अमरीका का स्कूटनी वर्ग से सम्बन्धित 'रूपवाद' फ्रान्स और जर्मनी का संरचनावाद तथा नयी हिन्दी समीक्षा में काव्य-भाषा के प्रतिमान के सहारे विकसित रूपवाद इसके अलग-अलग भेद हैं ।

१– छायावाद के बाद हिन्दी कविता पर एक बहस – (नयी कविता में पी० डी० एन० शाही का निबन्ध)

२– भाषा और संवेदना तथा 'कल्पना' में प्रकाशित निबन्ध

नव अभिजात्यवाद ' भी किंचित तात्त्विक अन्तर के होते हुए रूपवाद का समर्थन करता है । नयी समीक्षा के इस नवीन प्रतिमान के बीज 'स्वच्छन्दतावाद' तथा 'प्रतीकवाद ' में विद्यमान हैं । प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी 'क्रोचे' का मत भी इस मतवाद को प्रभावित किये है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचारधारा पर आई० ए० रिचर्ड्स के प्रभाव के परिणामस्वरूप 'अर्थ मीमांसा' की ओर उनका झुकाव आंशिक रूप से रस के प्राचीन तत्ववाद की सीमा से आगे है । रससिद्धान्त का विरोध इसी रूपवादी समीक्षा का दबाव है जो काव्य-भाषा और सृजनशीलता के रूप में नयी समीक्षा में स्वीकृत हुआ है ।

भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा में 'अलंकारवाद', वक्रोक्तिवाद, रीतिवाद तथा औचित्य सिद्धान्त का विकास काव्य के बाह्य रूप पर आधारित है । शब्द शक्तियों का विवेचन तथा शब्द संरचना में अलंकार के अतिरिक्त चमत्कृति आकर्षण एवं सौन्दर्य को भी 'रूप ' का आधार माना जा सकता है । समकालीन काव्य-समीक्षा में कविता के (निरपेक्ष) स्वतंत्र संसार का उल्लेख आनन्दवर्धन के कथन का स्मरण कराता है । उनकी मान्यता है कि कवि ही अपार काव्य संसार का प्रजापति है । उसे यह विश्व जैसा रुचता है वैसा परिवर्तित या परिकल्पित करता है[१] । डा० नामवर सिंह के अनुसार आधुनिक हिन्दी समीक्षा में 'काव्य संसार' की निरपेक्ष सत्ता की स्वीकृति कलावादी भटकाव है । परिवेश बोध की बढ़ती हुई मांग की प्रतिक्रिया में 'काव्य संसार' की आवाज तीव्रतर हो रही है । भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में आचार्य भरतमुनि के रस-सिद्धान्त की स्थापना के विपरीत भामह का मत था 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं ' । भामह के इस कथन का खण्डन करते हुए रीतिवादी वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा

१- अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः
यथा स्मै रोचते विश्व तथेदं परिवर्तते (परिकल्पते)
- 'ध्वन्यालोक' - आनन्दवर्धन का श्लोक

कहा । रीति का अर्थ है विशिष्ट पद रचना तथा विशिष्ट से उनका अभिप्राय है गुण से[1]। इस पद रचना में विशिष्टता द्वारा ही सौन्दर्य-सृष्टि होती है वही काव्य को सामान्य शब्द से पृथक करती है । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' काव्य' कहा है । 'वक्रोक्तिवाद' के प्रतिपादक आचार्य कुन्तक ने कहा है कि अलंकार सहित अथवा रहित सपूर्ण वचन ही काव्यता - कवि कर्मत्व है । अभिव्यंजनावादी क्रोचे और वक्रोक्ति-वादी कुन्तक द्वारा बाह्य रूपाश्रित सौन्दर्य को काव्य मानना आचार्य शुक्ल की दृष्टि में समानता है । कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है सामान्य कथन प्रणाली से भिन्न असामान्य कथन । सौन्दर्य-अलंकार-वक्रोक्ति-रीति आदि गुणों से युक्त-शब्द को काव्य मानना प्रकारान्तर से कविता के अन्य तत्वों को नकारना है । रूप और कलावादी भी इसी प्रकार कला को जिन्दगी से मुक्त मानते तथा कहते हैं कि कला रूपों का विवेचन कलानियमों द्वारा ही होना चाहिए ।[2] प्रसिद्ध रूपवादी आलोचक 'श्क्लोव्स्की' के सिद्धान्त 'अजनबीकरण को विरूपीकरण मानकर डा० बच्चन सिंह चमत्कार, विचित्र अभिधा, लोकातिक्रान्त गोचरता' को इसका समानार्थी कहते हैं[3] । 'विशिष्ट अभिधा' या 'वक्रोक्ति' एक ओर पद संघटना (रीति) या संरचना को संकेतित करती है दूसरी ओर भाव और वस्तु को ।[4]

यद्यपि भारतीय साहित्य-शास्त्र में वर्णित सौन्दर्य-रीति या वक्रोक्ति में वस्तु को नगण्य नहीं माना गया है किन्तु आधुनिक रूपवादी रूप या संरचना को ही पूर्ण कहते हुए अन्य तत्वों को नगण्य मानते हैं । 'काव्य-

---

१-

२- श्क्लोव्स्की का कथन डा० बच्चन सिंह द्वारा साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद में, पृ० सं० ३१ पर उद्धृत ।

३- साहित्य का समाजशास्त्र और रूप - डा० बच्चन सिंह, सं० १९८४, पृ० ३१-३२ ।

४- वही ,, ,, ,, ,, पृ० ३२

भाषा को कविता का प्रतिमान कहने वाले समीक्षक भी जब कविता की भाषा को सामान्य भाषा से विशिष्ट कहते तथा उसके शब्द मे सामान्य अर्थ से पृथक विशिष्ट अर्थ का अनुसंधान करते है तब वे भारतीय काव्यशास्त्र के रीतिवाद तथा वर्तमान 'रूपवाद' या 'संरचनावाद' के निकट होते हैं। कवि की 'सर्जनात्मक प्रतिभा' का समर्थन मम्मट, आनन्दवर्धन, भामह तथा वामन करते हैं तथा आधुनिक रूपवादी भी सृजन को सबसे महत्वपूर्ण प्रतिमान कहकर उसकी समीक्षा के लिए अन्य तत्वों की खोज अनावश्यक मानते हैं। प्रसिद्ध रूसी विचारक रोमन जैकोब्सन ने 'आधुनिक रूसी कविता' कृति में कहा है कि कवि भाषा का इस्तेमाल उसी तरह करता है जिस तरह चित्रकार रंगों का करता है। ऐसी स्थिति में भाषा की सहायहीनता या संवेदनशून्यता से वह बचना चाहता है। कविता का कार्य यह बताना है कि पद और पदार्थ समरूप नहीं होते। अतः कविता में यथार्थ के प्रति कवि या पाठक के दृष्टिकोण का महत्व नहीं है। महत्व है भाषा के प्रति कवि की अपनी अभिवृत्ति या लख का।[1] चित्र में रंग या रंगों के क्रम का महत्व ही काव्य में काव्य भाषा की तरह है। काव्य के सहायक उपकरण, लय, अलंकार आदि का योगदान होने पर भी आन्तरिक आत्मानुशासन द्वारा काव्य का रूप निर्मित होता है।

समीक्षा की इस नवीन प्रणाली पर 'भाषा शास्त्र' के ध्वनि विज्ञान, अर्थविज्ञान तथा वाक्य विज्ञान, रूपात्मक अध्ययन प्रक्रिया का गम्भीर प्रभाव है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने संगठ्य ध्वनियों का विश्लेषण स्वनिमों (फोनीमों) ने किया है; वे सार्थक रूपखण्डों तथा 'सिन्टैग्मा' का भी विश्लेषण कर सकते हैं। ... फोनेमिक्स से आगे बढ़ें तो पायेंगे कि आधुनिक प्रकार्यात्मक भाषा विज्ञान (फंक्शनल लिंग्विस्टिक्स) अपेक्षा कृत अविकसित अवस्था में पड़ा हुआ है।[2] "रेनेवेलेक

१- साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद – डा० बच्चन सिंह,
सं० १९८४, पृ० ३१ पर उद्धृत।

२- साहित्य सिद्धान्त – रैनेवेलेक (हिन्दी अनुवाद), पृ० १९१

का यह मत कितना तथ्य परक है कि रूपात्मक समीक्षा में 'फंक्शनल लिंग्विस्टिक्स' से ली जाने वाली सहायता साहित्य-शास्त्र और व्याकरण के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को ध्वनित करती है । डा० ओम प्रकाश ने अलंकारों के स्वरूप विकास सम्बन्धी प्रबन्ध में लिखा है कि अलंकार की अवधारणा मौलिक रूप से व्याकरण से मिली हुई थी ।[1] विज्ञान-भौतिकी एवं रसायन-शास्त्र का प्रयोग जीवन के साथ जुड़ जाने के कारण कृतित्व में वैज्ञानिक तथ्यों के अनुरूप भाषा विज्ञान का दबाव भी बढ़ चला है । अतः समीक्षा में भी ऐसे प्रतिमान के प्रयोग की आवश्यकता का अनुभव समीक्षकों द्वारा किया जाने लगा है ।

आधुनिक हिन्दी कविता का साठोत्तरी चरण अकविता, युयुत्सावादी कविता, साम्प्रतिक कविता, भूखी पीढ़ी का अभिव्यक्ति से सम्बन्धी मत सर्जना में विविध प्रयोगों का कारण बनता है तो ऐसी कृति की कलात्मक स्थापना के कलावाद का सहारा लिया जाता है । काव्य-कला को निरपेक्ष कला मानकर उसके सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक पक्ष को नकारने के बाद रूपात्मक समीक्षा के चिन्तकों के पास भाषिक सर्जना के प्रत्यय परक चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई सम्भावना शेष ही नहीं रह जाती ।

समकालीन हिन्दी कविता में राजकमल चौधरी,[2] मलयज, श्री कान्त वर्मा, नीलाभ, लीलाधर जगूड़ी, धूमिल, मदन वात्स्यायन, नन्दकिशोर आचार्य..... आदि के कृतित्व की व्याख्या और समझने के लिए समीक्षा में भी कुछ ऐसे '[illegible]' फिकरे या मुहावरे प्रयोग में लाये जाने लगे हैं जो एक [illegible] की दशा में पाठक या अध्येता को ले चलते हैं । पूर्वग्रह के सम्पादक और समीक्षक भी अशोक वाजपेयी यह स्वीकार करते हैं कि, "साहित्य को उसके विचार तत्व से रिड्यूस कर उसे ही जांचने की आलोचना पद्धति भी,

---

१- हिन्दी अलंकारों का स्वरूप विकास - डा० ओमप्रकाश

२- मुक्ति प्रसंग - [illegible], [illegible]

जिसका प्रभाव इधर बहुत बढ़ा है, प्राय इस विचार शून्य में ही सक्रिय है । सतही सामाजिकता के आतंक के रहते अगर नैतिक या आध्यात्मिक प्रतिक्रियावादी मानकर खारिज कर दिया जाता है । रचना के सामने नहीं पर आलोचना के सामने लगता है सचाई कम हो गई है ।[१] इस अवस्था में आलोचना के माध्यम से सच कहने का खतरा अनेक समीक्षक ले रहे हैं । रूपवादी समीक्षा-अथवा रूपात्मक प्रतिमान के स्वीकृत होने का यही 'काल' है ।

आलोचना (दिल्ली) दस्तावेज (गोरखपुर) समीक्षा(पटना), पूर्वग्रह (भोपाल), पहल (जबलपुर) आदि पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी समीक्षा का वर्तमान चरण सक्रिय है । 'आलोचना' के सम्पादक की सक्रियता तथा आज के प्रखर समीक्षकों एवं पाठकों से जुड़े रहने के कारण इस पत्रिका ने हिन्दी आलोचना क्षेत्र में एक मंच निर्मित किया है । इसी प्रकार पूर्वग्रह (भोपाल) के सम्पादक अशोक वाजपेयी की जनवादी दृष्टि से भारतीय कलाओं की समीक्षा से ग्रहण की गई विचारधारा को आज रूप एवं कलावादी कहा जाने लगा है ।

अद्यतन हिन्दी कविता की समीक्षा के लिए अपनाये जाने वाले प्रतिमानों में 'रीति-विज्ञान' तथा 'शैली-विज्ञान' प्रमुख हैं । 'रीति-विज्ञान' के प्रतिपादक डा० विद्यानिवास मिश्र हैं जो भाषाशास्त्र के अध्येता होने के साथ ही साहित्य और समीक्षा की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों से जुड़े हैं । डा० मिश्र ने पहले 'अज्ञेय' की कविताओं की सम्पादकीय भूमिका में यह स्वीकार किया था कि 'अज्ञेय' की कविताओं के अध्येता रूप में उनसे जुड़े हैं । 'रीति विज्ञान : सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम' डा० मिश्र की बहुचर्चित कृति है, जिसके माध्यम से वे समीक्षा के नये आयाम का उद्घाटन करते हैं ।

--०--

१- कुछ पूर्वग्रह - अशोक वाजपेयी - १९८४, पृ० १३०

काव्य-समीक्षा पुनर्मूल्यांकन

कोई और, कोई और, कोई और-और अब भाषा नहीं-
शब्द अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाये वहा वहा होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीजो के आर पार दो अर्थ मिलाकर सिफ एक
स्वच्छ द अथ दे । मुझे दें

नया—शब्द-रघुवीर सहाय

शास्त्रीय नियमो का अ धानुधावन न तो सजक को ही करना चाहिए और न ही आलोचक को। उसे कुछ भी करने से पहले तिलकात्मक आलोचन के माध्यम से रचनाकार की मन स्थिति-सजनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार करना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि उसमे ग्राह्य प्रतिमान की सम्भावना है कि नही? यदि है तभी उसका उपयोग करे अ यथा नही।

—भारतीय का य शास्त्र के नये क्षितिज-डा० राम मूर्त त्रिपाठी पृ० ३८१)

रचनाकार जिस समय रचना करता है उस समय उसे न तो भाषा की चि ता होती है-या कि न तो भाषा के मामले में किसी चि ता का बोध होता है-और न ही वह इस बात को लेकर व्यस्त रहता है कि उसकी भाषा मे रचनात्मक ता हो।

-रचनात्मक भाषा और सम्प्रषण की समस्यायें-सजना और सदभ अज्ञय-पृ० ३४३)

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा हेतु स्वीकृत प्रतिमान "अभिव्यक्ति की ईमानदारी" अनुभूति की प्रामाणिकता, सृजनशीलता, आत्मसंघर्ष, कुण्ठा एवं निराशा, प्रतिबद्धता आधुनिकता, प्रतीक, बिम्ब आदि की स्थापनाओं की एक क्रमिक अन्तर्यात्रा है जो चिन्तन प्रक्रिया में होने वाले दिनानुदिन के परिवर्तनों का परिणाम है। सर्जना के आगत रूप एवं कलागत प्रतिमान काव्य-भाषा, शैली-विधान, शिल्पविधान आदि की भी स्थापनायें नयी समीक्षा के अनुरूप की गई हैं। संदर्भित युग की कविता के समानान्तर चलने वाली समीक्षा में शास्त्रीय प्रतिमान रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, औचित्य, शब्दशक्ति तथा गुण-दोषों के अतिरिक्त आदर्शवाद, स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, शास्त्रवाद, नव्यशास्त्रवाद भी समय समय पर प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। समीक्षा के माध्यम रूप में अपनाये जाने वाले इन प्रतिमानों को स्वदेश एवं विदेश से साहित्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थविज्ञान, राजनीति एवं कलाचिन्तन से ग्रहण किया गया है। सर्जना में अवस्थित संवेदना तथा तंत्रगत मूल्यांकन विश्लेषण एवं अर्थ-संदर्भ अथवा कृति की संभावनाओं के अनुसंधान हेतु प्रतिपादित प्रतिमानों का यह क्रम समीक्षा की संवादी मुद्रा का परिचायक है।

प्रयुक्त समीक्षा प्रतिमानों के प्रभाव से परवर्ती सर्जना में परिवर्तन तथा सर्जना में निहित सम्भावनाओं की खोज के लिए प्रतिमानों में परिवर्तन कृति और समीक्षा की सहगामी प्रक्रिया है। "स्थिरता संतुलन परिधि और मध्यता, गाम्भीर्य-युक्तता सार्वभौमता सर्वत्र हम पाते हैं कि जिस गुण को भी कला का प्रतिमान मानते हैं वह हमारे अनुभव से उद्भूत है और विवेक द्वारा प्राप्त किया गया है।"[1]
बुद्धि और विवेक द्वारा अनुभूत ज्ञान तथा तथ्यों से पुष्ट ये प्रतिमान कविता के मूल्यांकन समीक्षण तथा परीक्षण हेतु प्रयुक्त होते रहे हैं। कृति की सम्भावनाओं का अनुशीलन भी अनुभव और बुद्धि के द्वारा गृहीत प्रतिमानों के माध्यम से सम्पन्न होता है। यह "सौन्दर्यात्मक अनुभव" कलात्मक परितोष के माध्यम से आनन्द प्रदान कर

1- सर्जना और संदर्भ - अज्ञेय - पृ0 89

पाठक को भी उस अनुभव में भागीदारी की प्रेरणा देता है । कविता की सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक परिणति की समझ, समाज एवं इतिहास दृष्टि का आकलन, दार्शनिक एवं वैचारिक पक्ष का उद्घाटन, संवेदनात्मक ज्ञान, एवं ज्ञानात्मक संवेदन, सौन्दर्यात्मक अनुभूति एवं कलात्मक अभिरुचि का परिष्कार भी प्रतिमानों द्वारा होता है । परिवर्तन शील कविता के नाम-मूल्यों के ग्रहण एवं आस्वाद हेतु उपयुक्त प्रेक्षक-पाठक एवं सामाजिक तैयार करने में इन समीक्षा प्रतिमानों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । कवि द्वारा अपनाये गये बौद्धनात्मक तथा वस्तुरूप में किया गया उनका उपयोग, काव्य-तत्व, एवं रूप का उचित समायोजन तथा अभिव्यंजना का सम्यक् प्रतिमानों द्वारा जागृत होती है । इस प्रकार ये कला-प्रतिमान समीक्षा प्रतिमान होकर पाठक की चेतना के अंग हो जाते हैं और व्यापक होकर "व्यक्ति" समाज और युग को प्रभावित करते है । कविता या कला का कोई प्रतिमान पूर्व निर्धारित नहीं होता । सर्जना के अनुरूप ये प्रतिमान भी बदलते गये हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "कविता-क्या है" में सजीव की"बुद्धि" तथा"हृदय" के समायोजन हेतु कहा है कि "इस यात्रा - के लिए निकलती है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर "।[1] उसी प्रकार इन प्रतिमानों के अन्वेषण की यात्रा के लिए निकलती है बुद्धि किन्तु अनुभूति युक्त हृदय को साथ लेकर ।

समकालीन कविता की प्रेषणीयता, प्रभावोत्पादकता तथा आस्वाद्यता, के अतिरिक्त जीवन-संघर्षों की भागीदारी, विश्वदृष्टि से कविदृष्टि का ग्रहण तथा निर्वैयक्तिक साधना हेतु समीक्षक अथवा प्रबुद्ध पाठक द्वारा रचनाकार से की जाने वाली अपेक्षा - आखिर रचना ही क्यों ? या इससे आगे का प्रश्न "रचना किसके लिए" - ? का उत्तर प्रतिमान ही देते हैं । रचनाकार की प्रतिभा वस्तु की मौलिकता, रूप की कलात्मक उपलब्धि तथा कृति में स्थित अवांछनीय गुण-दोषों के उद्घाटन में आज की आलोचना "समीक्षा" कम मूल्यांकन अधिक हो गयी है । इसीलिए जीवन-मूल्य, मूल्यवत्ता, अर्थवत्ता, सार्थकता तथा अर्थवत्ता की खोज कृतिकार एवं समीक्षक के संवादों का प्रतिफल है । आधुनिक काव्य-समीक्षा की संकल्पना संवादी

1- चिन्तामणि [प्रथम भाग]

भूमिका तथा कृतिकार एवं समीक्षक के बीच चलने वाले आरोप-प्रत्यारोपों के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं तथा समीक्षा-कृतियों में उठाये जाने वाले अधिकांश प्रश्नों का संबंध इन्हीं प्रतिमानों से है ।

न केवल कविता अपितु कहानी, उपन्यास, नाटक आदि गद्यात्मक कृतियों की समीक्षा के लिए भी आत्मसंघर्ष, कुण्ठा, निराशा, आदि की खोज तथा आक्रोशी मुद्रा, जनवादी चेतना, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव आदि को अब प्रतिमान के रूप में माना जाने लगा है । गद्यात्मक विधाओं की नवता यथार्थवाद तथा आधाधुनिकता के परिणाम स्वरूप अस्मिता का संकट, समस्याओं से मुक्ति का प्रश्न, "हाथ की छटपटाहट" जैसी प्रवृत्तियाँ समकालीन कविता में भी देखी जाने लगी है । तथा आलोचना की चुनौती बनती जा रही है । समकालीन जीवन की आर्थिक दशा, में विषमता, राजनीतिक घटनाओं के साथ समाज में बढ़ती हुई असुरक्षा, अराजकता वर्गवाद, आदि के कारण जीवन में संत्रास घुटन किंकर्तव्यविमूढ़ता आतंक आदि के स्थान पाने के परिणामस्वरूप कविता, कहानी उपन्यास, नाटकों की रूपात्मकता में परिवर्तन हो रहा है । आत्मसंघर्ष एवं विषसंघर्ष के इन प्रेरक तत्वों को "असहाय नकारात्मकता", "अस्तित्ववाद", अतियथार्थवाद तथा आत्मग्रस्तता के रूप में कृति में ग्रहण किया जा रहा है तथा समीक्षा में भी इनका उद्घाटन साहसिक रूप में किया जाने लगा है । समकालीन जीवन की ज्वलन्तता का सीधी सरोकार "कविता" से होने के कारण काव्य-काव्य-प्रवृत्ति वस्तु तथा शिल्प में आमूल परिवर्तन के साथ-साथ समीक्षा प्रतिमानों के लिए संकटग्रस्तता की स्थिति उत्पन्न हो गई है ।[1]

समकालीन हिन्दी कविता की समीक्षा के लिए अपनाये जाने वाले प्रतिमानों की विकास यात्रा पर दृष्टि डालने से पूर्व अद्यतन हिन्दी समीक्षा की त्रिआयामी प्रक्रिया पर विचार करना आवश्यक है ।

1- कृति - काव्य, कवि और उसकी संवेदना, जीवनानुभव तथा सामाजिक परिस्थितियाँ ।

1- नयी कविता का आत्मसंघर्ष - मुक्तिबोध

2- गृहीता - पाठक - अध्येता तथा उसकी सामाजिक सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति ।

3- समीक्षा - आलोचना -काव्यमूल्य तथा उनका प्रतिमान समीक्षक शोधक तथा अनुशीलनकर्ता [जिसे काव्य संवेदना का ज्ञान एवं अनुभव आवश्यक है ।]

उपर्युक्त तीन आयामों में परिचालित सर्जना छायावादोत्तर हिन्दी कविता सृजन और संघर्ष, प्रेषणीयता सौन्दर्यानुभूति कलात्मकता तथा ग्रहणशीलता का आधार है । आलोच्य कविता के मूल्यांकन के लिए समीक्षक अपने अनुभव ज्ञान एवं प्रतिभा के अनुरूप संस्कारी मन द्वारा प्रतिमानों का उद्घाटन करता रहता है । प्रतिमानों के उद्घाटन में लगे समीक्षक को अध्येता, अनुभवी राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तनों का ज्ञाता तथा प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए । समीक्षक को एक साथ पाठक अध्येता सामाजिक चिन्तक विचारक तथा मार्गदर्शक भी होना पड़ता है जो आवश्यकतानुसार कृति और कृतिकार को दिशा निर्देश भी कर सके । इस प्रकार समीक्षक "कृतिकार" और पाठक [सामाजिक] के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी होता है जो व्यवस्था एवं नैतिकता के प्रति सजग करके कृति में स्थित तत्वों को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है । तत्कालीन कविता के इन्हीं आयामों का परिज्ञान सजग पाठक और अध्येता के लिए अनिवार्य है ।

निर्मिति के रूप में कविता एक अखण्ड व्यापार तथा कलाकृति के रूप सौन्दर्ययुक्त होने पर भी समीक्षा के लिए उसकी वस्तु तथा "रूप एवं शिल्प" में भेद किया जाता है । वस्तु एवं तंत्र की परिवर्तनशीलता के कारण समीक्षा प्रतिमानों में भी "नवता" आती रहती है । हिन्दी कविता और उसकी आधुनिक समीक्षा के क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टिपात करके "काव्य-वस्तु तथा उसके रूप एवं तंत्र की परिवर्तनशीलता के अनुरूप समीक्षा-प्रतिमानों की अंतर्यात्रा को भली भाँति जाना जा सकता है ।

भारतेन्दुयुगीन काव्य-प्रवृत्तिगत परिवर्तन के परिणाम रूप आई गद्यात्मकता, तर्क-वितर्क वैज्ञानिक दृष्टि तथा बौद्धिकता ने साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में कविता"समालोचना" को अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया । आरोप-प्रत्यारोप, खंडन-मण्डन, तथा वाद-विवाद आदि समीक्षा विधा की मूल प्रवृत्ति

है किन्तु आधुनिकता का विशेष प्रभाव इस साहित्यिक विधा पर भी पड़ा है । कहानी, उपन्यास, नाटक निबंध आदि से शक्ति प्राप्त कर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी समालोचना विकास के पथ पर अग्रसर हुई । लोकरुचि, साहित्यिक अभिप्राय तथा जन-मानस की ग्रहणशीलता के अनुरूप इस विधा में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के तत्व आदि गये हैं जो भारतेन्दु के निबंध "नाटक" में देखे जा सकते हैं । भारतेन्दु के समय तक साहित्य-समीक्षा का मुख्य प्रतिमान "जनरुचि" तथा "ग्रहणशीलता" थी जिसके माध्यम से सजग पाठक दर्शक या सामाजिक तैयार करना भी एक लक्ष्य था । भारतेन्दु मण्डल के निबंधकार पं० बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र बालमुकुन्द गुप्त आदि ने हिन्दी के आधुनिक पाठक निर्मित किये जिनके लिए भारतेन्दु ने प्रथम समीक्षा कृति "नाटक" लिखा । भारतेन्दु एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार अभिनेता प्रेरक एवं आधुनिकता के चिन्तक थे । अपनी इस समीक्षा द्वारा "दृश्यकाव्य" का अनुशासन निर्मित कर उन्होंने रचयिता एवं प्रेक्षक को सहभागिता का प्रश्न साहित्य के लिए प्रस्तुत किया । द्विवेदी युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सम्पादकीय प्रतिभा ने "हिन्दी समीक्षा" को पुरातनपंथी बनाया । जिसके परिणामस्वरूप ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली कविता की भाषा रूप में मान्य हुई । "कविता की भाषा कैसी होनी चाहिए" से बड़ी समस्या रीतिकालीन श्रृंगारिकता के विपरीत तत्कालीन समाज के अनुरूप आदर्श चरित्र, आदर्श विषय वस्तु तथा प्रवहमान भाव रचनाओं में देखी गयी । "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" से प्रेरित होकर "भारत-भारती" के रचयिता द्वारा "साकेत" की सर्जना तथा रीतिकालीन कवियों की "राधा" के स्थान पर "प्रिय-प्रवास" की "लोक सेविका राधा" का उद्भव आधुनिकता एवं राष्ट्रीयता के अनुरूप हुआ । रीतियुगीन हाव-भाव तथा श्रृंगार रस की उत्तेजक व्यंजनाओं के स्थान पर "खड़ी बोली" की तत्कालीन राष्ट्रीय परिणति ने "प्रबंधात्मक कृतियों के माध्यम से लोक रुचि का परिष्कार करते हुए "ललित" के स्थान पर "उदात्त" चरित्रों की परिकल्पना को प्रश्रय दिया । सर्जना के माध्यम से हिन्दी काव्य-समीक्षा में आगत राष्ट्रीयता, नवजागरण, नारी जागरण तथा समाजोत्थान का यह स्वर "हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी" के लिए संकेत करने लगा । रचनाकार और उसके परिवेश पर दृष्टि डालकर यदि द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की समीक्षा का आकलन किया जाय तो "साकेत" "प्रिय-प्रवास", "पंचवटी", "वैदेही वनवास", "रंग-भंग" आदि काव्य कृतियों में अंतर्निहित की

स्थिति परिलक्षित होती है । प्रिय-प्रवास की संस्कृतनिष्ठ शब्दावली, साकेत का छन्दोविधान तथा सम्पूर्ण रचना में व्याप्त श्रृंगार की विरहाकुलता कवि के पूर्व संस्कारों का परिचय कराती है । रीतियुग की तुलना भक्तिकाल के आदर्शों का अनुसन्धान राम-सीता, लक्ष्मण-उर्मिला, "कृष्ण-राधा" रूप में इन काव्यकृतियों का स्वीकृत प्रतिमान बना जिससे परवर्ती सर्जना एवं समीक्षा को नयी दिशा मिली ।

"शुक्ल-प्रेमचन्द्र-प्रसाद" युग के नाम से विख्यात समीक्षा-उपन्यास, नाटक एवं कविता का उत्तरवर्तीचरण प्रतिमानों की विकासात्मक अवस्था का परिचायक है । पं० पद्म सिंह शर्मा, लाला भगवानदीन "दीन" मिश्रबंधु आदि की काव्य दृष्टि के विपरीत "सरस्वती" के सम्पादक की प्रेरणा से "नवरत्न" का परीक्षण तथा कवियों के स्तर के अनुरूप कविता का स्तर "चिन्त्य" बना जिसकी परिणति "कविता-क्या है" में देखी जा सकती है । "काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था" का बोध द्विवेदी युग में ही पड़ा था जिसकी परिणति छायावाद-युग से पूर्व राम नरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त तथा मैथिलीशरण गुप्त की कविता में राष्ट्रीयता, स्वच्छन्दता, जन्मभूमि के प्रति अनुराग एवं मानवता के आदर्शरूप में विद्यमान है । "काव्य-सर्जना" तथा प्रतिमान की समन्वित दृष्टि द्विवेदी युग तथा छायावाद के संक्रान्तिकाल में देखी जा सकती है । इस युग की कविता का प्रतिमान मानवीय आदर्श, जन्मभूमि के प्रति अनुराग, समर्पण तथा त्याग था । "स्वच्छन्दतावाद" का आगमन समीक्षा क्षेत्र में इसी युग के साथ हुआ ।

परीक्षण, मूल्यांकन एवं आदर्श स्थापन से सम्बंधित द्विवेदी युग के प्रतिमानों की उत्तरवर्ती परम्परा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्थापित "मूल्यों" के प्रकाश में छायावाद युग की कविता उल्लेखनीय है । आचार्य शुक्ल के संस्कारी नैतिकतावादी समीक्षक ने कबीर के अध्यात्म एवं रहस्यवाद, सूर के विरह वर्णन तथा केशव के पांडित्य को "कविता" की सीमा से परे बताया । किन्तु तुलसी की लोकमंगल की साधनावस्था से प्रेरित भावुकता, जायसी की लोक-भूमि में विकसित श्रृंगार की मर्यादाभूमि तथा घनानन्द की प्रेम-व्यंजना की प्रशंसा की । अपने समकालीन युग छायावाद की रहस्योन्मुखता, रोमांस एवं विरह की पलायनवादी कविता को आचार्य शुक्ल ने अपने निकष पर "खरी नहीं कहा जब कि "पन्त" के प्रकृति चित्रण की सराहना के लिए साहित्य के इतिहास में उन्होंने ही उतने पृष्ठ लगाये जितने कि तुलसी के लिए । छायावाद युग की स्वच्छन्दता का उदय द्विवेदी युग में, मानते हुए तत्सम्बंधी रहस्यवाद के लिए बिम्बात्मकता शैली का प्रभाव तथा

रवीन्द्रनाथ टैगोर के बंगला साहित्य से आये दृष्टिकोण की मौलिकता को युगीन कविता के लिए संदिग्ध करार देकर उन्होंने प्रसाद की रचना "आँसू" में "फारसी कविता" को "मयखाने की टूटी प्याली लेकर रची जान पड़ती है" निर्णय दिया। "आत्मा की मुक्तावस्था"-"ज्ञानदशा" के समतुल्य हृदय की मुक्तावस्था "रस दशा" की स्थापना के लिए पारलौकिकता एवं अध्यात्म की सीमा से पृथक "मानवलोक" तथा जगत के सुख दुःखों की सीमा में "रस" की भूमि का अनुसन्धान आचार्य शुक्ल की देन है। रीति या लक्षणग्रंथों से ग्रहण किये गये शास्त्रीय प्रतिमान "रस" की परिकल्पना युग की कविता के अनुरूप करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रतिभा ज्ञान तथा अनुभव के बल पर "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" चित्रभाषा-काव्य और चित्रविधान, अप्रस्तुत विधान तथा कविता में अलंकार का योगदान मानवता की आदर्श भूमि-रामत्व" चित्रों का सौन्दर्य, नायक राम का मानवीय रूप आदि विषयों को आदर्श मानकर इनसे काव्य-प्रतिमानों का निर्धारण किया। हिन्दी साहित्य की परम्परा, इतिहास तथा समकालीन सर्जना पर सम्यक् रूप से दृष्टि रखकर आचार्य शुक्ल ने काव्य-समीक्षा के आरम्भिक किन्तु सशक्त प्रतिमान निर्दिष्ट किये जो परवर्ती समीक्षा एवं समीक्षकों के लिए विवाद के स्वर बने। भरतमुनि, दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त तथा कुन्तक के शास्त्रीय मतों का परीक्षण करते हुए उन्होंने हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र का भी श्रीगणेश किया जो "भारतेन्दु की कविता" तथा छायावाद युग की समीक्षा में देखा जाता है। छायावाद युग के गीतों को रसात्मक प्रतिमान के लिए उपयुक्त न मानकर उन्होंने प्रबंधात्मक रचनाओं को श्रेष्ठ कहा। अपने समकालीन युग छायावाद की तुलना में मध्यकालीन कवियों की कृतियों की सराहना की। गोस्वामी तुलसीदास उनके आदर्श कवि हैं जिनकी कविता शुक्ल जी के प्रतिमान के अनुरूप है। मानव और प्रकृति, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि रूपों में ग्रहण की गयी विषय वस्तु और उसके रूपविधान का परीक्षण और विवेचन शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि में समाहित है। भारतीय संस्कृति, मर्यादा, रीति-नीति तथा समाज की सीमा में "रसदशा" को प्रतिमान रूप में स्थापित कर युग प्रवर्तक समीक्षक ने हिन्दी की सम्पूर्ण काव्य परम्परा को अपेक्षाओं के साथ ग्रहण किया। द्विवेदी समीक्षाचार्यों के विपरीत आचार्य शुक्ल ने "रसात्मक प्रतिमान" को अध्यात्म और दर्शन से पृथक करके मनोवैज्ञानिक-लोकमांगलिक दृष्टि से व्याख्यायित और पुष्ट किया। "प्रबन्ध" पक्षधर "लोक" की स्थिति तथा समीक्षक कविता की सीमा में "जन" आकांक्षा से युक्त मानवीय दृष्टि एवं सरसता

की स्थापना उनके प्रतिमानों का आधार है जिस पर चल कर वे कविता के मूल्यांकन और परीक्षण के लिए नये प्रतिमानों का अनुसंधान करने में समर्थ हुए । डा० रामूर्ति रामूर्ति त्रिपाठी ने आचार्य शुक्ल के प्रतिमान परिष्कार के सम्बंध सूर और तुलसी की विरह व्यंजना के आधार पर किये जाने वाले निर्णय के सम्बंध में प्रश्न उठाया है कि यह समीक्षक धर्म था, अथवा युग-धर्म ? [1] डा० त्रिपाठी ने स्वयं निर्णय भी दिया है कि समीक्षक मूल संवेदना का साक्षात्कार करता है और पाठक को तथ्यों से अवगत कराता है । शुक्ल जी ने केवल इतना न कर मूल कृति की आकृति में अपनी ओर से आँख कान लगाकर उसकी प्रत्यभिज्ञा में बाधा उपस्थित की जो कि समीक्षक-धर्म से परे लोक धर्म था । उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "काव्य का सम्बंध मनोमय कोष से है, मनोवेग या भावनाओं से है अतः रसात्मक प्रतिमान को स्वीकार तो किया किन्तु शास्त्रीय युग के "रस" रूप में नहीं ।" [2] समीक्षण और मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में उनके शोधक तथा इतिहास द्रष्टा का महत्वपूर्ण सहयोग है । इसीलिए पाठ संशोधन सम्पादन, इतिहास लेखन, सिद्धान्त निरूपण तथा समीक्षा में उनकी अद्वितीय प्रतिभा का दर्शन होता है ।

छायावाद युग के कृतित्व से गृहीत प्रतिमान परम्परा में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के सिद्धान्त उल्लेखनीय है । यद्यपि छायावाद युग में समीक्षा का प्रतिमान "रस" ही रहा किन्तु आचार्य शुक्ल ने "रहस्य" और अध्यात्म से भिन्न "रस" को उभारा था आचार्य वाजपेयी ने उसे ब्रह्मानंद रस के निकट लेजाकर प्रतिमान रूप में प्रतिष्ठित किया । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, नवजागरण के विकसित चरण तथा राष्ट्रीयता के परिणाम स्वरूप द्विवेदी युगीन नारी जागरण का उत्तरवर्ती चरण कामायनी की "श्रद्धा" तथा महादेवी की विरहिणी में देखा गया । पन्त की "ग्रंथि" "माँ" महापरि प्राण" तथा निराला की "शक्ति" की पूजा का समवेत रूप छायावादी कविता की क्रीड़ा और लीला भूमि बना । सुमित्रानन्दन पन्त की "पल्लव की भूमिका" निराला द्वारा "पन्त और "पल्लव" का समीक्षात्मक-मूल्यांकन तथा प्रसाद के नाटकों द्वारा सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पात्रों का स्वच्छन्दतावादी रूप पाश्चात्य प्रभाव

1- भारतीय काव्यशास्त्र की नयी व्याख्या-डा० राममूर्ति त्रिपाठी पृ० 87

2- भारतीय काव्यशास्त्र की नयी व्याख्या-डा० राममूर्ति त्रिपाठी पृ० 96

से युक्त देखा जा सकता है । छायावादी गीतों को आचार्य शुक्ल द्वारा व्याख्यापित दृष्टि एवं रस का "वस्तुगत दृष्टि" के विपरीत "आत्माभिव्यक्ति" तथा "समरसता अवस्था" छायावाद की देन है । रस के आनन्दमय लोक को परिकल्पना तथा पन्त के प्रकृति दर्शन में अद्भुत रूपवती नारी की प्रतीकात्मक परिणति कविता की मनोविश्लेषणवादी भूमि का परिचय कराती है जिसका उद्घाटन डॉ० नगेन्द्र की काव्य समीक्षा में होता है । "अनुभूति" कल्पना "स्वच्छन्दता" पारलौकिक आनन्द तथा "विजयिनी मानवता" के लिए "शक्ति के विद्युत्कण" का समन्वय छायावादी कविता का उल्लेखनीय प्रतिमान है । शुक्ल जी द्वारा स्थापित रसात्मक प्रतिमान के विपरीत छायावाद युग में अध्यात्म तथा रहस्य से मुक्त निरपेक्ष सौन्दर्य-आनन्द को काव्य का प्रतिमान माना गया । शुक्ल जी ने आध्यात्म मूलक दार्शनिकता को रस दशा से बाहर कर दिया था किन्तु छायावादी कवि और समीक्षकों ने भारतीय साधना तथा अध्यात्म से अपने को जोड़कर कला के प्राण "रस" को अभिनव गुप्त और कालिदास की स्थापनाओं के निकट पहुँचा दिया । "आत्मोपलब्धि" "पर्यन्त विश्रान्ति" कल्पना प्रसूत सौन्दर्यानुभूति की प्रतिष्ठा तथा गीतों के माध्यम से आत्माभिव्यंजना को महत्व प्रदान किया गया । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मत का समर्थन करते हुए डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी छायावादी कविता में "शक्ति" तथा डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी उग्र राष्ट्रीयतावाद देखते हैं ।

छायावाद युग के समीक्षा प्रतिमानों में वस्तुमुखी दृष्टि के साथ-साथ अभिव्यंजना कला एवं कल्पना प्रसूत काव्य बिम्बों को स्थान दिये जाने के कारण डॉ० नगेन्द्र द्वारा व्याख्यापित पन्त की काव्यचेतना संबंधी मान्यतायें तथा महादेवी की कविता के सम्बंध में गंगा प्रसाद पाण्डेय, विश्वम्भर मानव, इलाचन्द्र जोशी की दृष्टियाँ प्रमुख हैं जिनमें छायावादी रहस्यवाद को भक्ति कालीन पारलौकिक रहस्यवाद के समतुल्य कहा गया । पं० मुकुटधर पाण्डेय ने "छायावाद-या रहस्यवाद" शीर्षक निबंध में छायावादी अनुभूति मानवीय सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब देखा । छायावाद युग के आरम्भ में इस युग के रहस्यवाद को "नवरहस्यवाद" की संज्ञा दी गयी थी ।

आलोच्य समीक्षा की विकास-यात्रा का प्रधान बिन्दु समकालीन कविता है । आलोच्य कृति के गुण दोषों के विवेचन तथा उसके सौन्दर्य का साक्षात्कार जीवन और जगत की व्यवस्था के अनुरूप होता है । जीवनानुभूतियों का साक्षात्कार काव्य में निहित वस्तुपरक तत्वों का अन्वेषण तथा कलात्मक रूप विधान का

मूल्यांकन करने के साथ ही सजग पाठक और अध्येता तैयार करना एवं उनकी संवेदना के विकास की प्रेरणा भी प्रतिमानों का लक्ष्य रहा है । समकालीन कविता के आस्वाद ग्रहण एवं मूल्यांकन के लिए स्वीकृत प्रतिमानों का उल्लेख करने से पूर्व इनका अनुशीलन यहाँ से आरम्भ किया जाय कि, क्या समकालीन कविता" और उसके प्रतिमान शाश्वत है ? समकालीनता शाश्वतादीत्तरता, "नयी" का "नयापन" अथवा काल विशेष या वाद विशेष का सम्बंध आलोच्य कविता और उसके प्रतिमानों से किस सीमा तक है ?

डॉ० नामवर सिंह ने संदर्भित कविता की समीक्षा से सम्बंधित इसी प्रश्न को उठाते हुए कहा है कि "नयी कविता" का विरोध नयेपन के आग्रह के कारण उतना नहीं लगता जितना इस कारण कि जो वाह्यतः और साधारणतः कविता नहीं लगता उसे उसके अन्तर्गत "कविता" कहा जाता है । " "जो वाह्यतः और साधारणतः कविता नहीं लगता" अर्थात जो "कविता नहीं है" उसे भी कविता कहा जाता है इससे यह स्पष्ट है कि डॉ० सिंह की दृष्टि इस ओर भी है कि "कविता क्या नहीं है" । इसी मूल प्रश्न को और विस्तार देते हुए डॉ० सिंह नयी कविता के भाष्यकार और कवि डॉ० जगदीश गुप्त तथा डॉ० नगेन्द्र की उस समस्या को भी रेखांकित करते है जो "नयी-पुरानी" "अच्छी-बुरी" "कविता-अकविता" से संयुक्त है । इस प्रकार मूल समस्या तीन केन्द्रों पर टिकता है :-

(1) कविता क्या है ?

(2) नयी-कविता में "नया" क्या है और कविता क्या है ।

(3) नयी कविता की समीक्षा में कविता क्या नहीं है ।

श्री बी.डी.एन. साही तथा नामवर सिंह के विचारणीय प्रश्न "नयी कविता के प्रतिमान" अथवा "कविता के नये प्रतिमान" में से अपने लक्ष्य को निर्धारित करते हुए सुधी समीक्षक ने कविता के नये प्रतिमान पर विचार कर शंका तथा सही समय पर उठाये गये सही प्रश्न का समर्थन किया है । "रूप के भाव ग्रहण को फैला" "तथ्य का सहसा अर्थ से आलोकित हो जाना" "नयी कविता की रचना प्रक्रिया भीतर से बाहर की ओर" सम्बंधी बी.डी.एन. साही की स्थापनाओं का समर्थन करने से पूर्व डॉ० सिंह ने डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा दी गई "नयी कविता" की परिभाषा में से "भावात्मकता" तथा "संवेदनीयता" को अलग करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि डॉ० गुप्त की परिभाषा में "भावात्मकता" छुपा दी गई है । डॉ० गुप्त की परिभाषा है "कविता सहज आंतरिक अनुशासन से [illegible]

अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता है ।" "अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ" कविता है किन्तु सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता वाली कविता नयी कविता है । "अनुभूति" का सम्बंध "संवेदनीयता" से जुड़ता है, जो कविता का शाश्वत प्रतिमान है । नयी कविता की उससे अलग पहचान बनाने वाली अनुभूति नहीं "सह-अनुभूति" अर्थात आज के रागात्मक सम्बंधों के दबाव के कारण-अनुभूति न उत्पन्न कर, रिझाने वाली नहीं रस के विघटन की दशा में व्यक्तित्व की रक्षा करने वाली "नयी" कविता की यथेष्ट क्षमता "सह-अनुभूति" तक सीमित है । डॉ० गुप्त की अन्य स्थापनायें "सिद्ध रस का अन्त" "अर्थ की लय" डॉ० नगेन्द्र के "रस-सिद्धान्त" तथा आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी (आचार्य श्री) की काव्यदृष्टि की प्रतिक्रिया से प्रेरित और जागृत हुई है । कवि के "शब्द" सृजन की सीमा से ऊपर उठ कर "भाषा" के माध्यम से विचार प्रस्तुत करने वाले अज्ञेय "भाषा के रचनात्मक उपयोग" की समस्या से जूझने के कारण "नयी कविता के शलाका पुरुष" का दर्जा पाते हैं किन्तु उतनी जल्दी ही "तुम असमय में ही अस्त हो गये" का शाप भी सुनते है ।

"नया क्या है" ९ से सम्बंधित समस्या के समाधान रूप में ही अज्ञेय ने कहा है कि जब "शब्द" का अर्थ पुराना पड़ने लगता है "बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूटने लगता है तो "पुराने शब्दों में नया अर्थ भर कर रचनाकार उसे नयात्मक एकलता से उबारता है । "शब्द को संस्कार" देना नये कवि का लक्ष्य है । आचार्य वाजपेयी की दृष्टि में आरम्भ में नयी कविता (प्रयोगवादी कविता) में प्रयोग की अगम्भीरता, साधारणीकरण की कठिनाई, अन्धायुग की संस्कृति जो आस्था" के विपरीत "अनास्था" उत्पन्न करने वाला है । "अज्ञेय" एक साथ आचार्य वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र के प्रश्न का उत्तर "रागात्मक सम्बंधों में परिवर्तन" के माध्यम से देते हैं । "प्रेम अब भी प्रेम" तथा घृणा अब भी घृणा होने पर भी रागात्मक की नयी अवधारणा अज्ञेय की स्थापना के अनुसार "नया" पन है ।

इस प्रकार रचनाकारों एवं समीक्षकों में संवाद आरम्भ हो जाने तक (1930-43) "नया" क्या है का समाधान हो चुका था जो समीक्षा के बदलते प्रतिमानों के अनुरूप बदलता गया । मुक्तिबोध की दृष्टि में "नयी" से तात्पर्य है "दमित कमजोर शोषित वर्ग की पक्षधरता" । इसी को आधार मान कर वे नयी कविता को परिभाषित करते है-"नयी कविता वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है ।"

इस परिभाषा तथा "नयी कविता का आत्म संघर्ष" में व्यक्त दृष्टिकोण इस प्रकार है । "नयी कविता" एक काव्य प्रकार का नाम है । उस काव्य प्रकार के भीतर अनेकानेक जीवन शैलियाँ, शिल्प, रचना विधान और जीवन दृष्टियाँ हुआ करती हैं । "कविता क्या है" की तुलना में "नया क्या है" पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने आधुनिक भावबोध को "अन्याय के विरुद्ध खिलाफत की आवाज बुलन्द करना" माना है । इसी स्थापना के प्रकाश में वे "कवि कर्म" के साथ-साथ समीक्षक को भी नयी समीक्षा का आधार ग्रहण करने की सलाह देते हैं । "संघर्ष करने वाले [सर्जक] व्यक्ति को जिस क्षेत्र में जिन वास्तविकताओं के विरुद्ध मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयास करना होता है, उसे [समीक्षक को] सर्वप्रथम उन द्वन्द्वों से तदाकार होना पड़ता है जो उसके स्वयं के द्वन्द्व और आसपास के द्वन्द्व होते हैं ।"[1]

"नया क्या है" से सम्बंधित इस समस्या को "कविता क्या है" से जोड़ कर "नयी कविता" के उस तथ्य को भी देखा जा सकता है " जो वास्तुतः या साधारणतः कविता नहीं लगता" जिसके कारण नयी कविता का विरोध होने लगा है । नयी कविता में चलने वाले "शीत युद्ध" का संकेत करते हुए मुक्तिबोध ने "अभिजात्य सौन्दर्य दृष्टि" "जड़ी भूत सौन्दर्याभिरुचि" तथा "अवसरवादी सुविधा जीविता" से भी नयी कविता को अलग करना चाहा है ।

"कविता क्या नहीं है" को "कविता" मानने का आग्रह भी नये कवियों की भिन्न जीवन दृष्टियों और विभिन्न शैलियों का ही परिणाम है । सभी समीक्षक पूर्ववर्ती समीक्षकों की स्थापना के खण्डन तथा पहले से ही निर्धारित किये गये मूल्यों के अनुरूप जब समकालीन कविता की समीक्षा में प्रवृत्त होते हैं तो "उन्हें" अपने फ्रेम में फिट होने वाली अपने काट की "कविता" कविता लगती है शेष अंश पर उनकी दृष्टि नहीं जाती । यदि जाती भी है तो आक्रामक मुद्रा और नकारात्मकता के स्वर में ।

मुक्तिबोध की दृष्टि में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ "नयी कविता" को कविता से अलग करती हैं । प्रतिमान के आधार पर कविता की विवेचना एवं रचना करने का ही परिणाम है कि "नयी कविता" को विषय वस्तु, संवेदना, लय एवं शिल्प

1- नयी कविता का आत्मसंघर्ष

तथा रूप एवं अभिव्यंजना के प्रश्न प्रायः उलझे हुए हैं । छायावादोत्तर कविता और उसके प्रतिमानीकरण की चर्चा में एक और भी प्रश्न उठता है कि "नयी कविता" में "नयी" को "कविता" से अलग करके देखा समझा जा रहा है अथवा "नयी कविता" को एक ही अभिधा मान कर । यदि "नयी कविता" एक अभिधा है तो इसमें स्थित "कविता को" क्या कविता न मान कर कुछ और माना जाय ? यदि "कविता" माना जाय तो क्या "कविता" की परम्परित अभिधा तथा संस्कारी मन के निर्णय को भुला दिया जाय ? यदि नहीं तो "कविता" में व्याप्त संवेदना सुरुचि सम्पन्नता संस्कार, परम्परा, ग्राह्यता, प्रभावोत्पादकता आदि तत्व शाश्वत प्रतिमान रूप में स्वीकार किये जाने चाहिए । "नयापन" अथवा छायावा-दोत्तरता समकालीनता, तत्युगीनता, आधुनिकता तथा अद्यतनता उसकी पहचान का माध्यम है जिसका सम्बंध आलोच्य कविता के तंत्र एवं रूप से समान रूप से है । काव्य-भाषा, शब्द, ध्वनि, अर्थ एवं जीवनानुभव से युक्त मुहावरों के रूप में "अंधेरे-ओ" उजाले के भयानक द्वन्द्व की सारी व्यथा-जीकर; "सृजन" उपभाव के नक्शे बनाने" की सृजनात्मक प्रक्रिया में "हमारी जिन्दगी" की स्वयं प्रसूत भयानक बातें कविता में आने के पूर्व "सत्य के लिए किये गये संघर्ष" रूप में होती है तथा "सृजन प्रक्रिया" के बाद उसी निर्मिति को हम कविता कहते हैं जो कलात्मक कृति होती है । गृहीता पाठक अथवा समीक्षक के लिए यह कविता एक सम्पूर्ण कलात्मक कृति होने के साथ ही परिचिति, नवता एवं साक्षात्कार सम्पन्न होती है । आलोच्य कविता का वैसा सौन्दर्य शास्त्र प्रतीकों की उलझन, बिम्बों की अस्पष्टता एवं जीवन की जटिल-ता से युक्त होने पर भी सौन्दर्यशास्त्र है । अतः इसमें कृति के ग्रहण और मूल्यांकन की समस्या और उसके समाधान का होना भी आवश्यक है । नयी कविता के संप्रेषण से सम्बंधित समस्या पर विचार करते समय "रैनेवैलेक" तथा आस्टिन वारेन" की कृति "साहित्य सिद्धान्त" में "नवीनता और विस्मय" से सम्बंधित प्रकरण पर ध्यान देना आवश्यक है । साहित्यिक कृति के नयेपन को लक्षित करके "वारेन" कहते हैं कि "पिटे पिटाये मुहावरे या वाक्यों को सुनकर तत्काल प्रत्यक्षानुभूति नहीं जागृत होती। हम शब्दों को शब्दों के रूप में नहीं सुनते, न ही उनके पारस्परिक मिलन से जो निर्मित किया जाता है उसी ओर हमारा ध्यान जा पाता है । कुछ और पिटी पिटाई भाषा के प्रति हमारी अनुक्रिया एक अभ्यस्त अनुक्रिया हुआ करती है, वह या तो परिचित आदर्शों के अनुसार किया गया आचरण होता है, या होता है एक [illegible] शब्दों का और उस चीज का जिसके ये शब्द [illegible] होते हैं उनसे ज्ञान होता है जबकि इनसे बिल्कुल नये और [illegible]

किया किया जाता है ।" 1. विक्टर "श्क्लोव्स्की" के विचारों के हवाले "रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन" ने आगे कहा है कि "कविता भाषा को नया बनाती है । इसमें विलक्षणता आ जाती है ।" 2. अज्ञेय ने भी "प्रत्येक शब्द को एक विशेष अर्थ देना, या "मुलम्मा छूटे हुए पुराने शब्दों को नया संस्कार देना" सृजन प्रक्रिया का अंग माना है । अज्ञेय का "नवता" का "दूहरा प्रयोग" तथा आस्टिनवारेन से उपर्युक्त मत का आशय यह है कि पुराने पड़ने के कारण चमत्कार" तथा "शोषित" वाले शब्द का अर्थानुषंग बदल कर नये संदर्भ में नये प्रयोग द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपत्ति को जाती है वह प्रयोग सर्जनागत मौलिकता है ।

"नयी कविता" या छायावादोत्तर कविता यदि मात्र "नवता" के अर्थ में व्यवहृत होती है तो प्रत्येक नयी धारा की कविता में तथा प्रत्येक कवि की कृति में पूर्व कृतियों की तुलना में नवीनता होती है । द्विवेदी युग में छायावाद को "नयी कविता" कहा जाता था, छायावाद युग में प्रगतिवादी कविता को "नयी" कहा जाता रहा तथा प्रयोगवादी काव्यान्दोलन से जुड़े रचनाकार अपनी कविता केप्रयोग के गुणों के कारण"नयी" कहते रहे । स्वच्छन्दतावादी काव्यन्दोलन से जुड़ने वाला "रेनेसॉं" या "पल्लव की भूमिका" में पन्त द्वारा नयेपन की नवता की विवेचना भी भाषा की नवीनता से सम्बंधित है । डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी नयी कविता को"गैर रोमान्टिकता" को इसका प्रतिमान कहा है । डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी "नवीनता" को गुणता की निर्व्याज प्रत्यक्षानुभूति मानते हैं । साहित्य शास्त्र के परम्परित मानक के अनुसार "नवता" क्षण-क्षण की रमणीयता की एक अनुभूति है । रीतिकालीन आचार्य मतिराम की "निकाई" से अभिप्राय है स्वगत सौन्दर्य जो बार-बार देखे जाने पर भी नयापन का आभास देता है । डॉ० त्रिपाठी "नवता" का परम्परित अर्थ ग्रहण करने के साथ ही नयी कविता की नवीनता को नये सौन्दर्यानुभव के रूप में ग्रहण करने के पक्ष में है । डॉ० राम विलास शर्मा डॉ० नामवर सिंह, पी.डी.एम. साही तथा अन्य समीक्षकों द्वारा व्याख्यायित प्रयोगवादी नवीनता को छायावाद का अगला कदम मानते हैं । "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है तो नयी कविता सूक्ष्म के प्रति अति

1- साहित्य सिद्धान्त - "रेनेवेलेक-आस्टिन वारेन" [हिन्दी अनुवाद]

[लोक भारती - पृ० 320]

2- वही " " " " " "

सुरुचि का विद्रोह है । जब कि "नयी कविता" के पक्षधर अपनी अभिव्यक्ति को नितान्त "नयी" कहते हैं ।

"गुणता का निरवधि प्रत्यक्षानुभूति", काव्य रमणीयता का सौन्दर्य परक आनन्द तथा पिटी पिटाई लकीर के विपरीत नया—"वक्रोक्ति" से युक्त शब्दार्थ युक्त रचना को अलंकारवादी पहले ही कविता कह चुके हैं ।" अलंकारवादी भामह, दण्डी आदि वक्रताभिधेयता को कविता कहते हैं जब कि आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को कविता का प्राण कहा है । "रसात्मक शब्दों या अलंकृति की बाह्य नवीनता ही कुन्तक की दृष्टि में कविता नहीं होती । उसमें शब्द और अर्थ से युक्त नयी भाषा की प्रयोगशीलता उक्ति वैचित्र्य, वाक् विदग्धता आदि तत्व भी समाहित रहते हैं । नयी कविता की "नवता" भी व्यापक अर्थ में नयी काव्य भाषा नयी शैली एवं अभिव्यंजना, नया वस्तु विधान तथा नये जीवन मूल्यों से युक्त होती है । इस प्रकार "नया क्या है" और "कविता क्या है" सम्बंधी समस्या सापेक्ष दृष्टि से विचारणीय है । सुमित्रानन्दन पन्त ने इसी संदर्भ में "नव दृष्टि" का संकेत किया है । "झर गये छन्द के बंध प्रास के रजत पाश" की नव संवेदना तथा "आज असुन्दर लगते सुन्दर" की पृष्ठभूमि प्रगतिवाद से निर्मित की है । "असुन्दर" के सुन्दर लगने की सापेक्ष दृष्टि एक प्रतिबद्ध मानसिकता का परिणाम है । पन्त की "नव दृष्टि" तथा मुक्तिबोध की "विश्व दृष्टि" में "प्रगति" और "प्रयोग" की सम्भावनाओं के होने पर भी दोनों रचनाकारों की संवेदनानुभूति भिन्न है । "उक्ति वैचित्र्य, कथन की भंगिमा, अभिव्यक्ति की ईमानदारी, विसंगति और विडम्बना, व्यंग्यात्मकता, काव्य भाषा की गैर रोमान्टिक मुद्रा, वाचाल अभिव्यक्ति को त्याग कर ध्यान-प्रामाणिक अनुभूति को कविता का माध्यम बनाना, जीवन संघर्षों से जुड़ने के लिए किये गये सार्थक प्रयोग छायावादोत्तर हिन्दी कविता के प्रमुख लक्षण है । उपर्युक्त लक्षण एवं प्रतिमानीकरण से यह कहा जा सकता है कि "छायावादोत्तर कविता पूर्व कविता से वस्तु, संवेदना, शिल्प एवं अभिव्यंजना की दृष्टि से भिन्न है । बाह्य के प्रति अधिक सचेष्टता मध्यवर्गीय जीवन के अभावों की प्रतिबद्धता एवं यथार्थता से इसमें संवेदनात्मक प्रतिक्रिया देखी जाती है । पूर्व कविता में रसात्मक स्थिति आनन्द की साधना से प्रेरित हुआ करती थी किन्तु छायावादोत्तर कविता में "रस" जीवन के तीखे कडुवे अनुभवों का मानसिक रस होने के कारण वस्तुपरक है । "आनन्द" तथा "सिद्धि" को आलोच्य युग में नये अर्थ में ग्रहण किये जाने लगे है । अज्ञेय, सुमन, निराला तथा नागार्जुन से मुक्ति पाकर औसत आदमी का जीवन बोध ही रचनाकार

का लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए वह संघर्षमयी साधना करता है।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की समीक्षा प्रक्रिया इतनी सशक्त एवं जीवनानुभवों से युक्त है कि जो समीक्षारूप में रचा गया उसमें से अधिकांश समीक्षा से परे मान लेने पर भी जो शेष बचता है वह प्रतिमान निर्धारण का अनुशीलन करने के लिए पर्याप्त है। आलोच्य कविता के प्रतिमानीकरण का प्रश्न पर्याप्त वैविध्य एवं वाद-वादिता से युक्त तथा मत मतान्तरों पर आधारित है। प्रतिमानीकरण की यह प्रक्रिया के तीन प्रमुख स्रोतों से जानी जाती है।

(1) रचनाकार द्वारा कृति की भूमिका अथवा परिचयात्मक टिप्पणी या उसके समर्थन में लिखे गये परिचयात्मक लेख।

(2) समीक्षकों एवं आचार्यों द्वारा की गयी विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक टिप्पणी।

(3) विश्व विद्यालयों एवं संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले शोध, अनुसंधान तथा साहित्य के इतिहास लेखन में आगत तथ्य।

रचनाकारों द्वारा प्रगतिवाद युग के आरम्भ से ही अपने समकालीन रचना संदर्भ एवं दृष्टि की व्याख्या एवं विवेचना में जो मत व्यक्त किये गये उसमें मुंशी प्रेम चन्द्र का प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम सम्मेलन (1936 ई0) में दिया गया अध्यक्षीय भाषण प्रमुख है। इसके अतिरिक्त द्वितीय एवं तृतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलनों के कारण जो वातावरण निर्मित हुआ "हंस" "वातन्ती" "सुधा" "सरस्वती" हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवं नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिकाओं से उसको पृष्ठ भूमि बनी। इसी के साथ श्री शिवदान सिंह चौहान, डॉ0 राम विलास शर्मा, डॉ0 रांगेय राघव डॉ0 नगेन्द्र आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा प्रगतिशीलता के साथ-साथ प्रतिबद्धता, पक्षधरता मार्क्सवाद-यथार्थवाद यथार्थोन्मुख आदर्शवाद से सम्बंधी प्रश्न काव्य-समीक्षा में उठाये जाने लगे।[1] छायावादी कविता का काल बीत जाने पर भी "छायावाद" की समीक्षा का यही काल है जब आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी डॉ0 नगेन्द्र, शान्ति प्रिय द्विवेदी, विश्वम्भर मानव, इलाचन्द्र जोशी, डॉ0 धर्मवीर भारती की लेखनी समीक्षा की ओर अग्रसर हुई।

1- आलोचना - वर्ष 23 - अंक 66 - अप्रैल जून - 1974 (सम्पादकीय-नामवर सिंह)

"इस बात का निर्धारण कि कोई विशेष कृति साहित्य है या नहीं इस बात से नहीं होता कि उसके क्या तत्व है बल्कि इस बात से होता है कि इन तत्वों को किस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए रखा गया है।"[1] समीक्ष्य कविता और उसके प्रतिमानीकरण की प्रथम अनिवार्यता यही कि "छायावादोत्तर कविता" साहित्य है। इसमें संवेदना, जीवन दृष्टि, संस्कृति, दर्शन, व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा मानवतावाद वस्तु के रूप में विद्यमान है। इन तत्वों के प्रयोग का प्रयोजन है प्रेषणीयता, अनुभूति की प्रामाणिकता, समसामयिकता का बचाव तथा जीवन की गति जीवन के स्वर को अभिव्यक्ति प्रदान करके कविता को अत्याधुनिक बनाना। जहाँ तक आलोच्य कविता के बाह्य रूप-भाषायी संवेदन, शब्द-विधान शिल्प विधि तथा काव्य-भाषा का प्रश्न है निश्चय ही वस्तु के रूप में विद्यमान "नवता" के अनुरूप "काव्य रूप" की नवता से समसामयिक कविता का आकार बनता चला गया है।

छायावाद युग की गीतात्मकता, कल्पना की अतिशयता मांसल सौन्दर्य दृष्टि, रोमानियत तथा अध्यात्म के रहस्यवादी स्वरों के विपरीत जीवन संघर्ष तथा व्यापक क्षणों का सार्थक उपयोग करते हुए आज का कवि टूटते बिखरते बिम्बों उलझे प्रतीकों को कविता में स्थान देता है। समसामयिक कविता की निर्वैयक्तिक कलात्मकता, बिम्बों में बिखराव, उलझे हुए प्रतीक तथा तिरछे आड़े कटे जुड़े बिम्बों की उपस्थिति जहाँ अधूरी सतही चिन्तनों का परिचय कराती है वहीं वह कविता [illegible], आकारहीन, भटकाव का शिकार हुई है। "यथार्थवाद या वैज्ञानिक युग के काव्य में कतिपय पुराने तत्वों और शैलियों का परित्याग किया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य अपने मूलतत्वों को जिनके द्वारा वह जीवन में सम्प्रेषित होता है और प्रसार पाता है छोड़ दे। हिन्दी के नये काव्य प्रयोक्ताओं और समीक्षकों ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिये हैं", जिनसे काव्य के मूल स्वरूप पर ही आघात पहुँचता है।[2] नये काव्य प्रणेता और समीक्षकों में अज्ञेय, डॉ० जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, मुक्ति बोध प्रमुख हैं। अज्ञेय की स्थापना "कविता शब्द में होती है विचार भाषा में"।[3] "नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है"।[4] तथा केदारनाथ सिंह का यह

1- साहित्य सिद्धान्त-रेनेवेलेक आस्टिन वारेन [हिन्दी अनुवाद] - पृ० 316
2- धर्मयुग [6 अगस्त 1967]-नयी कविता:भूमिका और प्रमुख हस्ताक्षर-डा०नन्द दुलारे
3- अज्ञेय का कथन -
4- अज्ञेय का कथन -

कथन भी द्रष्टव्य है कि "नयी कविता की विशिष्टता की परीक्षा न तो चरित्र की पूर्व प्रचलित पद्धति से हो सकती है और न प्राचीन रसवाद के नियमों के आधार पर" ।[1]

समसामयिक कविता के इन्हीं तत्त्वों की पहचान तथा अभिव्यंजना प्रक्रिया को व्याख्यायित करने के लिए जो प्रतिमान निर्मित किये गये उसमें भी दो विचारधारायें विद्यमान हैं। एक यह कि प्रतिमान बाहर से-शास्त्र, कला चिन्तन, सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र से नहीं अपितु कविता के अंतर्गत विद्यमान तत्त्वों से ग्रहण किये जाते हैं। दूसरी विचारधारा यह कि प्रतिमान समाज से अर्थनीति से दर्शन, मनोविज्ञान कलाशास्त्र या इतिहास से ग्रहण किये जाते हैं। "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" तथा उसके जीवनानुभव से ही साहित्य या कविता बनती है जिनकी परख के लिए विभिन्न अनुशासनों और विधियों का सहारा लिया जाता है। आलोच्य कविता की सृजनशीलता के परिप्रेक्ष्य में मानवीय संवेदना तथा आंतरिक लय की खोज के साथ-साथ संस्कृति, दर्शन, मनोविज्ञान से प्रतिमान ग्रहण किये जाते है। "अनुभूति की प्रामाणिकता," "अभिव्यक्ति की ईमानदारी" "क्षण की अनुभूति" तथा व्यक्तिवादी चेतना से समसामयिक कविता का विशाल कैनवास बहुरूपीय तथा बहु आयामी बन गया है। अज्ञेय द्वारा व्यक्ति के अहं का समर्थन तथा मुक्तिबोध का संस्कारी मन इसी रचना प्रक्रिया से उद्भूत है। डॉ० धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० जगदीश गुप्त आदि प्रणेता और नयी कविता के पक्षधर इन्हीं प्रवृत्तियों को प्रतिमानीकरण का आधार मानते है। "ह्रासग्रस्त मानवता के दबाव से उत्पन्न ह्रासमान मूल्यों की खोज के लिए अधूरे जड़ होते "आउट डेटेड" साहित्यशास्त्र को त्याग कर "नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र" "नये प्रतिमान पुराने निकष" "नयी कविता के प्रतिमान" "नयी कविता : सीमायें सम्भावनाएँ"[2] की रचना हुई है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के शब्दों में "ये अनुभूतियाँ इतनी जटिल है कि प्राचीन मानदण्डों के आधार पर या उसकी अभिव्यक्ति अनर्गल लगेगी या फिर मूल्यांकित करने के लिए किसी नये माध्यम-मानदण्ड को अपनाना पड़ेगा"।[3] नये माध्यम की आवश्यकता नयी भाषा की सर्जना की पहचान के लिए है तथा नये मानदण्ड कविता के मूल्यांकन

1- तीसरा सप्तक-केदारनाथ सिंह - पृ० 182-183

2- "मुक्ति बोध, लक्ष्मीकान्त वर्मा, गिरिजा कुमार माथुर की समीक्षा कृतियाँ।

3- नये प्रतिमान : पुराने निकष-लक्ष्मीकान्त वर्मा 1966- पृ०4

और विवेचन के मेद होते हैं । इसी से मिलते जुलते विचार डॉ० जगदीश गुप्त तथा त्रिलोचन शास्त्री के भी हैं । इस सिद्धान्त के आधार पर नयी कविता का मूल्यांकन अपूर्ण कहा गया तथा "अलंकार" "रीति" "ध्वनि" "वक्रोक्ति" एवं "औचित्य" मतों को "हठवादिता" नाम से जाना गया । [1] डॉ० राम विलास शर्मा ने इसी लिए "नयी कविता" को कुण्ठा और अयथार्थ का साहित्य कहा है ।

आलोच्य कविता का प्रतिमान युगीन संघर्ष से उत्पन्न "संवेदनात्मक ज्ञान" तथा ज्ञानात्मक संवेदनों को स्वीकार करने के साथ ही इसमें जटिलता, तनाव, बिखराव के अतिरिक्त नयी कविता को संस्कारोन्मन को प्रतिक्रिया माना जाने लगा । समसामयिकता बोध आधुनिकता, तटस्थता, सह-अनुभूति के अतिरिक्त तंत्रगत तत्वों के अतिरिक्त बाह्य स्वाकार को विवेचना के लिए तोड़े मरोड़े कटे पिटे शब्द और पंक्तियाँ तिरछे आड़े विराम चिन्ह तथा संकेतों का भी समर्थन किया गया । परिवेश के प्रति जागरूक रहकर युगीन संघर्षों के अनुरूप पूरी विद्रूप और दिक्कतों को झेलता हुआ रचनाकार आलोच्य कविता के प्रतिमानों के अनुरूप काव्य रूपों और शैलियों का प्रयोक्ता बना । इस सम्बंध में अज्ञेय अपने समय के परिवर्तनों को प्रगतिवाद युग से जोड़ कर कहते हैं कि "इस दौर में वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष की भावना ने सामाजिक चेतना को जन्म दिया । अतः प्रगतिशील में "शील" का स्थान "वाद" ने लिया ।" [2] प्रगतिवादी कविता की इस परम्परा के अनुरूप समसामयिक कविता में भी काव्य के रूप और सौन्दर्य के अतिरिक्त मूल्यांकन के स्तर में भी परिवर्तन करके इसे "ऐतिहासिक परिणति" की अनिवार्यता कहा गया । पूर्व परम्परा को "अण्डे का छिलका" कह कर उसमें जीवन्तता का अभाव तथा शिथिल देखी गयी । [3] डॉ० राम विलास शर्मा लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा धर्मवीर भारती का इस अण्डे या "प्याज के छिलके" सम्बंधी मान्यता को इनका समर्पित कविता के लिए भी लागू करना चाहते हैं । [4] सामयिक जीवन पद्धति से उद्भूत नये प्रतिमान साहित्य सृजन के माध्यम से व्यक्त होते हैं । इन प्रतिमानों का स्थूल रूप { "मुक्ति बोध" और कमला प्रसाद" के के शब्दों में } अर्थतः समाज, राजनीति और अर्थनीति तथा आंतरिक रूप में

1- नये प्रतिमान : पुराने निकष - लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 5

2- हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य - पृ० 138

3- नये प्रतिमान : पुराने निकष {प्रथम संस्क॰} 1966 पृ० 13

4- नयी कविता - कुण्ठा और अयथार्थ का साहित्य ।

सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बनकर रचना को प्रभावित करता है ।[1]

काव्य समीक्षा के प्रतिमान बाहर से न लाये जाने पर भी जब नये समीक्षक के लिए इन अनुभूतियों एवं काव्य संवेदनों से जुड़ने की अनिवार्यता बतायी जाती है तो निश्चय ही यह प्रतिबद्धता "प्रगतिशीलता" या "पक्षधरता" का अंग बन जाती है । काव्य समीक्षा के ये प्रतिमान "शील" से "वाद" बनती कविता में मार्क्सवादी चिन्तन से ग्रहण किये गये होते है । स्वदेश और विदेश के विचारक कार्लमार्क्स, सिगमण्ड फ्रायड, एडलर, युंग, अरविन्द, गांधी तथा डॉ० राममनोहर लोहिया की दृष्टियों से समकालीन रचनाकारों औरसमीक्षकों ने बहुत कुछ ग्रहण किया है । सार्त्र, कामू, काफ्का, कीर्केगार्द आदि अस्तित्ववादी विचारक भी समकालीन सर्जना को प्रभावित किये है । साहित्य का समाज शास्त्र,"रूप और कलावाद" तथा प्रगतिवादी समीक्षा में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बाहर से ही लाया जाता है । मात्र कविता में विद्यमान प्रतिमानों के सहारे समकालीन कविता की समझ अधूरी हो सकती है जब तक कि अस्तित्ववाद" यथार्थवाद अतियथार्थवाद, रूपवाद, आदि से सहायता नहीं ली जाती । अंततोगत्वा समालोचना में कहीं न कहीं मूल्यों का विचार करना ही पड़ता है । ये मूल्य चाहे कविता में संकेतित हों अथवा समालोचक द्वारा जीवन संदर्भों से ग्रहण किये गये हों किन्तु इनके आधार पर ही काव्य की प्रेषणीयता का निर्णय किया जाता है । बिना प्रेषणीय बने कविता निष्प्रयोजन होकर मात्र प्रयोग रह जाती है ।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता की विषय वस्तु में आगत यथार्थवाद का समर्थन करते हुए आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी कहते है कि – "यथार्थवाद का अर्थ नीरस या निष्प्रेषणीय कविता की सृष्टि नहीं है । उसका अर्थ इतना ही है कि वस्तु चित्रण में तथा शैली के सम्बंध में नवीन वैज्ञानिक तत्वों को स्थान देना और काव्य को युगीन स्थितियों प्रश्नों और चेतनाओं के अधिक से अधिक समीप पहुँचाना।" यदि यथार्थवाद का अर्थ इससे अधिक किया जाये तो कविता का स्वरूप और उसके प्रभावक सौन्दर्यपिकरण खतरे में पड़ जायेंगे और नयी कविता स्वतः लोकप्रियता से दूर पहुँच जायेगी ।[2] "वस्तु चित्रण में तथा शैली के सम्बंध में नवीन वैज्ञानिक

1– छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि –डॉ० कमला प्रसाद पाण्डेय – पृष्ठ सं० 229 संस्करण 1973

2– कल्पना [अगस्त 1967] नयी कविता–भूमिका और प्रमुख हस्ताक्षर–नन्द दुलारे वाजपेयी पृ० 18–19

तथ्यों को स्थान देने की क्रिया आवेग त्वरित काल यात्रा में नये रचनाकार ने इतने प्रयोग कर डाले है कि नयी कविता का स्वरूप विद्रूप होने के साथ साथ क्रमागत सौन्दर्य बोध भी खतरे में पड़ा है । जिस आशंका से आचार्य वाजपेयी ने आगाह किया था उससे शिक्षा न ग्रहण कर नये रचनाकारों ने अपने प्रयोगों को समय की अनिवार्यता बताया । डॉ० जगदीश गुप्त ने "आचार्य श्री की कृपादृष्टि" शीर्षक का व्यंगात्मक मुद्रा में "नयी कविता को सारे उन्होंने सारे आरोपों से बरी कर दिया । "सिद्धरस का अन्त" लिख कर "रस सिद्धान्त की मान्यता का ही खंडन नहीं किया अपितु डॉ० नगेन्द्र के तर्क को भी अतीतोन्मुखी कहा । अज्ञेय ने पहले ही कहा था कि नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है जब कि रस की दृष्टि अतीतोन्मुखी रहती है ।" [1] इस सूत्र को व्याख्यायित करने के लिए डॉ० जगदीश गुप्त ने "नयी कविता में रस और बौद्धिकता पर विचार करते हुए कहा कि - "बीसवीं सदी के मनुष्य की मनः स्थिति, जीवन के प्रति दृष्टि में परिवर्तन आ जाने के कारण इतनी दूर तक बदल चुकी है कि वह अपने रागात्मक सम्बंधों को न तो "विलासपरक करके संतुष्ट हो पता है, न किसी देवता के चरणों में आत्म समर्पण करके मुक्ति लाभ कर पता है । एक गहरा असन्तोष, सहज अनास्था और प्रश्नाकुलता उसके हृदय में व्याप्त हो गया है जिसके कारण विश्वास ठहर नहीं पाते । बुद्धि और तर्क उन्हें टिकने नहीं देते ।" [2] गहरा असन्तोष अनास्था तथा "प्रश्नाकुलता की यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की होने के कारण नयी कृतियों में भौतिकता की जड़ उपासना से रचनाकार की चेतना का विद्रोह प्रकट होता है । इसीलिए नये रचनाकार को आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता, और अखण्ड अनाहत आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती "। व्यक्ति और विवेक के परिहार का रसानुभूति से भी वह चुक रहकर सह-अनुभूति" तक पहुँचता है । डॉ० जगदीश गुप्त की इस स्थापना में अनुभूति के दो स्तर बताये गये हैं । एक स्तर "रसानुभूति" का है जो आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता का बोध कराने के साथ आनन्द की अनुभूति कराता है ।"नयी कविता अनुभूति की दूसरी प्रक्रिया में सह-अनुभूति से युक्त होती है । वह भी रचनाकार की जो व्यक्ति की मनोदशा से कम युग की मनोदशा से अधिक आक्रान्त है । "अनुभूति"

1- दूसरा सप्तक [भूमिका] - अज्ञेय

2- नयी कविता स्वरूप और समस्यायें - डॉ० जगदीश गुप्त संस्करण 1971 पृ० 82-83

"रसानुभूति" तथा "सह-अनुभूति" की सीमा रेखा खींचकर डॉ० गुप्त ने यह व्यवस्था दी है कि "रसानुभूति में व्यक्ति और विवेक का परिहार होने से आनन्दमयी स्थिति होती है किन्तु सह-अनुभूति में व्यक्तित्व की रक्षा होती रहती है । यह व्यक्तित्व की रक्षा मानवीयता के विचार से विवेक संगत है । नयी कविता की अनुभूति अनुभूति से भिन्न निरानन्दमयी होती है क्योंकि इस कविता में आकर्षण नहीं विकर्षण है । "व्यंग्य करना" "झकझोर देना" ध्यान में डूबे हुए को टोक देना और कुछ सोचने के लिए मजबूर कर देना, रिझाना नहीं खिझाना जिसका उद्देश्य हो । जो जीवन के भयानक तथ्यों का संकेत करता हो वह कविता क्या पाठक में भी सह-अनुभूति उत्पन्न कर पाती है ? एक निरानन्दमयी अनुभूति-"सह-अनुभूति । दूसरी आनन्दमयी अनुभूति-रसानुभूति है । किन्तु जब दोनों स्थितियों में "अनुभूति" का होना आवश्यक है, तो किस मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार डॉ० गुप्त "अनुभूति" को मूल संवेदना से सह-अनुभूति को अलग करते है । इस संदर्भ में अज्ञेय की कविता "नदी के द्वीप" का[1] स्मरण होना स्वाभाविक है । "हम नदी के द्वीप है/धारा नहीं है" वह हमें आकार देती है /हमारी गोलाइयाँ सैकत कूल अंतरीप सब उसी की देन है/ ....बहना रेत होना है / बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं/" किन्तु विपरीत अवस्था में स्रोतस्विनी कीर्तिनाशा कर्मनाशा कालप्रवाहिनी बन कर यदि हमें बहाती भी है तो उसे पुनः आकार देने की कामना कवि की समर्पण भावना का परिचायक है । जो अन्ततः उन सच्चाइयों का हो जाता है जिसके लिये दे दिया जाता है।"[2] डॉ० गुप्त कहते है कि व्यक्तित्व की रक्षा "सह-अनुभूति" है किन्तु यहाँ "नदी के द्वीप" में व्यक्तित्व की रक्षा-हेतु होने से अपने की चिन्ता कवि की अस्मिता के प्रति सजग होने का परिचायक है । "आकर्षण नहीं विकर्षण" और टटोलना जिसका उद्देश्य है, "ध्यान में डूबे हुए को झकझोर कर सोचने के लिए मजबूर करने वाली उस कविता की निरानन्दमयी एकान्तिक अनुभूति जब तक "मन" से ममेतर नहीं होती तब तक वह अनुभूति नहीं होती पहले जब आकर्षण हो तब विकर्षण, व्यंग्यमयी पुनरुत्पादकता भी विशेष मुद्रा में ही सम्भव होती है । ध्यान में डूबे हुए को झकझोर देना टोक देना, सोचने के लिए मजबूर कर देना, चौंका देना सम्भव है जो मन की अनुभूति तो हो सकती है किन्तु इससे काव्यानुभूति संभव नहीं हो पाती । "कविता मात्र

1- नदी के द्वीप - अज्ञेय

2- असाध्य वीणा - अज्ञेय

भावना नहीं है इसका समर्थन आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने भी किया है । बुद्धि का सहयोग – या बौद्धिक चेतना का निषेध भी डॉ० नगेन्द्र, आचार्य वाजपेयी तथा डॉ० राम विलास शर्मा नहीं करते । " इस यात्रा के लिए निकलती है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर जब कि डॉ० गुप्त या अज्ञेय अनुभूति का अस्तित्व नयी कविता के लिए स्वीकार करते है ।

"रस का मूल आधार अनुभूति-शुद्ध मानवीय अनुभूति डॉ० नगेन्द्र को भी स्वीकार्य है । नयी कवितावादियों का भापुरा बल अनुभूति पर है । "एकान्तमयी" तथा सुख दुःखमयी आनन्द की वर्जना नयी कविता में भी नहीं है, xxx केवल अनिवार्यता का विरोध नयी कविता के पक्षधर आलोचक करते है ।"1. सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या प्रत्येक कलात्मक अनुभूति-तीव्र से तीव्र द्वन्द्व भी कलात्मक अनुभूति भी समन्वित अर्थात् अद्वन्द्वमयी ही हो सकती है । डॉ० नगेन्द्र का बलपूर्वक यह कहना कि द्वन्द्व प्रक्रिया-रचना प्रक्रिया में हो सकती है कविता की परिणति में नहीं । सर्जक के मन का द्वन्द्व सच्चाई, ईमानदारी, अनुभूति की प्रामाणिकता में होना स्वाभाविक है किन्तु अभिव्यंजना के स्तर पर यदि द्वन्द्वमयी -स्थिति बनी रही जाती है तो अनुभूति और अभिव्यक्ति में अंतर कैसे किया जायेगा । "अनुभूति और अभिव्यक्ति बौद्धिकता तथा रसात्मकता, द्वन्द्व और अद्वन्द्वमयी स्थितियाँ सर्जना की परिणति में घुल मिल जाती है । कविता हो जाने पर विचार और भाव एकमेक हो जाता है । "कोशिश करो" "कोशिश करो" की मुक्तिबोध की स्वीकृति या अज्ञेय की असाध्य वीणा के केश कम्बली का वीणा का हो जाना इसी अवस्था का परिचायक है । कवि व्यक्तित्व की रक्षा से कविता की रक्षा महत्वपूर्ण है । श्री रघुवीर सहाय जब सभी सेनाओं से हर मोर्चे पर लड़ने का साहस दिखाते किन्तु अपने अर्थात भाषा के मोर्चे पर जुझने तक का संकल्प लेते है तो "व्यक्तित्व की रक्षा" कहा रह जाती है ।

डॉ० राम विलास शर्मा ने नयी कविता की बौद्धिक चेतना को लक्ष्य करके कहा है कि "इसका दोष यह है कि वह विचारों को इन्द्रिय बोध से संयुक्त करने भावना से अनुप्राणित करने, मार्मिक और प्रभावशाली बनाने के बदले उन्हें कथन मात्र रहने देती है । नया कवि सोच सोच कर प्रायः दूसरों की रचनायें पढ़कर विचार नहीं लाता, वह भावों को भी सोचता है और इस सोच विचार में कविता का रस अन्तर्धान हो

1- रस सिद्धान्त – डॉ० नगेन्द्र – संस्करण 1980 – पृ०सं० 344

जाता है।"[1] डॉ० शर्मा की दृष्टि में नयी कविता का कथ्य मात्र कथन रह जाता है । ये विचार इन्द्रिय बोध से संयुक्त नहीं हो पाते, अपनी भावना से व्यापन नया कवि पाठक को अनुप्राणित नहीं कर पाता । बौद्धिकता की अतिशयता कविता को कविता नहीं "विचार" "कथन" बाजारू अभिव्यक्ति या अखबार का बयान बना देती है । "नया कविता" के पक्षधर रचनाकार और समीक्षक अपनी इस कमी से भली भाँति अवगत भी हैं" किन्तु एक "पैटर्न्ड" - पिटे पिटाये मार्ग का परित्याग न करना उनकी मानसिकता है । जिससे वे मुक्त नहीं हो पाते । कविता चाहे छायावाद युग के पूर्व की हो अथवा छायावादोत्तर काल की किन्तु न तो केवल विचार या बौद्धिकता कविता हो सकती है और न केवल रसानुभूति या विशुद्ध काव्यानुभूति ही । कविता को कविता होना चाहिए । उसमें उन सभी तत्वों का होना आवश्यक है जो कविता के शाश्वत तत्व हैं । न तो कविता का कथ्य या चरित्र ही सब कुछ है और न ही आंतरिक तत्वों का कलात्मक अभिव्यंजन ही कविता है, वह तो इन तत्वों का उचित समन्वय की तथा कलात्मक अभिव्यंजना हुआ करती है ।

समीक्षा प्रतिमान : उपलब्धि, सीमा एवं सम्भावनायें

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समीक्षा प्रतिमानों की क्रिया प्रतिक्रिया और अन्तर्यात्रा पर विचार करने के उपरान्त काव्य सर्जना के क्षेत्र में इनकी उपलब्धि और सम्भावनाओं पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित है । शोध प्रबंध के विविध अध्यायों में आलोच्य विधा की समस्याओं के विश्लेषण एवं निराकरण के क्रम में एकाधिक बार यह स्वीकार किया गया है कि समीक्षा प्रतिमान कृति का अनुशासन विनियमन एवं विश्लेषण करते हैं । कृति की गुत्थियों को सुलझाने में ये प्रतिमान पाठक ग्रहीता और समीक्षक के लिए सार्थक द्वार खोलने के साथ साथ कृति की सम्भाव्य अन्तर्यात्रा में सहयात्री बनाने में सहायक होते हैं । काव्य कृति की सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का अन्वेषण एवं परीक्षण इन्हीं प्रतिमानों द्वारा होता है । मूल्यों अथवा प्रतिमानों और संस्कृतियों का गहरा सम्बंध होता है निश्चित प्रतिमानों पर आधारित सर्वतोमुखी रचनाशील प्रगति ही तो संस्कृति है - पर इस सम्बंध में भी यह बात निहित है कि नये प्रतिमान सहसा नहीं बन जाते, वे एक सांस्कृतिक परम्परा मांगते है ।" 1. सांस्कृतिक परम्परा और प्रगतिशीलता का सृजनशील उपयोग करने में प्रतिमानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । कवि के अंतःकरण में स्थित संवेदना तथा दृष्टि विकास का संघर्ष स्वाकार ग्रहण कर रचना बनाता है जिसके आंतरिक एवं वाह्य सौन्दर्य का ग्रहण, मूल्यांकन एवं परीक्षण प्रतिमानों द्वारा होता है ।

"सृजनशीलता ही साहित्य की इतिहास निर्मात्री शक्ति है । इस सर्जनशीलता की पहचान इतिहास के संदर्भ में होती है।" 2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इस स्थापना के अनुसार प्रतिमान सृजनशीलता के वाहक प्रगतिशीलता के प्रेरक तथा इतिहास के नियामक होते हैं । संस्कृतिबोध एवं इतिहास की अन्तर्यात्रा में सर्जक मन की क्रिया-प्रतिक्रिया ऐसे अनेक विचारों से भी सहायता लेती है जो साहित्येतर होकर भी साहित्य के हो जाते हैं । साहित्यिक कृति के मूल्यांकन की

1- कवि दृष्टि - अज्ञेय - संस्करण 1983 - पृ0 23

2- दूसरी परम्परा की खोज में - डॉ0 नामवर सिंह द्वारा उद्धृत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत ।

कसौटी होने के कारण प्रतिमानों का सम्बंध आधुनिकता, प्रगतिशीलता, समसामयिकता एवं जीवन मूल्यों से होता है । कृतिकार की वैचारिक दृष्टि एवं कला मूल्यों का सम्बंध सांस्कृतिक प्रतिमानों से होता है । इसीलिए मूल्य संक्रमण अथवा कृति की सीमा के अतिक्रमण की स्थिति में ये मूल्य ही दिशा निर्देशन करते हैं तथा कविता के मूल्यांकन की दशा-दिशा और सम्भावनाओं के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं ।

देश काल एवं परिस्थितियों के सांस्कृतिक दबाव तथा चिन्तन प्रक्रिया में प्रगति के परिणामस्वरूप जब रचनाकार की वैचारिक दृष्टि "परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्मसम्भवा की खोज में लगती है या "बायें से दायें" अथवा "दायें से बायें" चलने वाले "अन्धायुग" के प्रतिहारी को दिशा निरर्थक और उद्देश्यहीन लगता है तब समय से परे होती हुई कालांकित कविता की गति स्थिति और प्रगति का आकलन प्रतिमानों द्वारा होता है । डॉ० बच्चन सिंह ने कृति में स्थित प्रतिमानों की तुलना मिथक से की है जब कि मिथक का आधार लोक विश्वास एवं पौराणिक कथायें होता है और प्रतिमान प्रत्यक्ष हुआ करते हैं ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" निबन्ध में कहा है कि जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है " [1] यदि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है तो मनुष्य के समान साहित्य भी स्थिर नहीं गतिशील है । साहित्य का कार्य है मनुष्य की दुर्गति हीनता और परमुखापेक्षिता से उबार कर उसकी आत्मा को तेजोदीप्त बनाना । इसी प्रकार प्रतिमान का कार्य है साहित्य को दुर्गति से बचाना और उसे तेजोदीप्त करना मनुष्य की गतिशीलता, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान तथा प्रगतिशीलता पर निर्भर है तथा साहित्य की परिवर्तनशीलता का सम्बंध मनुष्य की गतिशीलता से है । मनुष्य की स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती, साहित्य की कोई स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती । अतः प्रतिमानों को भी कोई स्थिर परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता । " ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निखरै सु निकाई की तरह साहित्य को भी जितनी बार व्याख्यायित किया जाता है उसके मूल्यों में उतना ही निखार आता है । "निकाई" की स्थिति कृति -कृतिकार एवं सहृदय सापेक्ष होती है तथा प्रतिमान भी कृति और समीक्षा सापेक्ष होते हैं ।

1- अशोक के फूल - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

गृहीता के मानसिक अवस्था तथा युगीन-संदर्भ एवं दृष्टि के अनुरूप कृति के सौन्दर्य में परिवर्तन, तथा नवता एवं आकर्षण में वृद्धि हुआ करती है – किन्तु कभी-कभी ह्रास भी । इसी प्रकार प्रतिमानों अथवा मूल्यों में भी वृद्धि ह्रास, संकोच अथवा परिवर्तन होते रहने से ही साहित्य को परिवर्तनशील कहा जाता है । "कृति" कृतिकार तथा समीक्षक का सापेक्ष दृष्टि के अनुरूप प्रतिमान न तो दूर का कौड़ी की तरह लाये जाते हैं और न ही प्रमेय की तरह सिद्ध किये जाते हैं । समकालीन हिन्दी समीक्षा में उपर्युक्त धारणा बदल सी गई है । अब प्रतिमानों को दूर की कौड़ी की तरह मतवाद या प्रमेय रूप में विदेशी मान्यता से लाया जाने लगा है तथा उसे छायावादोत्तर कविता को सापेक्ष्य दृष्टि में स्थान भी दिया जाने लगा है ।

प्रतिमानों का उद्भव न तो कोरी यांत्रिक या भौतिक क्रिया है और न ही किसी वैज्ञानिक परीक्षण के परिणाम की तरह इनका एक ही निर्णय हो सकता है । साहित्य या कविता कला होती है विज्ञान नहीं । उसमें व्यक्त दृष्टि –या विचारों का सम्बन्ध शास्त्र या "मतवाद" से जोड़ा जा सकता है । साहित्य का वस्तुगत एवं सौन्दर्यपरक मूल्यांकन किये जाने के कारण प्रतिमानों का वस्तुगत एवं वैज्ञानिक तथा सौन्दर्यात्मक रूप भी हुआ करता है । कवि द्वारा कृति की भूमिका के संकेत तथा रूपक, प्रतीक, मिथक एवं बिम्बों के अनुरूप समीक्षक तथा व्याख्याता कवि के सहचर बनकर काव्य संवेदना के भागीदार बनते हैं । आधुनिक समाज के ह्रासमान- अथवा विकासशील मूल्यों के अनुरूप समकालीन कविता के वस्तुगत मूल्य में वृद्धि किन्तु कलागत मूल्य में ह्रास हुआ है । डॉ० रामविलास शर्मा इसीलिए "समकालीन साहित्य की सर्वश्रेष्ठ सशक्त विधा उपन्यास मानते हैं न कि कविता"।[1] डॉ० शर्मा को प्रगतिशील विचारधारा के अनुरूप औपन्यासिक कृति का ही समाजशास्त्रीय मूल्य हो सकता है किन्तु "नयी समीक्षा" में नये प्रतिमानों के अन्तर्गत जब साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या हो सकती है तो कविता की क्यों नहीं । इस स्थापना का यह अर्थ नहीं है कि कविता की समाजशास्त्रीय व्याख्या ही हो सकती है ।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को दिये गये एक साक्षात्कार में डॉ० राम विलास शर्मा ने यह स्वीकार किया है कि "रचना" [जो है वह] विषय वस्तु भावबोध के अलावा एक कला भी है । तो कला में लेखक अपनी सारी सामग्री को संगठित कैसे करके चलता है ? वह क्या ग्रहण करता है क्या छोड़ता है, उसका मूल्यांकन

1- डॉ० राम विलास शर्मा -डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा लिया गया साक्षात्कार ।

किस तरह से करता है इन सब बातों को हम देखते है । "[1] इसी साक्षात्कार में डॉ० शर्मा ने "सामन्तीय शक्तियों का विरोध" रचनाकार के व्यक्तित्व की जड़ कहा है । "क्रियेट" करने का उद्देश्य से निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष कहते हुए उन्होंने कलात्मक विकास एवं परिष्कार तथा काव्यशिल्प एवं लयात्मक सौन्दर्य का उचित समन्वय श्रेष्ठ कविता के प्रतिमान रूपमें स्वीकार किये है । कृति की कलात्मकता, क्रियेटिवटी, लयात्मक सौन्दर्य तथा सामन्तवादी शक्तियों का विरोध कविता का मूल्य है । काव्य सर्जना में विषय वस्तु, या भावबोध के अलावा कलात्मकता होने के कारण संकलित सामग्री की अभिव्यंजना भी महत्वपूर्ण होती है । "संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने सदृश लेखक का कलात्मक स्तर उसकी समझ और पहचान का सूचक एवं निर्णायक होता है । डॉ० शर्मा द्वारा संकेतित "क्रियेट" करने सम्बंधी विचार डॉ० जगदीश गुप्त की मान्यताओं के निकट तथा डॉ० नामवर सिंह द्वारा "सृजनशीलता रूप में स्वीकृत है । डॉ० धर्मवीर भारती, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, गिरिजा कुमार माथुर शमशेर बहादुर सिंह आदि ने भी विभिन्न स्थलों पर "सृजन शीलता" की उपलब्धि स्वीकार की है ।

सामन्तवाद से समझौता न करने सम्बंधी प्रतिमान प्रगतिवादी समीक्षकों द्वारा स्वीकृत है । प्रयोगवाद और "नयी कविता" के रचनाकारों द्वारा पक्षधरता, तटस्थता, प्रतिबद्धता आदि रूप में उसी का समर्थन है । समकालीन कविता में आधुनिकता की असल पहचान इन्हीं प्रतिमानों द्वारा की जाती है । अभिव्यक्ति की ईमानदारी स्पष्टबयानी, अनुभूति की जटिलता एवं तनाव तथा विसंगति और विडम्बना जैसे प्रतिमानों का प्रतिमान सामन्तीय शक्तियों से लोहा लेना है । नयी समीक्षा में "बुनावट और बनावट" के रूप में कलात्मक स्तर के सुधार की अपेक्षा की जाती है अतः गिनाये जाने वाले कविता के नये प्रतिमानों के सम्बंध में यह कथन दुहराना आवश्यक है कि "नयी कविता" के प्रतिमान नहीं अपितु कविता के नये प्रतिमान ही प्रस्तुत प्रकरण एवं शोध प्रबंध में चिन्त्य है । "कविता" को एक शाश्वत विधा के रूप में स्वीकार करने के उपरान्त ही समसामयिक प्रतिमानों का समीक्षण एवं परीक्षण विभिन्न अध्यायों में किया गया है ।

शास्त्रीय "वाद" अनुकृति एवं अलंकरण सौन्दर्य से परे काव्य की अभिव्यंजना को विषय के अनुरूप मान कर डॉ० शर्मा ठीक ही कहते हैं कि साहित्य के विवेचन में कला पक्ष- शिल्पविधि एवं अभिव्यंजना प्रणाली को छोड़ कर देखना चाहिए ।

प्रयोगवाद और, नयी कविता के पश्चात उन शर्मा के विचारों के विपरीत कलापक्ष को नकार कर संवेदना, भाव और विचारों को ही कविता का तत्व मानते हैं । छायावादोत्तर युग को प्रतिमानीकरण की इस अवधि में "नये समीक्षकों" ने न केवल रस, ध्वनि "अलंकृत" एवं वक्रोक्ति को शास्त्र मान कर इनकी उपेक्षा की है अपितु उसे "रचनात्मक "स्तर पर मात्र उस अण्डे के छिलके के समान " कहा जिसमें जीवन्त कुछ भी नहीं है । इतिहास का सारा और अण्डे का छिलका नहीं अपितु परम्परा रूप में नये रचनाकार के लिए प्रगतिशीलता का आधार बनता है । सांस्कृतिक परम्परा कला, शिल्प विधि एवं अभिव्यंजना के रूप में न तो अलंकृति एवं सौन्दर्य को नकारा जा सकता है न ही "रस" अनुभूति और संवेदना को "सपाट" बयानों को तुलना में त्याज्य कहा जा सकता है ।

इस प्रकार समकालीन कविता का प्रतिमान कला, शिल्प विधि, रूप विधान एवं अभिव्यंजना के मूल में स्थित संवेदना, भाव एवं विचारों की प्रेषणीयता है । शिल्प विधि एवं कलात्मक विधान के रूप में कविता को प्रेषणीय बना कर ये तत्व ग्रहीता के मन में उतारते हैं । उसमें भाषिक संरचना [काव्य भाषा] का भी योगदान होता है । "शब्द विधान" तथा "रीतिविधान" के रूप में स्वीकृत समकालीन कविता के इन प्रतिमानों में "ध्वनि" एवं "वक्रोक्ति" सिद्धान्तों का समन्वय है । विचार, भाव और संवेदना का कलात्मक रूप प्रेषणीय बन कर "कविता" होता है । इसलिए कविता के प्रतिमान "विचार" या "वाद" के रूप में "शास्त्र" इतिहास संस्कृति या समाज शास्त्र से ग्रहण किये जाते हैं । अभिव्यंजना या प्रेषणीयता की सीमा में इसे सौन्दर्य शास्त्र भी कह सकते हैं । हिन्दी कविता की समीक्षा में इन प्रतिमानों का उपयोग देशकाल एवं इतिहास की सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है । काल विभाजन, नामकरण, प्रवृत्ति निरूपण एवं काव्य व्यक्तित्व के आकलन के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का भी अवलोकन किया जाता है । भारतीय काव्य शास्त्र की चिन्तन परम्परा में रस को कभी वस्तुगत तो कभी कलात्मक माना जाता रहा है । अलंकार औचित्य रीति व वक्रोक्ति के स्थान पर आज की कविता में रूप विधान को प्रतिमान रूप में स्वीकार किया जाता है ।

सहायक ग्रंथ सूची (संस्कृत)

परिशिष्ट

१- अलंकार सर्वस्व - राजानक रुय्यक (१९६५- मेरठ

२- अग्निपुराण

३- अभिनव भारती- अभिनव गुप्त

४- काव्यप्रकाश- मम्मट

५- काव्यादर्श- दण्डी- व्याख्या- धर्मेन्द्रनाथ गुप्त, १९७३

६- काव्यालंकार- भामह- व्याख्या आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, १९६२

पी० नागनाथ शास्त्री-१९७०

७- काव्यालंकार सारसंग्रह- आचार्य उद्भट- सम्पा०- डा० राममूर्ति त्रिपाठी

८- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति- आचार्य वामन- सम्पा०- बेचन झा २०३३ वि०

९- काव्यालंकार सूत्रवृत्ति- डा० राममूर्ति त्रिपाठी

१०- काव्यमीमांसा- राजशेखर

११- काव्यालंकार सार संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या

१२- कुवलयानन्द- सम्पा० डा० राममूर्ति त्रिपाठी- १९६६

१३- ध्वन्यालोक- आनन्दवर्धन, सं० डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल, सं०-१९८२

१४- ध्वन्यालोक लोचन- अभिनव गुप्त

१५- नाट्यशास्त्र (भरतमुनि) सं०- रविशंकर नागर

१६- वही, सं०- डा० रघुवंश

१७- रसगंगाधर-पण्डितराज जगन्नाथ, बद्रीनाथ झा, बेचन झा(चौखम्बा) २०२० वि०

१८- वक्रोक्ति जीवितम्-कुन्तक- (सं०-आचार्य विश्वेश्वर)

१९- शृंगार प्रकाश- भोजराज, १९२६ -यतिराजा स्वामी मालकोटे

२०- सरस्वती कण्ठाभरण ,, (पी०पी०रामानुजम्

२१- साहित्य दर्पण- (आचार्य विश्वनाथ- सं०-डा० सत्यप्रकाश

(हिन्दी) समीक्षाकृतियां

२३- अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ : डा० रामलाल सिंह

२४- अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त

२५- अरस्तू का काव्यशास्त्र : डा० नगेन्द्र, डा० महेन्द्र चतुर्वेदी- १९५७

२६- अलंकारों का स्वरूप विकास : डा० ओम्प्रकाश- १९७३

२७- अनुचिन्तन : डा० विष्णुकान्त शास्त्री, १९८६

२८- अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, १९६१

२९- अशोक के फूल (निबन्ध संग्रह) हजारी प्रसाद द्विवेदी

३०- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, १९७२

३१- आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य : डा० इन्द्रनाथ मदान, १९७२

३२- अद्यतन काव्य की संस्तुति में : डा० विजेन्द्र नारायण सिंह

३३- आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां : डा० नगेन्द्र- १९६६

३४- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : डा० नामवर सिंह, १९८३

३५- आलोचक की आस्था : डा० नगेन्द्र, १९६६

३६- आलोचक और आलोचना : डा० बच्चन सिंह, १९७१

३७- आस्था के चरण : डा० नगेन्द्र, १९६८

३८- आत्मसंघर्ष की कविता और मुक्तिबोध : डा० हंसराज त्रिपाठी, १९८५

३९- आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द : डा० बच्चन सिंह, १९८३

४०- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण : डा० रामविलास शर्मा १९७७

४१- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा० उदयभानु सिंह

४२- आधुनिक हिन्दी साहित्य : अज्ञेय

४३- आधुनिक हिन्दी काव्य-शिल्प : डा० मोहन अवस्थी

४४- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : डा० रामचन्द्र तिवारी, १९८५

४५- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सं० विजयेन्द्र स्नातक-गुलाबराय

४६- इतिहास और आलोचना : डा० नामवर सिंह, १९७८

४७- इतिहास और आलोचक दृष्टि : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

४८- उर्वशी : श्री रामधारी सिंह दिनकर

७६- छायावाद : पुनर्मूल्यांकन : श्री सुमित्रानन्दन पंत
७७- छायावादोत्तर हिन्दी कविता की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : डॉ० कमलाप्रसाद, १९७२
७८- छायावाद : उत्थान पतन एवं पुनर्मूल्यांकन : डॉ० देवराज
७९- डॉ० नगेन्द्र : साधना के नये आयाम : डॉ० कुमार विमल, सम्पा०- [illegible]
८०- तंत्रालोक से यंत्रालोक तक : डॉ० नगेन्द्र- १९६८
८१- त्रिशंकु : अज्ञेय- १९७३ (बीकानेर)
८२- तारसप्तक : अज्ञेय
८३- तीसरा सप्तक : अज्ञेय
८४- देव और उनकी कविता : डॉ० नगेन्द्र, १९६६
८५- दूसरी परम्परा की खोज : डॉ० नामवर सिंह, १९८२
८६- दूसरा सप्तक : सम्पादक- अज्ञेय, १९५१
८७- ध्वनि सम्प्रदाय का विकास : डॉ० शिवनाथ पाण्डेय, १९७१
८८- नयी कविता : स्वरूप और समस्यायें : डॉ० जगदीश गुप्त, १९७१
(२७) नयी कविता : सीमायें और सम्भावनायें — गिरिजाकुमार माथुर
८९- नयी कविता और अस्तित्ववाद : डॉ० रामविलास शर्मा, १९७८
९०- नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकान्त वर्मा, सं०-२०१४ वि०
९१- नयी कविता ([illegible] अंक) सम्पादक- जगदीश गुप्त
९२- नया साहित्य : नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, १९७८
९३- नई कविता (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी)
९४- नयी कविता का परिप्रेक्ष्य : डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ([illegible])
९५- नये पत्ते : निराला- १९४६
९६- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : मुक्तिबोध-१, १९७१
९७- नये प्रतिमान: पुराने निकष : श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा- १९६६
९८- नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध : मुक्तिबोध- १९६४
९९- नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ : डॉ० नगेन्द्र
१००- नयी समीक्षा के प्रतिमान : डॉ० निर्मला जैन, १९७७
१०१- [illegible] : प्रो० उमाशंकर शुक्ल
१०२- परम्परा का मूल्यांकन : डॉ० रामविलास शर्मा, १९८१

१०३- पल्लव : सुमित्रानन्दन पंत, १९२३
१०४- प्रयोगवाद और नयी कविता : डा० शंभुनाथ सिंह
१०५- पद्मावत : मलिक मुहम्मद जायसी, सम्पा०- वासुदेवशरण अग्रवाल
१०६- प्रतीक एवं प्रतीकवादी काव्य मूल्य : डा० सी०एल० प्रभात- सं०- १९८४
१०७- प्रगतिवाद : एक समीक्षा : डा० धर्मवीर भारती- १९४९
१०८- प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल : डा० रामविलास शर्मा-१९८६
१०९- पाश्चात्य काव्यशास्त्र : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा- १९८४
११०- पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी कविता पर उसका प्रभाव : डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा
१११- प्रिय-प्रवास : हरिऔध
११२- प्रतिक्रियायें : डा० देवराज
११३- फिलहाल : अशोक वाजपेयी, सं०- १९७०
११४- बिन्दु प्रति बिन्दु : समकालीन आलोचना : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय- १९८४
११५- भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र, सं०- १९५६
११६- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : वही,-१९७६
११७- भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त : डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी
११८- भारतीय काव्यशास्त्र की नयी व्याख्या : डा० राममूर्ति त्रिपाठी- १९८०
११९- भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, १९७८
१२०- भवानी विलास : देव
१२१- भाषा-भूषण : महाराज जसवन्त सिंह
१२२- भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज : डा० राममूर्ति त्रिपाठी १९८५
१२३- भाषा और साहित्य-समीक्षा : डा० विनयमोहन शर्मा - १९७२
१२४- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी- १९८१
१२५- मध्यकालीन काव्यभाषा : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी (शोध-प्रबन्ध)
१२६- मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध : डा० रमेशकुन्तल मेघ-१९६९
१२७- मन खंजन किनके : डा० रमेश कुन्तल मेघ- १९८५
१२८- महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण : डा० रामविलास शर्मा

१२९- मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : डा० रामविलास शर्मा- १९८४
१३०- मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र (सम्यक् चिन्तन) डा० कमलाप्रसाद
डा० मैनेजर पाण्डेय- १९७७
१३१- मिश्र बन्धु विनोद (मिश्रबंधु)
१३२- मुक्ति प्रसंग : राजकमल चौधरी
१३३- माया दर्पण : ,,
१३४- मिथक उद्भव विकास तथा हिन्दी साहित्य : डा० उषापुरी विद्यावाचस्पति
१३५- युगान्त : सुमित्रानन्दन पंत- १९३६
१३६- युग्म : डा० जगदीश गुप्त , १९८१
१३७- यामा : महादेवी वर्मा
१३८- रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र १९८० नेशनल
१३९- रससिद्धान्त : नये सन्दर्भ : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी- १९७७
१४०- रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र : तुलनात्मक विश्लेषण : डा० निर्मला जैन-१९६७
१४१- रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन : डा० गणपति चन्द्र गुप्त- १९७१
१४२- रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सं०- २०११
१४३- रसविमर्श : डा० राममूर्ति त्रिपाठी- सन् १९६५
१४४- रस प्रबोध : रसलीन
१४५- रसज्ञरंजन : महावीरप्रसाद द्विवेदी
१४६- रससिद्धान्त के तत्त्वोचित पक्ष : डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी- १९७८
१४७- रसिकप्रिया : आचार्य केशवदास (केशव ग्रंथावली)
१४८- रीति काव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र- १९५४ नेशनल
१४९- रीति कालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन : डा० रामकुमार वर्मा-१९८४
१५०- रीतिकालीन कवि और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धांत :
डा० सूर्यनारायण द्विवेदी
१५१- रीतिकालीन रसशास्त्र : डा० सच्चिदानन्द चौधरी -सं०-२०२६
१५२- रीतिविज्ञान : डा० विद्यानिवास मिश्र
१५३- वाङ्मय विमर्श : आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र- २०११ वि०
१५४- विचार और अनुभूति : डा० नगेन्द्र-१९४९
१५५- विचार और वितर्क : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी- १९५४

१५६- विचार और विवेचन : डा० नगेन्द्र- १९४४

१५७- विचार और विश्लेषण : डा० नगेन्द्र-१९५५

१५८- विचार-प्रवाह : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

१५९- शैली विज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका : डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव -१९७२

१६०- सर्जना और सन्दर्भ : अज्ञेय- १९८६

१६१- समकालीन सिद्धान्त और साहित्य ? डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय-१९७६

१६२- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा में काव्यमूल्य : डा० भगवानदास तिवारी-१९८०

१६३- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : (पी०वी० काणे)
अनु०- इन्द्रचन्द्र शास्त्री-१९६६

१६४- सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१६५- सूर साहित्य : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

१६६- सूर निर्णय : डा० मुंशीराम शर्मा

१६७- समीक्षा के आयाम हैं : डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल-१९८२

१६८- संस्कृत अलंकारशास्त्र का समन्वित इतिहास : अरविन्द जोशी-१९८४

१६९- साहित्य : नया पुराना - डा० विनयमोहन शर्मा-१९७२

१७०- साहित्यशास्त्र- आचार्य बलदेव उपाध्याय

१७१- साहित्य सिद्धान्त और शोध : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित-१९७५

१७२- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : डा० रघुवंश

१७३- साहित्य समीक्षा और संस्कृतिबोध : डा० देवराज- १९७७

१७४- साहित्य का समाजशास्त्र : डा० नगेन्द्र- १९८२

१७५- साहित्य का प्रयोजन : आत्म बोध : डा० विद्यानिवास मिश्र

१७६- साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन : डा० रामविलास शर्मा -१९६८

१७७- साहित्य एवं शोध : कुछ समस्यायें : डा० देवराज उपाध्याय-१९७०

१७८- साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, सम्पा०- डा० निर्मला जैन- १९८६

१७९- साहित्य सिद्धान्त (रेन वैलेक) अनु०- (लोकभारती प्रकाशन)

१८०- सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य सिद्धान्त : डा० सुरेन्द्र बारलिंगे
आचार्य मनोहर काले

१८१- सौन्दर्यशास्त्र के तत्व : डा० कुमार विमल- १९८१
१८२- साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद : डा० बच्चन सिंह-१९८४
१८३- सुधानिधि : तोष
१८४- साकेत : मैथिलीशरण गुप्त
१८५- सुमित्रानन्दन पंत : डा० नगेन्द्र
१८६- हिन्दी अनुशीलन : डा० धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) १९६०
१८७- हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- सं०- २०४२
१८८- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी- १९७०
१८९- हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग-१,२) आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२०२२- २०२३
१९०- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा,तृतीयंक
१९१- हिन्दी रीति साहित्य : डा० भगीरथ मिश्र- १९५६
१९२- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-६) डा० नगेन्द्र-२०१५ वि०
१९३- ,, (भाग-७) डा० भगीरथ मिश्र-२०२१ वि०
१९४- हिन्दी रीतिकालीन कविता और समकालीन उर्दूकाव्य : डा० मोहन अवस्थी-
१९७८
१९५- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी- १९८६
१९६- हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी : डा० निर्मला जैन - १९७५
१९७- हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां : डा० नगेन्द्र- १९८०
१९८- हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
१९९- हिन्दी साहित्य का नवल इतिहास : डा० मोहन अवस्थी
२००- हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ : सं०- रामेश्वर लाल -१९६६